सम्पादक के संस्मरण

सम्पादक

रमादत्त शुक्ल

परामर्श-दाता

न्यायमूर्ति पण्डित शिवनाथ काटजू
ठाकुर श्रीनाथ सिंह : पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र
श्री बालकृष्ण पाण्डेय : श्री शिवकुमार दुबे
श्री मारुतिनन्दन पाठक : डा० मुश्ताक अली
श्री कामेश्वरनाथ भार्गव : श्री ऋतशील शर्मा

प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
प्रयाग—६

गुरु-पूर्णिमा २०४४

प्रकाशक :
कल्याण मन्दिर प्रकाशन,
अलोपीबाग मार्ग
प्रयाग–२११००६

© सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रथम संस्करण : गुरु-पूर्णिमा, सं० २०४४ वि०
मूल्य १२०.००

मुद्रक : जय हनुमान प्रिंटिंग प्रेस,
१-सी. बाई का बाग, इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

१. दो शब्द • सम्पादक — सात
२. धरा-संस्पर्श • श्री मारुतिनन्दन पाठक — नौ
३. सरस्वती-सेवा • डा० मुश्ताक अली — सत्रह
४. पण्डित देवीदत्त शुक्ल : एक रेखा-चित्र • 'कुल-भूषण' पं० रमादत्त शुक्ल — तिरपन
५. श्री सुकुल-देवीदत्त-वंशानुक्रमम् एवं श्री शुक्ल-जन्म-चक्रम् — तिरसठ
६. नमन स्वीकार करो • पण्डित काशीप्रसाद शुक्ल 'शास्त्री' — चौंसठ
७. मेरे साहित्य-गुरु : पण्डित देवीदत्त शुक्ल • श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी — १
८. हे स्वर्गीय सुमन • श्री नन्दकिशोर लाल 'नन्दन' — ८
९. पं० देवीदत्त शुक्ल : एक संस्मरण • पं० लल्लीप्रसाद पाण्डेय — ९
१०. सप्रेम प्रणाम • कुँअर श्री हरिश्चन्द्र वर्मा 'चातक' — ११
११. वीत-राग साहित्य-महारथी • पं० ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' — १२
१२. लहैं अमरता • पं० नर्मदेश्वर उपाध्याय — १५
१३. निष्पक्ष सम्पादक : स्वर्गीय पं० देवीदत्त शुक्ल • पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' — १६
१४. पूज्य पं० देवीदत्त जी शुक्ल : कुछ संस्मरण • श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव — १९
१५. स्व० पं० देवीदत्त शुक्ल : एक श्रद्धाञ्जलि • पं० बनारसीदास चतुर्वेदी — २१
१६. राष्ट्रभाषा हिन्दी के महान् साधक • श्री विद्याभास्कर — २३
१७. हिन्दी पत्र-कारिता के सौम्य सन्त • श्री नर्मदाप्रसाद खरे — २५
१८. चोटी के साहित्यकार एवं पत्रकार • डा० मुकुन्द देव शर्मा — २८
१९. जब भिखारी ही दानी बन गया • डा० राजनाथ पाण्डेय — २९
२०. कीर्ति अजर-अमर रहेगी • पं० लक्ष्मीकांत त्रिपाठी — ३२
२१. साधकों के लिए कल्प-तरु • पं० लक्ष्मणदत्त शास्त्री चतुर्वेदी 'याज्ञिक' — ३५
२२. पाद-पद्म में प्रणाम • श्री कुँवर रावत हिम्मत सिंह — ३६
२३. प० पू० गुरुदेव श्रद्धेय बप्पा जी • पं० शङ्करसहाय मिश्र — ३७
२४. ये मूर्तिमान प्रयाग-राज • स्वामी शाश्वतानन्द सरस्वती — ४१
२५. श्रद्धा की एक पाँखुड़ी • श्री हरकिशन झवेरी/श्रीमती अजब झवेरी — ४६
२६. शुक्ल शुक्ल-पूर्णिमा के थे पूरणचन्द • स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती — ४८
२७. पूज्यवर सुकुल जी • पं० कालीचरण पन्त — ५०
२८. स्नेही सुहृद् पं० देवीदत्त जी शुक्ल • पं० ठाकुरदत्त मिश्र — ५६

२९. सम्पादकाचार्य गुरुदेव पं० देवीदत्त शुक्ल : जिनके सिवाय मैंने किसी को न जाना, न माना • ठाकुर श्रीनाथ सिंह ६७
३०. सम्पादक की जन्म-शताब्दी • पं० अमृतलाल नागर ७९
३१. श्रद्धेय पं० देवीदत्त शुक्ल : पुण्य स्मरण • श्री महेशचन्द्र 'सरल' ८६
३२. पं० देवीदत्त शुक्ल : एक संस्मरण • पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ८७
३३. सफल सम्पादक : स्व० पं० देवीदत्त शुक्ल • श्री सुरेश सिंह ८९
३४. गुरुदेव की स्मृति • श्री ओङ्कार शरद ९२
३५. काश मैं उन्हें जान पाता • श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ९७
३६. सम्पादक प्रवर–पं० देवीदत्त शुक्ल • पं० रामऋषि शुक्ल १०३
३७. आधुनिक हिन्दी का स्वर्णिम युग • श्री ज्योतिलाल भार्गव १०५
३८. पं० देवीदत्त शुक्ल की याद में • श्री अमृत राय १०८
३९. राष्ट्रीय अस्मिता के सजग प्रहरी : पं० देवीदत्त शुक्ल • डा० भगवतीप्रसाद सिंह ११०
४०. वीत-राग साहित्यकार एवं स्वनाम-धन्य साधक • डा० वल्लभदास बिन्नानी ११३
४१. एक महान् हस्ती • श्री पी० डी० टण्डन ११९
४२. सम्पादन-कला के आचार्य और हिन्दी के सजग प्रहरी • डा० गौरीशङ्कर गुप्त १२०
४३. विलक्षण पं० देवीदत्त शुक्ल • डा० ब्रजेश्वर वर्मा १२२
४४. सम्पादकाचार्य पं० देवीदत्त शुक्ल • कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह १२५
४५. उदार-मना मनीषी पं० देवीदत्त शुक्ल • श्री भक्तदर्शन १२८
४६. निःस्वार्थ निष्ठावान् हिन्दी-सेवक शुक्ल जी • पं० रामबहोरी शुक्ल १२९
४७. तटस्थ, दृढ़ और सन्तुलित सम्पादक • श्री शमशेर बहादुर सिंह १३५
४८. पं० देवीदत्त जी : सिद्ध पुरुष • श्री परिपूर्णानन्द वर्मा १३७
४९. सशक्त समर्थ सम्पादक : अमराचार्य पं० देवीदत्त शुक्ल • पं० भगवतीप्रसाद द्विवेदी 'करुणेश' १३९
५०. निर्भीक लेखनी के धनी : पं० देवीदत्त जी • श्री निशीथकुमार राय १४३
५१. 'सरस्वती'-सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल : आलोचक के रूप में • पं० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी १४७
५२. पं० देवीदत्त शुक्ल : एक संस्मरण • पं० जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी १४९
५३. महाशक्ति के महा-पुत्र • श्री जगदीशशरण विलगइयाँ 'मधुप' १५३
५४. प्रज्ञा और पवित्रता का सङ्गम : स्व० शुक्लजी • डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री १५४
५५. 'सरस्वती'-सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल : एक अमिट स्मृति • श्री कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा १५७
५६. सिद्धान्तों के लिए कभी समझौता न करनेवाले : पं० देवीदत्त शुक्ल • श्री बलदेवप्रसाद गुप्त १६०

५७. साहित्य के तपस्वी : पं० देवीदत्त शुक्ल • डा० रामकुमार वर्मा 'पद्म-भूषण' १६२
५८. श्रद्धाञ्जलि • श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया १६५
५९. प्रेरणा-स्रोत, प्रकाश-स्तम्भ : पं० शुक्ल जी • प्रो० कल्याणमल लोढ़ा १६६
६०. शुक्ल जी के साहित्यिक अनुभव : आज भी सार्थक • डा० प्रभाकर माचवे १६९
६१. निष्ठा के प्रतीक : स्व० देवीदत्त शुक्ल • डा० गिरिजाशङ्कर त्रिवेदी १७४
६२. परम पूज्य गुरुवर : श्री शुक्ल जी महाराज • कैप्टेन शूरवीर सिंह १७६
६३. विनय-शील वामोपासक : पं० देवीदत्त शुक्ल • डा० जगदीश गुप्त १७९
६४. सम्पादक के संस्मरण • प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी १८३
६५. स्व-नाम-धन्य पण्डित देवीदत्त शुक्ल • डा० प्रेमनारायण शुक्ल १८६
६६. द्विवेदी-युग की परम्परा को विकसित करनेवाले • श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा १८९
६७. कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष : श्री शुक्लजी • पं० श्यामनारायण पाण्डेय १९२
६८. सत्व-गुण-सम्पन्न : पं० देवीदत्त जी शुक्ल • पं० मुंशीराम शर्मा १९४
६९. परमोदार तथा दयालु शुक्ल जी • डा० कृपाशङ्कर शुक्ल १९६
७०. वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो • पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी 'पद्म-भूषण' १९७
७१. शुक्ल जी की खट्टी-मीठी भाषा • डा० हरदेव बाहरी १९९
७२. सम्पादक-शिरोमणि : पण्डित देवीदत्त शुक्ल • पं० बालकृष्ण पाण्डे २०१
७३. देव-पुरुष शुक्ल जी की आस्था-निष्ठा • पं० रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' २०६
७४. नए-पुराने दोनों प्रकार के साहित्य में निष्णात : शुक्लजी • श्री त्रिलोचन शास्त्री २१३
७५. मेरे पिता : पं० देवीदत्त शुक्ल • कुमारी श्यामसुन्दरी शुक्ला २१४
७६. श्री गुरु-महिमा • श्रीमती अन्नपूर्णा काटजू २२०
७७. श्रीशुक्लजी महाराज और मेरी आत्म-कथा • न्याय-मूर्ति पं० शिवनाथ काटजू २२४
७८. पूज्य गुरुदेव : शुक्ल जी • श्री महेशचन्द्र गर्ग २३२
७९. पत्रात्मक संस्मरण २३३
८०. विद्या-मान-पत्रम् • श्रीभारत-धर्म-महा-मण्डल, काशी पन्द्रह

•

सर्मापत

जिन्होंने हमें पढ़ना-लिखना सिखाया

और

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का

पद दिलाया

दो शब्द

पूज्य श्री बप्पा (स्व० पं० देवीदत्तजी शुक्ल) की लोकोत्तर महत्ता की अनुभूति मुझे १९५६ में भगवती की कृपा से ही हुई, जिसके फल-स्वरूप उनके श्रीचरणों की सेवा करते समय मैं उनसे अकस्मात् यह प्रार्थना कर सका कि 'आप अपने सम्पादकीय जीवन की बातें लिखा दें।' पहले तो वे तैयार नहीं हुए किन्तु दैवी प्रेरणा से जब वे बातें लिखाने लगे, तो एक पोथा ही लिखकर प्रस्तुत हो गया। श्री जगदम्बा की दया से उसका प्रकाशन भी **'सम्पादक के पचीस वर्ष'** नाम से तभी अनायास हो गया। 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में उसका विज्ञापन भी छपा, किन्तु हिन्दी-जगत् उसके प्रति उदासीन ही बना रहा।

१९७१ में पूज्य श्री बप्पा ने इह-लीला का संवरण किया और एक बार मैंने पुनः हिन्दी-जगत् का ध्यान उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के प्रति आकृष्ट करने का प्रयास किया, जिसके फल-स्वरूप श्रद्धेय बख्शी जी, ठाकुर श्रीनाथ सिंह जी, लल्लीप्रसाद पाण्डेय, निर्मल जी जैसे उनके सम-कालीन अनेक साहित्यकारों ने उनके प्रति अपने संस्मरण लिखने की कृपा की किन्तु उनका प्रकाशन मैं उचित रूप में नहीं कर पाया। तथापि पिछले १६ वर्षों में यह चर्चा समय-समय पर चलती ही रही कि पूज्य श्री बप्पा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालने हेतु योजना-बद्ध रूप में कार्य करना आवश्यक है क्योंकि इससे राष्ट्र-भाषा हिन्दी और देश-हित की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों के प्रति लोगों में जागरूकता उत्पन्न होगी। अतः यह कार्य एक पवित्र कर्तव्य का रूप धारण करता गया।

संयोगवश पूज्य श्री बप्पा के जन्म-शताब्दी-वर्ष के पूर्व ही उनके कनिष्ठ पौत्र चि० व्रतशील ने उक्त कार्य का श्रीगणेश कर ही दिया। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो श्रम किया और अनेक बाधाओं का जिस प्रकार सामना किया, उसकी कथा अपना अलग महत्त्व रखती है किन्तु अनेक ऐसी उपलब्धियाँ उन्हें सहज ही सुलभ हुईं, जिससे प्रतीत हुआ कि उक्त कार्य के सम्पन्न होने का समय अब आ गया है। उदाहरण के लिए एक उपलब्धि यहाँ उल्लेखनीय है। वह है पूज्य श्री बप्पा के 'सरस्वती'-सम्पादन-कार्य के सम्बन्ध में डा० मुश्ताक अली के विद्वत्तापूर्ण शोध-कार्य की जानकारी। इस जानकारी के मिलते ही व्रतशील ने उनसे सम्पर्क किया और उन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध तथा हमारे द्वारा प्रदत्त **'सम्पादक के पचीस वर्ष'** और **'कुछ खरी-खरी'** के आधार पर पूज्य बप्पा द्वारा की गई सरस्वती-सेवा पर एक शोधात्मक निबन्ध लिख देने की कृपा की, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही पृष्ठ सत्रह पर प्रकाशित किया गया है। इस निबन्ध के मिलने से ही हमारा अभीष्ट कार्य सन्तोष-जनक रूप से सम्पन्न हो सका है। इसके लिए डा० मुश्ताक अली को हम

किन शब्दों में धन्यवाद दें ! सच तो यह है कि सारा हिन्दी-जगत् इसके लिए उनका ऋणी रहेगा ।

संस्मरणों का प्रारम्भ उन निबन्धों से किया गया है, जो हमें सन् १९७१ में पूज्य श्री बप्पा के दिवङ्गत होने पर मिले थे । इन निबन्धों के अधिकांश लेखक आज इस लोक में विद्यमान नहीं हैं किन्तु उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे उनकी महत्ता और गुण-ग्राहकता की उत्कृष्टता की सहज ही अनुभूति होती है । उनकी पुण्य स्मृति में हम यहाँ अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करते हैं ।

कुछ लेख शुक्लजी के निधनोपरांत कई समाचार-पत्रों (भारत, स्वतन्त्र भारत, आज आदि) में प्रकाशित हुए थे, उन्हें भी इस ग्रन्थ में सम्मिलित कर लिया गया है ।

पृष्ठ ५६ पर श्रद्धेय पं० ठाकुरदत्त मिश्र का लेख 'स्नेही सुहृद् पं० देवीदत्त शुक्ल' प्रकाशित हुआ है । यहीं से उन निबन्धों का सङ्कलन हुआ है, जो पिछले दो-तीन महीनों में मिले हैं । इन लेखों से पूज्य श्री बप्पा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के अनेक पक्षों पर प्रकाश पड़ता है, फिर भी उनके जीवन से सम्बन्धित एक 'रेखा-चित्र' भी पृष्ठ तिरपन पर प्रकाशित किया गया है । इस प्रकार इस ग्रन्थ को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का यथा-शक्ति प्रयास हुआ है । इस प्रयास में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं क्योंकि अल्प समय में अकेले ही सारा सम्पादन-कार्य करना पड़ा है । चाहते हुए भी पुनरुक्तियों को दूर नहीं किया गया है क्योंकि प्रत्येक संस्मरण-लेखक की अभिव्यक्ति की अपनी अलग शैली जान पड़ी । दूसरे, उन्होंने श्रम करके जो लिखा, उसे न छापना उचित नहीं प्रतीत हुआ । आशा है कि पाठक इस त्रुटि को कृपया क्षमा करेंगे ।

पुस्तक के छपते-छपते अनेक संस्मरण प्राप्त हुए । स्थानाभाव से हमें उन्हें संक्षिप्त करना पड़ा और कुछ को तो रोक ही लेना पड़ा, जिसका हमें हार्दिक खेद है । सम्बन्धित श्रद्धेय लेखकों से हम क्षमाप्रार्थी हैं । यथा-सम्भव उनके द्वारा प्रेषित सामग्री को हम शीघ्र ही **'सम्पादक की वाणी'** के माध्यम से प्रकाश में लाएँगे ।

इस ग्रन्थ में प्रकाशित संस्मरणों और निबन्धों में यथा-सम्भव विवाद-ग्रस्त बातों को न देने का प्रयत्न हुआ है । फिर भी यदि किसी बात से किन्हीं महानुभावों को ठेस पहुँचे, तो उसके लिए कृपया हमें क्षमा करेंगे क्योंकि हमारा वैसा कोई उद्देश्य नहीं है । हम तो केवल ऐतिहासिक तथ्यों को ही प्रकाश में लाने के इच्छुक हैं, जिससे हिन्दी की प्रगति का सच्चा इतिहास प्रस्तुत हो सके ।

लेखकों ने अपने संस्मरणों और लेखों में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे उनके हैं और यह आवश्यक नहीं है कि उनसे हमारी सहमति हो ।

अन्त में हम उन सभी महानुभाव बन्धुओं के प्रति हृदय से आभार प्रकट करते हैं, जिनके सहयोग और प्रोत्साहन से इस ग्रन्थ का इस रूप में प्रकाशन सम्भव हो सका ।

प्रयाग
७-७-८७

—रमादत्त शुक्ल

धरा-संस्पर्श

बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में अभूतपूर्व और सर्वथा महत्वपूर्ण काल-खण्ड है, जिसमें साहित्य देश और जीवन से जुड़कर समग्र स्वरूप और चतुर्दिक् दृष्टि के साथ अपनी पहचान बना सका। इसी काल-खण्ड में खड़ी बोली ठीक से अपने पाँवों पर खड़ी हो सकी और वह अभिव्यक्ति तथा रचना की ऐसी क्षमता प्राप्त कर सकी, जिससे दुनियाँ के किसी साहित्य के समक्ष खड़ी हो सके। उसमें विभिन्न विधाओं की समर्थ रचनाओं के साथ विचार, चिन्तन और युग की अपेक्षाओं का भी सामञ्जस्य हुआ। अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता, सुन्दरता और सामर्थ्य की दृष्टि से इस काल की बड़ी उपलब्धियाँ हैं। इस अवधि में, जितने कम समय में, हिन्दी ने विकास की जो दूरी तय की, शायद दुनियाँ के किसी और साहित्य ने नहीं की।

वैसे तो साहित्य के प्रति समर्पित कुछ व्यक्ति हर काल में होते रहे हैं किन्तु इस काल में दो ऐसे व्यक्ति हुए, जिनका ऐतिहासिक महत्व कभी क्षीण नहीं हो सकता। एक हैं **आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी** और दूसरे हैं **पण्डित देवीदत्त शुक्ल**। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी के विकास में 'सरस्वती' का कितना बड़ा योग-दान था। १६२० तक 'सरस्वती' का सम्पादन आचार्य द्विवेदी जी ने किया था और हिन्दी के लिए व्यापक दृष्टि रखकर इतना समर्थ और समर्पित सम्पादन किया था कि उस युग का नाम ही 'द्विवेदी-युग' पड़ गया। द्विवेदी जी ने जीवन-पर्यन्त 'सरस्वती' को अपना समझा और हिन्दी को सँवारने, दिशा-निर्देश तथा रचनाकारों को उभारने के लिए आवश्यक भी।

द्विवेदी जी ने ही योग्यता, सामर्थ्य और समर्पण का भाव देखकर **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** को 'सरस्वती' के लिए चुना। उनका यह चयन सर्वथा सार्थक और प्रभावी सिद्ध हुआ। १६२० में शुक्ल जी 'सरस्वती' में आ गए थे और १६४६ तक उसका सम्पादन करते रहे। वैसे आरम्भ के कुछ वर्षों तक बख्शी जी मुख्य सम्पादक थे किन्तु शुक्ल जी की योग्यता, लगन और श्रम के कारण वे पूरी तरह निश्चिन्त रहते थे। १६२५ से शुक्ल जी मुख्य सम्पादक हो गए और 'सरस्वती' का समग्र भार उन पर आ गया। उन्होंने अन्तिम क्षण तक पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया।

शुक्ल जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन १६४६ तक किया। १६४६ के बाद भी 'सरस्वती' को छोड़ने का कोई कारण न था क्योंकि उनकी सम्पादन-कला, सामर्थ्य और रचनात्मक शक्ति से सभी प्रसन्न तथा प्रभावित थे—व्यवस्थापक, साहित्यकार और पाठक भी। कारण एक ही बना, जिसके ख्याल भर से उनकी लगन, समर्पण और श्रम की अनकही कहानी विशाल फलक पर दूर-दूर तक फैल जाती है।

उन्होंने एक पूरा काम समझकर सम्पादन का कार्य किया था। एक-एक रचना को ठीक से पढ़कर निर्णय लेना तो काम था ही, वह उन्हें सँवारते भी थे। अग्रलेख

के अतिरिक्त न जाने कितने लेख, अनुवाद, रिपोर्ताज आदि नाम बदलकर उन्हें लिखने पड़ते थे। प्रूफ भी स्वयं उसी तन्मयता से देखते थे कि कहीं कोई भूल न रहने पाए। हर अङ्क में अधिक-से-अधिक उपयोगी और अच्छी सामग्री देने और उसे युग की धड़कनों से जोड़ने में वे इतना श्रम करते और तन्मय रहते थे कि अपने स्वास्थ्य का ख्याल भी भूल जाते थे। आँखों से उन्होंने इतना ज्यादा काम लिया कि १९४६ में उनकी दोनों आँखों की रोशनी पूरी तरह जवाब दे गई। व्यवस्थापकों ने निवेदन किया था, अग्रलेख और टिप्पणियां घर पर ही लिखवाकर, ऐसी स्थिति में भी, वे सम्पादन करते रहें और वे ही सम्पादक बने रहें। कुछ समय उन्होंने वैसा किया भी, किन्तु वैसा करना उचित नहीं समझा और अपनी स्नेहिल शुभ-कामना के साथ 'सरस्वती' से अलग हुए। यह घटना छोटी मालूम पड़ सकती है किन्तु कोई साधारण घटना नहीं है। इसके समग्र विश्लेषण से उनके व्यक्तित्व के अनेक ऐसे पक्षों का उद्‌घाटन हो सकता है, जो उच्चतर चेतना के अनेक गम्भीर तलों से जुड़े हैं।

आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' को जो प्रतिष्ठा दिलाई थी, शुक्ल जी ने उसे अक्षुण्ण रखते हुए उत्कर्ष पर पहुँचाया। शुक्ल जी का सम्पादन-काल ही 'सरस्वती' के उत्कर्ष का काल है और वही हिन्दी के सर्वतः विकास का भी अन्यतम काल है तथा संयोगवश, वही देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन का व्यापक और निर्णायक काल भी है।

शुक्ल जी ने लगभग सत्ताइस वर्षों तक 'सरस्वती' का सम्पादन करके सम्पादन और सम्पादक का एक अन्यतम प्रतिमान और आदर्श तो स्थापित किया ही, साथ ही, युग की जलती समस्याओं, अनसुनी अपेक्षाओं और सूक्ष्म श्राव्य धड़कनों से जुड़कर देश की और देश-वासियों की अस्मिता की बेहद चिन्ता भी की, जिसके विविध रूप अनेक आकृतियों में 'सरस्वती' में बिखरे उनके अग्र-लेखों, टिप्पणियों तथा अन्य निबन्धों में देखे जा सकते हैं। उन्हें गुलामी के शोषण के साथ देश में हो रहे अन्तः-षड्‌यन्त्रों की भी पहचान थी, तभी उन्होंने, जब कोई कल्पना भी नहीं करता था, बता दिया था कि देश के तोड़ने के बीज बोए जा चुके हैं, बहुत बुद्धिमत्ता से इसे न सँभाला गया, तो परिणति देश के दो टुकड़ों में होगी।

शुक्ल जी की केवल सम्पादकीय टिप्पणियों को ही ध्यान से देखा जाय, तो पता चलेगा कि वे युग-बोध से कितने सम्पन्न थे और युग-सन्दर्भों से कितने अधिक जुड़े थे; अपने देश की तमाम स्थितियों साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, आदि पर उनकी कितनी गहरी और यथार्थ-वादी दृष्टि थी। उनके सारे सम्पादकीय नोट उनके युग-बोध और चिन्तन को तो प्रकट करते ही हैं, उस युग के दस्तावेज भी हैं, जो आज भी उतना ही प्रकाश देते हैं। उनकी निर्भीकता और स्पष्ट-वादिता श्लाघ्य स्तर की थी। उन्होंने अपने स्पष्ट विचार अन्य बड़ी-बड़ी हस्तियों के अतिरिक्त महात्मा गान्धी के समक्ष रखने में थोड़ी भी हिचक महसूस न की थी।

१९२० से १९४६ के बीच एक-से-एक हिन्दी के कवि और लेखक उभर कर आए। उन्होंने सभी का निर्द्वन्द्व और आत्मीय ध्यान रखा था तथा 'सरस्वती' में स्थान

दिया था। उन्हें नई प्रतिभाओं की अद्भुत पहचान थी और हिन्दी की खातिर उनसे मोह भी था, तभी वह नए-से-नए कवि-लेखक को सस्नेह स्थान देते थे, उत्साहित-प्रेरित करते थे और आगे भी रचनाओं के लिए आमन्त्रित करते थे। उस युग के कुछ रचना-कार तो चले गए और अभी कुछ हैं। जो हैं, उनकी संख्या बहुत कम नहीं है, वे जानते हैं कि शुक्ल जी पहचान के साथ किसी को कितना स्नेह-सिक्त करते थे। उनके समक्ष ऐसे प्रस्ताव आते थे कि यदि वे किसी व्यक्ति विशेष को छह-आठ मास तक लगातार छाप दें, तो फिर उसकी धूम मच जाए। धूम न मचे, प्रतिभा को तो अवसर मिलेगा, रचना का परिष्कार होगा, रचना-कार को प्रेरणा मिलेगी, यह सोचकर उन्होंने कई बार वैसा किया भी था और वे आज हमारे बीच समर्थ और प्रिय कवि हैं। शुक्ल जी में सम्पादन के दायित्व के अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ था, जो हिन्दी के प्रति अनन्य निष्ठा तथा अगाध मानवीय प्रेम का संकेत करता है।

आँखों की ज्योति खो जाने और सम्पादन से अलग होने के दस वर्षों बाद १९५६ में अपने सम्पादन-काल के कुछ अनुभव उन्होंने बोलकर लिखवाए थे, वही **'सम्पादक के पच्चीस वर्ष'** नाम से उनकी पुस्तक है। यह पुस्तक बहुत रोचक और संस्मरणात्मक है तथा इसमें पठनीयता इतनी है कि आरम्भ करने पर अन्त में ही विराम की इच्छा होती है। वह पूरा युग आँखों के सामने आ जाता है, उस समय के रचनाकार करीब दिखने लगते हैं और बहुत-सी ऐसी जानकारियाँ मिलती हैं, जो भावात्मक और वस्तु-गत दोनों रूपों से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

साहित्येतिहास की दृष्टि से शुक्ल जी की यह अनूठी कृति साहित्य को एक बहुत बड़ी देन है। उनकी स्मृति सराहनीय और स्पृहणीय है कि कैसे इतने दिनों बाद इतनी घटनाओं और इतने नामों को हू-ब-हू वे याद रख पाए। अधिक आत्मीय लगाव के कारण ही ऐसा हो पाया। इस पुस्तक की विशेष चर्चा मैं इसलिए कर रहा हूँ कि उस युग के साहित्य, साहित्यकार, साहित्यिक परिवेश तथा कुछ अन्य बातों से भी इतना आत्मीय परिचय करानेवाली और एहसास से भरी संस्मरणात्मक पुस्तक शायद ही कोई होगी। इससे इन पक्षों के अतिरिक्त शुक्ल जी के व्यक्तित्व के अनेक पक्षों पर भी प्रकाश पड़ता है।

शुक्ल जी की समीक्षा की दृष्टि भी साफ थी। उनमें जिस स्तर की सादगी थी, उसी स्तर की ईमानदारी भी थी, फलतः ऐसी ही स्पष्ट-वादिता भी थी, साथ ही मर्यादा और संयम का मनोरम सन्तुलन था। हिन्दी में कहीं भी अतिरेक और ऊटपटाँग देखते, तो वे अपने को रोक नहीं पाते थे। उनकी **'कुछ खरी-खरी'** पुस्तक में सङ्कलित लेख इसके लिए सबल रूप से उपस्थित हैं। वे अपने प्राप्तव्य से भी कम पाना चाहते थे किन्तु हिन्दी के लिए सब कुछ करने को तैयार थे।

'अवध के गदर का इतिहास', **'जापान का हाल'**, **'स्वाधीनता के पुजारी'**, **'कालरात्रि'**, **'क्रान्तिकारी'**, **'बाल-कविता-माला'**, **'पकौड़ीवाली'**, **'एकादशी'**, **'द्विवेदी काव्य-माला'**, **'एक आत्म-कथा'** आदि पुस्तकों से उनकी विविध रुचि और व्यापक दृष्टि का पता चलता है। उन्होंने कहानियाँ भी लिखीं और कविताएँ भी, किन्तु उनका

कोई सङ्कलन आज तक नहीं आ सका। ऐसे उनकी कितनी ही विविध-धर्मी रचनाएँ अनछपी पड़ी हैं।

शुक्ल जी के पास आचार्य द्विवेदी से लेकर उस काल के नए साहित्यकारों के द्वारा उन्हें लिखे गए हजारों पत्र थे, जो उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग को दे दिए, वे अभी तक वहाँ सुरक्षित हैं। यदि उनका एक साथ प्रकाशन किया जाए, तो समय, साहित्य और साहित्यकारों पर बहुत कुछ नया प्रकाश पड़ सकता है।

शुक्ल जी ने कुछ साहित्यकारों पर अपने सम्पर्क और पत्राचार के आधार पर संस्मरणात्मक और समीक्षात्मक टिप्पणियाँ भी लिखी थीं, जो कहीं छपी नहीं, किन्तु आज भी उनके एकमात्र सुपुत्र पं० रमादत्त शुक्ल के पास सुरक्षित हैं। इन टिप्पणियों को शुक्ल जी ने आँखों की ज्योति रहते लिखा था क्योंकि उन्हीं की हस्त-लिपि में हैं, जिन्हें मैंने देखा है। जिन साहित्यकारों पर लिखा गया है, उनमें से कुछ नाम याद आते हैं—सर्वश्री प्रेमचन्द, बनारसीदास चतुर्वेदी, निराला, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हरिऔध, राहुल सांकृत्यायन, जैनेन्द्रकुमार, अश्क, शिवपूजन सहाय, कामताप्रसाद गुरु, मोहनलाल महतो 'वियोगी', हरिभाऊ उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, अवध उपाध्याय, सन्तराम बी० ए०, ऋषभचरण जैन, दूगड़ जी, लाला धन्नोलाल, अनूप शर्मा, हनुमान शर्मा, श्रीराम शर्मा, दुलारेलाल भार्गव आदि। यद्यपि नोट संक्षिप्त हैं, फिर भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। 'सरस्वती' से सम्पर्क रखनेवाले लगभग सभी लेखकों पर उनकी कुछ-न-कुछ टिप्पणी 'सम्पादक के पच्चीस वर्ष' में आ चुकी है।

शुक्ल जी ने जितना कुछ लिखा, उसका कुछ अंश अब तक छपा नहीं और जितना छपा, उसका पुनर्मुद्रण नहीं हो सका, इसलिए प्रायः आधुनिक जगत् उससे अपरिचित है। उनकी समग्र रचनाएँ छपें, तो न केवल उनके व्यक्तित्व, कार्य और उपलब्धियों पर प्रकाश पड़ेगा, अपितु उस युग की स्थिति, साहित्य और साहित्यकार पर भी प्रचुर अन्तरङ्ग प्रकाश पड़ेगा, जो साहित्येतिहास के लिए महत्वपूर्ण होगा।

शुक्ल जी आचार्य द्विवेदी को अपना साहित्यिक गुरु मानते थे और यह भाव उनमें सदा सघन रहा, इसलिए द्विवेदी जी पर श्रद्धाञ्जलि-स्वरूप लिखे अपने लेखों का कभी पारिश्रमिक नहीं लिया क्योंकि उसे वह अपना कर्त्तव्य मानते थे। सादे रहन-सहन और सादे लिबास के बावजूद उनका परिष्कृत और परिनिष्ठित मन सर्वथा निर्भीक, आस्थावान् और देश तथा हिन्दी से इतना जुड़ा था कि उसकी झलक उनके व्यवहारों और कार्यों में साफ दिखती है। वह सदा पैदल ही कार्यालय, नागरी-प्रचारिणी सभा या हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन गए, रिक्शा या इक्का नहीं किया क्योंकि साहित्यिक संस्थाओं के पैसे बरबाद करना नहीं चाहते थे। हिन्दी के सम्बन्ध में उनकी बड़ी स्पष्ट राय थी और उसके आड़े आने पर बड़ी-से-बड़ी हस्ती के समक्ष अपना विरोध प्रकट करने में कदापि नहीं हिचकते थे। आत्म-प्रचार से सर्वथा दूर रहकर साहित्य तथा मनुष्य से सम्बद्ध भावात्मक चिन्तन और कार्य में तन्मय रहते थे। युवा साहित्यकारों को अधिक-

से-अधिक प्रोत्साहित करते थे; पन्त, महादेवी, बच्चन, नरेन्द्र आदि सैकड़ों नाम हैं, जो उनके स्नेह और प्रोत्साहन से आप्यायित हुए हैं।

शुक्ल जी का एक विशेष पक्ष और था। वे उच्च-स्तरीय साधक भी थे, विशेषतः तन्त्र के। तन्त्र भारतीय अध्यात्म-दर्शन की अन्यतम उपलब्धि है और यह इतना सूक्ष्म, गहन तथा विस्तृत है कि अन्य साधनाओं को भी इसकी बड़ी देन है। हिन्दी-साहित्य आदि काल से ही इससे प्रभावित रहा है। यह जीवन-यथार्थ से जोड़कर मनुष्य को देखता है और साधना का वैज्ञानिक क्रम अपनाता है। कतिपय अतिचार और गलत व्याख्याओं तथा विरोधी सम्प्रदायों के निन्दात्मक प्रचार के कारण प्रायः सम्भ्रान्त समाज में इसके प्रति कुछ भ्रान्ति रही। शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में भी बहुत काम किया, अधिकारी साधक बनकर भ्रान्तियों को निराकृत करते हुए साधना और साधना-पद्धति से सम्बन्धित अनेक पुस्तकों की रचना की, जो आज भी प्रकाश देने में समर्थ हैं। **'साधक का संवाद'**, **'धर्म-मार्ग पर'**, **'विनय-सुधा'**, **'कौल कीर्तन'**, **'हिन्दुओं की पोथी'**, **'दुर्गा सप्तशती''—शब्दशः पद्यानुवाद**, **'शाक्त-धर्म क्या है'**, **'वाम-मार्ग'**, **'चक्र-पूजा'** आदि उनकी पुस्तकें अपने ढङ्ग की अनूठी हैं, जो भारत की एक बड़ी सांस्कृतिक विरासत और साधना-पद्धति और दर्शन को उजागर करती हैं।

शुक्ल जी ने शाक्त-साधना से सम्बन्धित 'चण्डी' नाम से एक पत्रिका भी १९४२ में निकालनी आरम्भ की थी, जिसे आज भी उनके पुत्र और पौत्र निकाल रहे हैं। तन्त्र-साधना की गोपनीयता के रहस्य को खोलने का जो काम उन्होंने किया, यह कोई कम साहस का काम नहीं था। यह साधना सर्वथा उच्चतर साधना है और वस्तुतः जीवन तथा जगत् से सम्पृक्त ब्रह्म-साधना है।

ऐसे साधक और मनीषी व्यक्ति के क्रिया-शील जीवन और कार्य विविध क्षेत्रों में सार्थक हैं, प्रासङ्गिकता तब भी थी, आज भी है। वे केवल इतिहास के नाम नहीं हैं, बल्कि उसमें सम्पृक्त एक अनिवार्य कड़ी हैं, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता और जो अब भी हमारी पीढ़ी और अगली पीढ़ियों के मार्ग में प्रकाश फैलाने की सामर्थ्य रखती है। उनके सम्पादक और साहित्यकार के अवदान को आकलित करने की अपेक्षा है। उनकी समग्र रचनाओं के प्रकाशन और आकलन से कई आयाम उद्‍घाटित हो सकेंगे, जिनका प्रकाश कई प्रच्छन्न किन्तु महत्व-पूर्ण तथ्यों को तो प्रकाशित करेगा ही, इतिहास के उस काल-खण्ड को भी आलोकित करेगा, साथ ही, किरणें वर्त्तमान तक भी पहुँचेंगी। वे निरपेक्ष स्वभाव और मधुर भाव से युक्त भावक व्यक्तित्व के सहज व्यक्ति थे, उन्हें भले कोई चाह न थी किन्तु इससे उनके प्राप्तव्य के प्रति भावकों का कर्त्तव्य शेष नहीं हो जाता।

मैं उनके एकमात्र सुपुत्र पं० रमादत्त शुक्ल और कनिष्ठ पौत्र श्री व्रतशील शर्मा को स्नेहिल साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने मेरे विचार को हृदय से आदर देते हुए योजना को क्रियान्वित करने के लिए कदम बढ़ाए। उनके मन में भी ऐसा था, जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी। पं० रमादत्त जी के तृतीय पुत्र श्री ॠतशील शर्मा भी धन्यवादार्ह

हैं, उन्होंने तत्काल समर्थन करके जो उत्साह बढ़ाया था, वह कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

पं० देवीदत्त शुक्ल की पूरी रचनावली कई खण्डों में छपनी है । उसके पूर्व उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि के रूप में **'सम्पादक के संस्मरण'** नाम से यह पुस्तक प्रस्तुत है । संस्मरण-लेखों का दूसरा खण्ड कुछ ही समय बाद आएगा क्योंकि एक ही खण्ड में सभी लेखों का आना सम्भव न था । जिन लेखकों ने निवेदन के उपरान्त अविलम्ब लेख भेज दिए, हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं क्योंकि उनके सहयोग के बिना इस पुस्तक की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी । हम अग्रिम रूप से उनके प्रति भी कृतज्ञ हैं, जिनका लेख अभी तक नहीं पहुँचा है । वे भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं और उनका समावेश अगले खण्ड में होगा ।

सम्भव है, इस प्रथम प्रयास में कुछ अधिक त्रुटियाँ दिखें क्योंकि बहुत शीघ्रता में यह खण्ड निकल रहा है । आशा है, शीघ्र ही रचनावली के प्रकाशन में भी हाथ लगेगा । सभी का सहयोग अपेक्षित है ।

बुद्ध पूर्णिमा सं० २०४४
१३-५-१९८७

—**मारुतिनन्दन पाठक**
संस्कृत विभाग, मगध विश्वविद्यालय
बोधगया, गया (बिहार)

•

'....शाक्त-धर्म पर प्रकाश डालनेवाले कथा-साहित्य का एक प्रकार से नितान्त अभाव ही रहा है । यदि किसी कथा-कार ने शाक्त-धर्म की चर्चा की भी है, तो उसका उपहास या विद्रूप करने के लिए ही । शाक्त-धर्म के वास्तविक स्वरूप का चित्रण करने के उद्देश्य से पहले-पहल **'साधक का सम्वाद'** प्रकाशित किया गया, जिसे जिज्ञासु पाठकों ने बहुत पसन्द किया । उससे उत्साहित होकर दूसरी पुस्तक **'धर्म-मार्ग पर'** प्रकाशित की गई ।....इन पुस्तकों से लोग यह समझ सकेंगे कि शाक्त-धर्म-विषयक कथा-साहित्य की कितनी अधिक उपयोगिता है ।....'

—'धर्म-मार्ग पर', निवेदन, पृष्ठ १-२

श्रीः

महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यति-तेजसम् ।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥

विद्या-मान-पत्रम्

श्रीयुक्त **पं० देवीदत्त शुक्ल, बी. ए., भूत-पूर्व सम्पादक 'सरस्वती', एडमिन्सटन रोड, इलाहाबाद ।**

ज्ञानस्य जननी विद्या । अविद्या-रूपं तमो यया निरस्यते सा विद्या । पारमार्थिकं च तस्या विद्यायाः स्वरूपं संस्कृतां देव-गिरं द्वारीकृत्यैव जगति प्राकाश्यत । साम्प्रतमधः पतिताया-मस्यामार्य-जातौ सद्-विद्यां पुनः प्रचार्य्याऽज्ञानोद्यम-राहित्यादि-दोष-जातं च दूरीकृत्य यावदस्यां धर्म्म-शक्तिर्न पुनराविर्भाव्यते तावदस्य जीवन-रक्षा कर्तुं न शक्यते । आदि-शिक्षितायामादि-मनन-शीलायामादि-विज्ञान-विदि जगद्-गुरुत्वेनाऽभिमतायामार्य्य-जातौ सद्-विद्यायाः पुनर्विकाशार्थं सनातन-धर्म्मस्य पुनरभ्युदय-साधन-पुरस्सरं जगत्-कल्याण-कारिण्या धर्म्म-शक्तेराविर्भावार्थं च सकल-धर्म्म-समाधर्म्मालयानां समष्टि-रूपायाः श्रीभारत-धर्म्म-महा-मण्डलाख्याया विराड्-धर्म्म-सभायाः स्थापनमभूत् ।

तत्र ये केचित् श्रीसरस्वती-देव्याः कृपास्पदी-भूता विद्वांसो विद्योन्नतौ रतास्ते सर्वेऽप्यस्याः स्व-जातीय-विराड्-धर्म्म-सभायाः प्रेम-भाजनानीति भवतः **'आगम-विद्या'**-योग्यतया प्रसन्नेयं स्व-जातीय-धर्म्म-महा-सभा सद्-विद्यायाः सम्मान-वृद्ध्यर्थं भवन्तं **'आगम-विद्या-निधि'** इति विद्योपाधि-रूपालङ्कारेणाऽलंकृत्य परमं प्रमोदमश्नुते, सर्व-ज्ञान-मयस्य सर्व्व-शक्ति-मतः परमेश्वरस्य चरण-कमलयोः स-विनयं प्रार्थयते च भवत आध्यात्मिक्युन्नतिर्भूयादिति शम् ।

श्रीकाशी-धाम्नि
श्रीभारत-धर्म-महामण्डल
प्रधान-कार्यालयः
५ तिथौ **शुक्ल**-पक्षे **माघ**-मासे २००६ वर्षे

रामावतार पाण्डेयः
बी. ए., एल-एल. बी.
प्रधानाध्यक्षः

आनरेबुल महाराजाधिराज
बहादुर मिथिलाधिपति सर
श्री कामेश्वर सिंहः
के. सी. आई. ई.,
एल-एल., डी. लिट्
प्रधान-सभापतिः
श्रीभारत-धर्म-महा-मण्डलस्य

सम्पादक-शिरोमणि

परम पूज्य पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल

पण्डित देवीदत्त शुक्ल और उनकी सरस्वती-सेवा

□ डॉ० मुश्ताक़ अली, एम० ए०, डी० फिल्०

पण्डित देवीदत्त शुक्ल ऐसे निःस्पृह तथा एक-निष्ठ हिन्दी-सेवी रहे हैं, जिन्होंने लोक-चक्षु और आत्म-प्रचार से दूर रह कर जीवन भर हिन्दी के संवर्द्धन के लिए बहु-विध कार्य किया। लेकिन हिन्दी-जगत् की उदासीनता ही कही जाएगी कि वे लगभग चालीस वर्षों में ही विस्मृत कर दिये गए। सम्प्रति, हिन्दी के प्रति लोगों में ललक है; लोग उसे उसका उचित दर्जा दिलाने के लिए व्यग्र भी हैं लेकिन हिन्दी के कितने ही अध्येता आज भी शुक्ल जी के नाम से अपरिचित हैं। यही नहीं, शुक्ल जी ने अपने 'सरस्वती'-सम्पादन-काल में जितने नये रचनाकारों (उस समय) को प्रश्रय दिया, उनमें से आज कितने ही यह बताने में संकोच करते हैं कि उनको लेखक के रूप में हिन्दी-जगत् में पहले सुपरिचित कराने तथा बाद में प्रतिष्ठित कराने में उन्हीं का हाथ था। २० मई, १९८७ शुक्ल जी की पुण्य तिथि है। इस अवसर पर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्याङ्कन कर हिन्दी-जगत् के सम्मुख उपस्थित करना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने हिन्दी की कितनी सेवा की, यहाँ उसी की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत करने का विनीत प्रयास किया गया है।

पण्डित देवीदत्त शुक्ल आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का पदाङ्कानुसरण करने-वाले 'सरस्वती' के ऐसे सम्पादक थे, जिन्होंने उनके द्वारा अर्जित 'सरस्वती' की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखते हुए अपने युग के सारे झंझावातों को सहकर 'सरस्वती'-सम्पादन के गौरव-पूर्ण दायित्व और आदर्श का निर्वाह किया। कहना न होगा कि वे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कृपा से पहले इण्डियन प्रेस के सम्पादकीय विभाग की नौकरी में आए, फिर बाबू पदुमलाल पुन्नालाल के सहायक बने और कालान्तर में 'सरस्वती' के स्वतन्त्र सम्पादक नियुक्त हुए। शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है, '....उन्हीं (द्विवेदी जी) की सिफ़ारिश से मुझे इण्डियन प्रेस में सम्पादकीय विभाग में नौकरी मिली, जहाँ रहकर मैं सन् १९१९ से १९४६ तक सम्पादन का कार्य करता रहा....।' उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी सन् १९१३ से १९२० तक 'सरस्वती' के लेखक के रूप में, तथा सन् १९२१ से १९४७ तक उसके सम्पादकीय विभाग से घनिष्ठतम रूप से सम्बद्ध रहे।

सन् १९१३ से १९२० के अन्तराल में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में उनकी जो रचनाएँ प्रकाशित कीं, वे इस प्रकार हैं : **तैमूरलंग के बारह नियम, गृह-शासन, औरंगजेब के नाम महाराज यशवंत सिंह का पत्र, कनक-प्रकाश** (मार्च १९१५, पृ० १६१-६५), **पुरातत्त्व विभाग का वार्षिक विवरण** (मार्च १९१७, पृ० १४१-४३), **हिन्दी प्रचार के कुछ बाधक कारण** (जुलाई १९१७, पृ० ४२-४५), तथा **भारतीय पुरातत्त्व विभाग**

की वार्षिक रिपोर्ट (सितम्बर १९१७, पृ० १२६-२७), आदि। कहना न होगा कि इन्हीं आलोचनात्मक और विविध-विषयक रचनाओं से शुक्लजी ने 'सरस्वती' में आने की अपनी पृष्ठ-भूमि निर्मित की थी। यों सम्पादकीय कार्यों में शुक्लजी की अत्यन्त रुचि थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है : "....जब मैं एफ० ए० नहीं कर सका तब मैंने नौकरी करने का विचार किया। लेखक और कवि होने का दम तो मुझमें भर ही गया था, अतएव मैंने किसी पत्र का सहायक सम्पादक बनने की ठानी.....।"

पंडित देवीदत्त शुक्ल के इण्डियन प्रेस में आने से पूर्व ही आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से उनके सम्बन्ध घनिष्ठ हो चुके थे। शुक्लजी ने स्वयं लिखा है : "....पड़ोस में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी रहते ही थे। उनसे परिचित था ही। फलतः उनसे मेरा सम्पर्क धीरे-धीरे घनिष्ठ हो चला। मैं भी, जब वे दौलतपुर में होते, तब प्रायः चौथे-पाँचवें उनके पास दर्शनार्थ आया-जाया करता। पढ़ने के लिए अखबार और पुस्तकें भी ले आता। जब कभी आदेश दे देते, 'सरस्वती' के लिए कुछ-न-कुछ लिख भी दिया करता। इस प्रकार उनकी कृपा से मेरा हिन्दी की प्रगति से भी सम्बन्ध बना रहा। यों तो घर में रहकर घर के काम के कारण मेरा साहित्यिक जीवन एक प्रकार से समाप्त ही हो गया था। यह दूसरी बात है कि पढ़ने की ओर अभिरुचि होने के कारण इस दशा में भी कुछ-न-कुछ पढ़ता ही रहता था....।"

पंडित देवीदत्त शुक्ल की घरेलू परिस्थितियाँ ऐसी नहीं थीं कि वे अपने घर से बाहर नौकरी के लिए निकलते लेकिन कालांतर में उनके मस्तक पर 'सरस्वती' के संपादक होने का गौरव-चिह्न अंकित होना था। यही कारण था कि अपने भाई की इच्छा से वे नौकरी के सम्बन्ध में भी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से ही मिले। द्विवेदी जी ने उनसे कहा कि 'इस समय मेरे पास तीन नौकरियाँ हैं। एक कलकत्ते में हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी की ६०/- मासिक और रहने का मकान मुफ्त। दूसरी नागरी प्रचारिणी सभा की ७५/- मासिक और तीसरी इण्डियन प्रेस की ५०/- मासिक।' आचार्य द्विवेदी शुक्ल जी को इतना मानते थे कि उन्होंने ही कृपाकर उनकी अप्लिकेशन भी लिख दी। उधर महाभाग चिन्तामणि घोष द्विवेदी जी की बात कब टालनेवाले थे! आठ दिनों के अन्दर ही चिन्तामणि बाबू की ओर से स्वीकृति आ गई। इस प्रकार, शुक्लजी को इण्डियन प्रेस के साहित्य-विभाग में नौकरी मिली। शुक्लजी ने लिखा है कि 'द्विवेदीजी की कृपा से मैंने साहित्यिक जीवन के क्षेत्र में पदार्पण किया और मेरी पहले की दबी हुई महत्वाकांक्षा मुझे फिर उभरती हुई दिखाई देने लगी...।'

पंडित देवीदत्त शुक्ल ने इण्डियन प्रेस में नियुक्त होने पर जो कार्य सबसे पहले प्रारम्भ किया, वह था—शिशु-मासिक 'बाल-सखा' का। शुक्लजी 'बाल-सखा' के लिए आए हुए लेखों तथा कविताओं को पढ़ते। उसकी भाषा को शुद्ध करते और प्रूफ पढ़ते। 'बाल-सखा' का कार्य समाप्त करने के बाद शुक्लजी स्वाध्याय में लगे रहते। उसी समय उन्होंने **'मध्यप्रदेश का इतिहास'** लिखा तथा शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय के 'गृह-दाह' का हिन्दी अनुवाद भी किया। कहना न होगा कि शुक्ल जी पूर्णतः साहित्य-रसिक थे,

उसी का परिणाम था कि वे हर प्रकार का कार्य करते, चाहे वह पाण्डुलिपि-संशोधन का होता, अनूदन का होता या प्रूफ-संशोधन का। शुक्ल जी ने 'बाल-सखा' के लिए लगभग बत्तीस रचनाएँ प्रणीत कीं, जिनमें लेख, कविताएँ, कहानियाँ और सम्पादकीय नोट आदि शामिल थे। उन्होंने 'बाल-सखा' के माध्यम से साहित्य-जगत् का कितना उपकार किया, यह एक स्वतन्त्र विषय है, यहाँ तो इसका उल्लेख मात्र किया गया है।

उधर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती'-सम्पादन से अवकाश ग्रहण कर लिया था, इसलिए उसके सम्पादन को भी लेकर इण्डियन प्रेस में रोज कुछ-न-कुछ बातें होतीं लेकिन द्विवेदी जी की सहमति पर बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की ही नियुक्ति 'सरस्वती'-सम्पादक के पद पर हुई क्योंकि द्विवेदी जी बख्शी जी की योग्यता और क्षमता के कायल हो गए थे। इस प्रकार, पं० देवीदत्त शुक्ल भी सन् १९२१ में 'सरस्वती' के सहकारी सम्पादक बने और सन् १९२५ तक इस पद पर उन्होंने अत्यन्त योग्यतापूर्वक कार्य किया।

'सरस्वती' के सहायक के रूप में पं० देवीदत्त शुक्ल पूरा प्रूफ पढ़ते, अंग्रेजी लेखों का अनुवाद करते और यथा-सम्भव आवश्यक लेखादि भी लिखते। बख्शी जी द्वारा सञ्चालित 'कहानी-समस्या' के लिए हिन्दी-जगत् से प्रविष्टियाँ नहीं आईं, तो शुक्लजी ने स्वयं 'एलिस' और 'रमा' शीर्षक कहानियाँ लिखीं। प्रथम महा-युद्ध के बाद विश्व का नक्शा ही बदल गया था। उस परिवर्त्तन से अपने पाठकों को परिचित कराने के लिए बख्शी जी ने 'सरस्वती' में 'संसार की गति' तथा 'देश की कथा' नाम से जो स्तम्भ चलाए, उनको शुक्लजी ही लिखते। 'बाल-सखा' का पूरा दायित्व निर्वाह करते हुए शुक्ल जी ने 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक का कार्य भी कुशलतापूर्वक किया। साथ ही वे 'सरस्वती' में लेखन-कार्य भी बराबर करते रहे। सहायक सम्पादक के रूप में शुक्ल जी ने लगभग १९४ लेख 'सरस्वती' में लिखे।

बख्शी जी अक्टूबर, सन् १९२५ में 'सरस्वती'-सम्पादन-कार्य छोड़कर अपने घर खैरागढ़ चले गए। बख्शी जी अत्यन्त भावुक व्यक्ति थे। वे निरर्थक विवाद में नहीं पड़ना चाहते थे। वे लोगों के तीव्र कटाक्षों तथा कुत्सा-पूर्ण संकेतों को अधिक समय तक नहीं सह सके। सूच्य है कि जब से द्विवेदी जी 'सरस्वती'-सम्पादन से मुक्त हुए, तभी से कुछ स्वार्थी और दकियानूसी हिन्दी-समर्थकों ने बख्शी जी का विरोध करना शुरू कर दिया था। उनमें तो कुछ ऐसे थे, जो 'सरस्वती' का सम्पादक बनना चाहते थे लेकिन न बनाए जाने पर एक दूसरे पर कीचड़ उछालने में लगे हुए थे। इसीलिए बख्शी जी दुःखी होकर अन्त में चले ही गए। बख्शी जी के चले जाने पर पुनः 'सरस्वती' के सम्पादक की आवश्यकता महसूस हुई। उस समय 'सरस्वती' के सम्पादक-पद के लिए लगभग १२५ आवेदन-पत्र आए। उनमें कई तो धुरन्धर हिन्दी-प्रेमियों के भी थे लेकिन 'सरस्वती' की परम्परा और आदर्शों के अनुकूल कम ही आवेदन-पत्र थे और फिर द्विवेदी जी की विरासत को सँभालना, वह भी उनके जीवन-काल में और भी

कठिन कार्य था । इसलिए सभी आवेदन-पत्र द्विवेदीजी के यहाँ भेज दिए गए । शुक्लजी ने स्वयं लिखा है, "द्विवेदीजी ने उन सबको देखकर बड़े बाबू (चिन्तामणि घोष) के पास लौटा दिया और यह लिख दिया 'कि इनमें से किसी भी व्यक्ति को 'सरस्वती' का सम्पादक बनाना ठीक न होगा ।' मैंने सुना कि उन्होंने यह भी लिखा कि 'परीक्षार्थ यह काम देवीदत्त ही को क्यों न दे दिया जाय ।' यह सुनकर मैंने द्विवेदीजी को एक चिट्ठी लिखी कि मैं 'सरस्वती' का सम्पादन करने की जरा भी योग्यता नहीं रखता । आपने मेरे लिए क्यों सिफारिश की है ? यदि मैं 'सरस्वती' का सम्पादक बना दिया जाऊँगा और बाद को अयोग्य समझा जाऊँगा, तो मुझे वर्तमान नौकरी से भी हाथ धोना पड़ेगा ।' इसका जो उत्तर द्विवेदी जी ने दिया, वह मुझे उस दिन मिला, जिस दिन मैं 'सरस्वती' के सम्पादक के पद पर नियुक्त किया गया था....।"

शुक्ल जी के सरस्वती-सम्पादक बनने पर इण्डियन प्रेस के संस्थापक बाबू चिन्तामणि घोष भी प्रसन्न थे । उन्होंने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए थे—'देखो शुक्ल जी, अब आपको पूरा अवसर मिला है । द्विवेदी जी की भी यही इच्छा थी और मेरी भी यही इच्छा थी कि आप 'सरस्वती' का सम्पादन करें । द्विवेदी जी ने इसे अपनी पत्रिका समझकर १६ वर्ष तक इसका सम्पादन किया है । मैं चाहता हूँ कि आप भी उन्हीं की तरह काम करें और उन्हीं की तरह पेंशन प्रेस से लें ।'

इस प्रकार जनवरी सन् १६२६ से शुक्लजी के ऊपर 'सरस्वती' का पूरा भार आ गया । शुक्ल जी जब 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक नियुक्त कर दिए गए, तो अनेक हिन्दी-समर्थकों ने उन पर कटाक्ष करना शुरू कर दिया । शुक्ल जी ने लिखा है कि "....बाहरवालों ने इस सम्बन्ध में क्या कहा-सुना, इसका पता तो मुझे कुछ भी नहीं है परन्तु मेरी जान-पहचान के प्रयागीय साहित्यकारों में से कई को अच्छा न लगा और उनमें भीतर-ही-भीतर खूब दिल्लगी उड़ाई जाती । इसका पता जब-तब मुझे मिलता रहता । उनमें जो दो-एक मुँह-फट थे, वे तो मिलने पर मुँह पर ही ऐसी कोई-न-कोई बात कह दिया करते, जिसका यह अर्थ होता कि तुम 'सरस्वती' के सम्पादक बनने के पात्र नहीं हो । इन महानुभावों को मैं यही उत्तर देता कि 'तुम्हारा कहना ठीक है और इस भूल की जिम्मेदारी 'सरस्वती' के मालिक पर है'....।" लेकिन इण्डियन प्रेस के मालिकों ने शुक्ल जी को कभी कुछ नहीं कहा । उल्टे बाबू चिन्तामणि घोष ने उनकी ईमानदारी का उन्हें प्रमाण-पत्र अवश्य दिया । घोष महाशय ने शुक्ल जी के लिए कहा था—'आप मेरे यहाँ छः वर्ष से हैं । मुझे एक-एक दिन का पता है कि आपने किस परिश्रम तथा किस ईमानदारी से प्रेस का काम किया है । आप अवश्य पूर्ण सफल-मनोरथ होंगे ।'

शुक्ल जी के सरस्वती-सम्पादक होने पर इण्डियन प्रेस के तत्कालीन सञ्चालक बाबू हरिकेशव घोष ने भी 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य में विशेष रुचि ली । उन्होंने उसका आमूल परिवर्त्तन कर दिया । 'सरस्वती' एक प्रकार से नये रंग-ढंग से निकलने लगी । जब शुक्ल जी पूरी तरह से 'सरस्वती' का कार्य देखने लगे, तो इण्डियन प्रेस

ने उन्हें 'बाल-सखा' के सम्पादन-कार्य से मुक्त कर उसका सम्पादन-भार पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' को सौंप दिया। यही नहीं, गिरीश जी ने प्रारम्भ में शुक्ल जी की 'सरस्वती'-सम्पादन में सहायता भी की। इसी प्रकार, प्रयाग के सुप्रसिद्ध कवि श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव ने भी 'सरस्वती'-सम्पादन में उस समय शुक्ल जी की सहायता की। लेकिन इन सहायकों के नाम 'सरस्वती' में कभी भी सहायक सम्पादक के रूप में प्रकाशित नहीं हुए। इस प्रकार, शुक्ल जी ने फरवरी सन् १९२७ तक 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक के रूप में कार्य किया। बख्शी जी के जाने के बाद शुक्ल जी ने 'सरस्वती' की नीतियों में थोड़ा परिवर्त्तन किया था। पहले 'सरस्वती' शुद्ध साहित्यिक माप-दण्डों के अनुरूप प्रकाशित होती थी। बख्शीजी के समय में तो उसका रूप और भी प्राञ्जल हो गया था लेकिन इण्डियन प्रेस की नीति के अनुरूप शुक्ल जी ने 'सरस्वती' को लोक-प्रिय बनाने का प्रयास किया। शायद पाठकों की रुचि भी उस समय परिवर्त्तित हो रही थी, इसलिए पाठकों ने उसकी सराहना ही की।

इसी बीच, मार्च सन् १९२७ में बख्शी जी पुनः आए और उन्होंने 'सरस्वती'-सम्पादन का भार फिर से अपने ऊपर लिया। बख्शीजी के सहायक के रूप में शुक्लजी ने इस बार स्तम्भों को तैयार करने का भार अपने ऊपर लिया। लेकिन बख्शीजी स्थिर रह कर 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य न कर सके और जुलाई में ही वे पुनः घर चले गए। उधर ११ अगस्त, सन् १९२८ को बाबू चिन्तामणि घोष का निधन हो गया। बख्शी जी की अनुपस्थिति में शुक्लजी ने बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति में 'सरस्वती' के सितम्बर अङ्क को श्रद्धाञ्जलि अङ्क के रूप में निकालने की योजना बनाई। इसी बीच, बख्शीजी पुनः आ गए लेकिन उन्होंने शुक्लजी से कहा, 'यह योजना आपकी है। अब आप ही इसको निकालें।' इस प्रकार, शुक्ल जी ने सम्पादक के स्थान पर बख्शी जी का नाम देकर भी कठोर परिश्रम से 'श्राद्धाङ्क' का सम्पादन किया। कहना न होगा कि श्राद्धाङ्क की अत्यन्त प्रशंसा हुई। वह अङ्क, सम्प्रति श्राद्धाङ्क के रूप में तो संग्रहणीय है ही, साथ ही संस्मरण-साहित्य में दस्तावेज-सदृश है। बीसवीं शताब्दी के प्रायः तीन दशकों तक हिन्दी के धुरन्धर लेखक कैसे इण्डियन प्रेस से सम्बद्ध हुए; उन्होंने हिन्दी में कैसे लिखना शुरू किया; हिन्दी का रिक्त कोष कैसे सम्पूरित होता गया आदि ऐसी ही अन्यान्य बातों के सूत्र इस विशेषाङ्क में बिखरे पड़े हैं, जिनसे हिन्दी के उन्नयन एवं संवर्द्धन की गाथा जुड़ी हुई है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि बख्शी जी स्थिर रहकर 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य नहीं कर सके, वे दो ही महीने प्रयाग में रहे होंगे कि खैरागढ़ में उन्हें अध्यापकी मिल गयी और वे पुनः चले गए। जो भी हो, सन् १९२८ में भी 'सरस्वती' उत्तम ढङ्ग से सम्पादित होकर प्रकाशित हुई।

जनवरी, सन् १९२९ से शुक्ल जी के ऊपर 'सरस्वती' के सम्पादन का पूरा दायित्व आ गया। वे जैसे सन् १९२६ में 'सरस्वती' के सम्पादन में स्वतन्त्र थे, वैसे

ही इस समय भी हो गए और सम्पादन के कार्यों में पूरी तरह लीन हो गए। 'सरस्वती' की नीतियाँ पूर्व-वत् ही बनी रहीं लेकिन युगानुकूल प्रवृत्तियों के अनुकूल सामग्री का प्रकाशन बढ़ा। 'सरस्वती' इस काल में साहित्य से लोक-प्रियता, राज-नीति और सामाजिक पक्षों की ओर उन्मुख होती गई। सन् १६५२ तक पं० ठाकुर-दत्त मिश्र भी सम्पादकीय कार्यों में शुक्ल जी की सहायता करते रहे। सन् १६३३ से ठाकुर श्रीनाथ सिंह उनके सहायक हो गए और उनका नाम भी सम्पादक के रूप में 'सरस्वती' पर छपने लगा। 'सरस्वती' रूप-रेखा ही क्या, पाठ्य-सामग्री की दृष्टि से भी दिनों-दिन उन्नति करने लगी। कितने ही नए स्तम्भों का सूत्रपात इस समय 'सरस्वती' में हुआ। ठाकुर श्रीनाथ सिंह के सत्-प्रयास से प्रतिष्ठित विद्वानों और राज-नेताओं के लेख प्रकाशित होने लगे। दिसम्बर, सन् १६३८ के आस-पास प्रान्तीय सरकार ने जब 'हल' नामक मासिक पत्र प्रकाशित करने की योजना बनाई, तब से ठाकुर श्रीनाथ सिंह उसका सम्पादन-कार्य देखने लगे। इस प्रकार 'सरस्वती' के सम्पादन से वे मुक्त हो गए। उनकी अनुपस्थिति में पं० सुन्दरलाल त्रिपाठी शुक्ल जी की सहायता करते रहे लेकिन जनवरी सन् १६३६ से पं० उमेशचन्द्र मिश्र जैसे प्रतिभा-शाली विद्वान् की उनके स्थान पर नियुक्ति हुई और उनका नाम सम्पादक के रूप में 'सरस्वती' पर छपने लगा। पं० उमेशचन्द्र मिश्र से शुक्ल जी समालोचनाएँ लिखवाने का कार्य लेते। यह सच है कि सम्पादक-द्वय को समालोचनाओं का कुफल भी भुगतना पड़ा लेकिन आचार्य द्विवेदी की परम्परा को जीवित रखने के लिए ये सब कुछ सहन करने के लिए तैयार थे। इस प्रकार, अनेक द्वन्द्वों के बीच रहकर **पं० देवीदत्त शुक्ल जी** 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य करते रहे। जनवरी, सन् १६४५ की 'सरस्वती' के अन्तिम फर्मे के प्रूफ़ पढ़ चुकने के साथ ही उनकी दृष्टि-शक्ति ने जवाब दे दिया। लाचार होकर उन्हें दो वर्षों तक स्वास्थ्य-लाभ करना पड़ा। इस अन्तराल में, उन्होंने 'सरस्वती' के लिए सम्पादकीय नोट बोलकर लिखवाए।

यहाँ इस बात को स्पष्ट कर देना प्रासङ्गिक होगा कि दो वर्ष शुक्ल जी सवेतन अवकाश पर रहे। इण्डियन प्रेस से सारी सामग्री शुक्ल जी के घर भेज दी जाती। उनके सुपुत्र श्री रमादत्त शुक्ल उन्हें पढ़कर सुनाते। उनसे सुनने के बाद शुक्ल जी आत्म-चिन्तन करते और रमादत्त जी को बोलकर सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखवाते। इस प्रकार वे सम्पादकीय दायित्व का निर्वाह करते। यहाँ यह कहने में संकोच नहीं है कि पेंशन होने पर शुक्ल जी आर्थिक सङ्कट में पड़ जाते, किन्तु इण्डियन प्रेस के तत्कालीन उदार-चेता सञ्चालक बाबू हरिकेशव घोष ने श्री रमादत्त शुक्ल को सन् १६४७ में प्रेस के सम्पादकीय विभाग में पार्ट-टाइम पर ५०/- में नियुक्त कर दिया। इस प्रकार उनकी आर्थिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा, साथ ही रमादत्त जी पं० उमेशचन्द्र मिश्र के सहायक के रूप में कार्य करने लगे। मिश्र जी के असामयिक रूप से दिवङ्गत हो जाने के बाद श्री रमादत्त शुक्ल लगभग ३ वर्ष तक अकेले ही 'सरस्वती' का सम्पादन अपने पूज्य पिता जी के निर्देशन में करते रहे किन्तु उनका

नाम सम्पादक-रूप में प्रकाशित नहीं हुआ, अपितु श्री हरिकेशव घोष का नाम सम्पादक के स्थान में छपता रहा । पिता-पुत्र की यह सेवा गुप्त ही रह गयी ।

सन् १९४५ और १९४६ के प्रारम्भ और अन्त के दो-तीन महीनों में शुक्ल जी अपने इलाज के निमित्त वाराणसी में रहे । उनकी अनुपस्थिति में 'सरस्वती' का सारा कार्य उनके सहयोगी पं० उमेशचन्द्र मिश्र जी ने अत्यन्त कुशलता-पूर्वक सम्पन्न किया । जब शुक्ल जी बिल्कुल अशक्य हो गये, तो उन्हीं की इच्छा पर इण्डियन प्रेस ने सन् १९४७ से उन्हें सम्पादकीय कार्यों से मुक्त कर उन्हें पेंशन दे दी ।

इस प्रकार, शुक्ल जी ने आचार्य द्विवेदी का पदांकानुसरण करते हुए लगभग दो दशकों तक 'सरस्वती' का सम्पादन अत्यन्त योग्यता के साथ किया । इस दीर्घ-काल के बदलते हुए परिवेश में भी शुक्ल जी ने 'सरस्वती' को लोक-प्रिय बनाए रखा । चाहे छाया-वाद युग रहा हो या प्रगति-वाद या प्रयोग-वाद का आगमन, शुक्ल जी ने 'सरस्वती' में स्थायी मूल्य की रचनाएँ युगानुकूल प्रकाशित कीं । वे अत्यन्त परिश्रमी थे, इसलिए वे परिश्रम करने से नहीं चूके ।

पं० देवीदत्त शुक्ल ने आचार्य द्विवेदी और बख्शी जी की भाँति ही 'सरस्वती' के दीर्घ-कालीन सम्पादन में अनेक नये रचनाकारों को 'सरस्वती' में स्थान दिया; नये-नये स्तम्भों का उन्होंने सूत्रपात किया । इस प्रकार, 'सरस्वती' की परम्परा को आगे ले जाने में शुक्ल जी ने महनीय योग दिया ।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में ललित तथा उसका समवर्ती साहित्य

पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की भाँति 'सरस्वती' में ललित तथा उसके समवर्ती साहित्य के अन्तर्गत काव्य, कहानी, जीवन-चरित, समालोचना, निबन्ध, उपन्यास तथा नाटक आदि विधाओं से सम्बन्धित अनेक रचनाओं का प्रकाशन किया, जिसका विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में काव्य

पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने साहित्य के क्षेत्र में कविताओं के माध्यम से ही प्रवेश किया था । कविता के क्षेत्र में उनकी रुचि बचपन से ही थी । इसका कारण शायद उनको परिवेश ही ऐसा मिला था । उन्होंने स्वयं लिखा है कि '....भूषण, मतिराम, पद्माकर आदि की कविताएँ तो रोज ही सुनता रहता था ।....एक बहन और मेरी चाची कविता भी लिखा करती थीं । मेरे बड़े भाई भी अच्छे कवि थे । ये लोग प्रायः बैठकर परस्पर कवित्त भी कहा करते थे । पुराने कवियों के भी और अपने बनाए हुए भी । वह सब भी मैं सुना करता था । इस सबका मुझ पर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा....।' लेकिन कवित्व के क्षेत्र में उन्हें प्रेरणा प्रोफ़ेसर उनवाला से मिली थी । उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि '....इन्हीं दिनों प्रोफ़ेसर उनवाला ने एक दिन हिन्दी

की कविता-रचना की प्रणाली पर भाषण किया और वहीं दर्जे में बतला दिया कि पद्य-रचना में गण और मात्राएँ कैसे बिठाई जाती हैं। उनकी इस शिक्षा के फल-स्वरूप मुझे कवि बनने की सूझी और मैंने कई कविताएँ लिखीं....।' कहना न होगा कि शुक्ल जी में कवित्व-प्रतिभा और काव्य की समझ पहले से ही विद्यमान थी। जहाँ तक 'सरस्वती' में कविताओं के चुनने का प्रश्न था, उसमें भी वे निपुण हो चुके थे क्योंकि बख्शी जी के सहायक के रूप में पाँच वर्षों तक 'सरस्वती' के सम्पादन में वे हाथ बटा चुके थे।

पं० देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल में जिन कवियों की कविताएँ प्रकाशित कीं, वे इस प्रकार हैं :

कवि का नाम	कविता का नाम	मास और वर्ष	
गोपालशरण सिंह	विधवा-विलाप	जनवरी,	१९२६
सुमित्रानन्दन पन्त	तारा के प्रति	जन०	२६
अयोध्यासिंह उपाध्याय	विबोधन	फरवरी	२६
कामताप्रसाद गुरु	सरस्वती-विनय	मई	२६
जगन्नाथ दास रत्नाकर	वियोग (ब्रजभाषा)	मई	२७
रामनरेश त्रिपाठी	आँसू की मिठास	फरवरी	२९
पद्मकान्त मालवीय	दुःख-सुख	अप्रैल	२९
पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	असफल को	अप्रैल	२९
श्यामनारायण पाण्डेय	खोज	जुलाई	२९
अनूप	प्राप्ति-स्थान	अक्टू०	२९
जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'	सुमन	अक्टू०	२९
ठाकुर गुरुभक्त सिंह 'भक्त'	शरद-आगमन	अक्टू०	२९
इक़बाल वर्मा 'सेहर'	उमर खैयाम की रुबाइयाँ—साक़ी से	नवं०	२९
रामचरित उपाध्याय	छी	अक्टू०	३०
बालकृष्ण राव	नयनों की भाषा	सितं०	३१
नर्मदाप्रसाद खरे	तुम	नवं०	३१
उमेश	वांछा	जन०	३२
मैथिलीशरण गुप्त	विरहिणी उर्मिला (साकेत से)	जन०	३२
भगवतीचरण वर्मा	वन्दना	मार्च	३२
गोपाल सिंह नेपाली	देहात	मार्च	३२
देवीदयाल चतुर्वेदी	विचित्र व्यापार	अप्रैल	३२
रामकुमार वर्मा	रूप-राशि	अगस्त	३२
जयशङ्कर प्रसाद	मुझको न मिला है कभी प्यार	मई	३३
कुं० हिम्मत सिंह	तेरी याद	अगस्त	३३

कवि का नाम	कविता का नाम	मास और वर्ष
श्रीमती महादेवी वर्मा	गीत	सितम्बर १९३३
उदयशङ्कर भट्ट	जरा	सितम्बर ३३
आरसीप्रसाद सिंह	शतदल	नवम्बर ३३
हरवंश राय 'बच्चन'	मधुशाला	दिसम्बर ३३
शांतिप्रिय द्विवेदी	जीवन-सङ्गीत	फरवरी ३४
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	गीत	मार्च ३४
सुमित्रानन्दन पन्त	पतझड़	मई ३४
श्रीनारायण चतुर्वेदी	एकान्त	सित० ३४
श्रीमन्नारायण अग्रवाल	जीवन-उद्यान	अक्टू० ३४
कुँ० सोमेश्वर सिंह	दीवाना	दिस० ३४
रामविलास शर्मा	गीत	अप्रैल ३५
मोहनलाल महतो	गीत	मई ३५
दिनकर	भ्रमरी	अक्टू० ३५
मैथिलीशरण गुप्त	द्वापर (द्वापर नामक महा-काव्य से)	अक्टू० ३५
एक राष्ट्रीय आत्मा	जीवन-सरित	दिस० ३५
जयशङ्कर प्रसाद	कामायनी (१०वें सर्ग का एक अंश)	जन० ३६
सुमित्रानन्दन पन्त	बापू के प्रति	जून ३६
शिलीमुख	कवि-पुराणम् (गद्य-काव्य)	अक्टू० ३६
गंगाप्रसाद पाण्डेय	गीत	नव० ३६
द्विरेफ	अन्तर्गीत (शेक्सपीयर की एक कविता)	मार्च ३७
सद्गुरुशरण अवस्थी	उदय-अस्त	मार्च ३७
दिनेशनन्दिनी चोरड्या	साधना (गद्य-काव्य)	मई ३७
रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल'	उच्छ्वास	अगस्त ३७
इलाचन्द्र जोशी	रूप-शिखा	नव० ३७
शिवमङ्गल सिंह 'सुमन'	हा प्रसाद !	दिस० ३७
शमशेरबहादुर सिंह	गीत	फर० ३८
सुधीन्द्र	अन्तर्वासी (रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता)	नव० ३८
मैथिलीशरण गुप्त	श्रद्धाञ्जलि	फर० ३९
निरङ्कार देव सेवक	कवि से	मार्च ३९
सोहनलाल द्विवेदी	उठ-उठ री मानस की उमङ्ग	अप्रैल ३९
सोहनलाल द्विवेदी	युगावतार गांधी	मई ३९
एक भारतीय आत्मा	कलिका से; कलिका की ओर से	सित० ३९
कुमारी शकुन्तला	मानव जीवन	अक्टू० ४०
तेजनारायण काक	मेरे गान	जुलाई ४१

कवि का नाम	कविता का नाम	मास और वर्ष
रामगोपाल विजयवर्गीय	चित्रकार	नव० १६४२
गांगेय नरोत्तम शास्त्री	शीतल हवा	अक्टू० ४३
प्रभाकर माचवे	गीत	नव० ४३
श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया	निर्झरिणी	नव० ४५
चन्द्रकुँवर वर्त्वाल	हिमालय	अक्टू० ४६

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने द्विवेदी-युग के अधिकतर कवियों की कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित तो की हीं, साथ ही उन्होंने छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के प्रारम्भिक युग की भी रचनाएँ प्रकाशित कीं। यह स्पष्ट है कि पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' की पूर्व-परम्परा का पालन किया लेकिन उन्होंने हिन्दी-जगत् के प्रायः सभी कवियों को 'सरस्वती' में स्थान दिया। पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने अपने 'सरस्वती'-सम्पादन-काल में जहाँ अयोध्यासिंह उपाध्याय, कामताप्रसाद गुरु, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, जयशङ्कर प्रसाद, गोपालशरण सिंह, रामनरेश त्रिपाठी जैसे द्विवेदी-युगीन कवियों की कविताओं को प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त किया, वहीं उन्होंने सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जैसे नवोदित कवियों की कविताएँ प्रकाशित कीं। इनके अतिरिक्त पद्मकान्त मालवीय, श्यामनारायण पाण्डेय, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', बालकृष्ण राव, गोपाल सिंह नेपाली, रामकुमार वर्मा, हरवंश राय 'बच्चन', दिनकर, एक राष्ट्रीय आत्मा (माखनलाल चतुर्वेदी), रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल', निरङ्कार देव सेवक, सोहनलाल द्विवेदी, शकुन्तला सिरोठिया जैसे कितने ही कवियों की कविताओं का प्रकाशन करने में वे समर्थ हुए।

इन सभी कवियों की कविताओं के 'सरस्वती' में प्रकाशन के अपने सन्दर्भ हैं लेकिन कुछ पुराने एवं कुछ नये कवियों की कविताओं को उन्होंने कैसे प्राप्त किया, उनसे सम्बन्धित बातें द्रष्टव्य हैं। राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है कि...."श्री मैथिलीशरण गुप्त के बन्धु श्री सियारामशरण जी अपने व्यवसाय के सिलसिले में प्रायः प्रयाग पधारते थे। जब उनसे यह बात मालूम हुई कि गुप्त जी अपना 'साकेत' नाम का महा-काव्य पूर्ण कर रहे हैं, तब मैंने उनसे अनुरोध किया कि उनके उस महा-काव्य का प्रारम्भिक अंश द्विवेदी जी के समय में 'सरस्वती' में छप चुका है; यदि उसका शेषांश भी वे 'सरस्वती' में छापने के लिए देने की कृपा करेंगे, तो मैं उसे आदर के साथ छापूँगा।....श्रीमान् गुप्त जी ने मेरे इस निवेदन को स्वीकार किया और उनके 'साकेत' का एक सर्ग छापने को मिला।" इसी प्रकार पुराने कवियों में पण्डित अनूप शर्मा और पण्डित जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है कि...."कानपुर के प्रसिद्ध कवि पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की बदौलत कानपुर के बहु-संख्यक नव-युवक हिन्दी के सुकवि बन गये थे। इनमें पण्डित अनूप शर्मा तथा पण्डित जगदम्बाप्रसाद मिश्र

'हितैषी' ने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। अनूप जी ने कृपापूर्वक 'सरस्वती' में लिखना प्रारम्भ कर दिया था। हितैषी जी भी 'सरस्वती' में लिखने को उत्सुक हुए। इनके सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने लिखा था कि इनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में अवश्य छपनी चाहिए। फलतः अनूप जी की रचनाओं के साथ-साथ इनकी भी रचनाएँ हमने 'सरस्वती' में सादर छापीं।...."

नये कवियों में रामकुमार वर्मा ने 'सरस्वती' में किस प्रकार प्रवेश किया, उसका उल्लेख शुक्ल जी ने इस प्रकार किया है कि "...मुंशी रुद्रनारायण का छोटा लड़का रामकुमार वर्मा का घनिष्ठ मित्र था। उसने मुझसे एक दिन बड़े आग्रह के साथ कहा कि मेरे मित्र की कविताएँ यदि छः महीने तक लगातार 'सरस्वती' में छापने की कृपा करें, तो मैं आपका बड़ा अनुग्रहीत होऊँगा....।" शुक्ल जी उसकी बात समझ गये। शुक्ल जी ने स्वीकार किया है कि "....रामकुमार जी उन दिनों कविता लिखा करते थे और अच्छी लिखते थे। मैंने उसके अनुरोध को स्वीकार किया और श्री रामकुमार जी की कविताएँ बराबर छः महीने तक 'सरस्वती' में छपती रहीं....।"

जहाँ तक 'सरस्वती' में सन् १९२६ से सन् १९४७ तक की प्रकाशित कविताओं का प्रश्न है, उनमें आत्माभिव्यक्ति, सौन्दर्य-भावना, व्यक्तिवाद, संवेदन-शीलता, प्रकृति-प्रेम, नारी को महत्त्व, राष्ट्रीयता की भावना, कल्पनाधिक्य, यथार्थवादिता, गाँवों की ओर दृष्टि, साधारण व्यक्ति तक पर दृष्टि, मातृ-भूमि से प्रेम के साथ अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का वर्णन मिलता है। इन कविताओं में दूसरे पक्ष यानी रूप-विन्यास, चित्र-मयता, अलङ्कार, छन्द-विधान, प्रगीतात्मकता के भी लक्षण विद्यमान हैं। उल्लेखनीय है कि हिन्दी-साहित्य में 'प्रयोगवाद' के वे कवि, जो नाम से ही संज्ञायित कर दिए गए हैं, उनकी कविताएँ 'सरस्वती' में शुक्ल जी के सम्पादन-काल में नहीं प्रकाशित हुईं लेकिन 'सरस्वती' की काव्य-धारा अपनी परम्परानुसार स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित होती रही।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में कहानी

पण्डित देवीदत्त शुक्ल 'सरस्वती' का सम्पादन-भार सँभालने से पूर्व हिन्दी-जगत् में अपनी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित करा चुके थे, जिनमें **'पकौड़ीवाली'**, **'काल-रात्रि'** तथा **'एकादशी'** आदि संग्रह समधिक प्रसिद्ध हो चुके थे। अँगरेजी की कितनी ही कहानियों के उन्होंने बख्शीजी के निर्देशन में अनुवाद किए थे, जो 'सरस्वती' में ही कल्पित नामों से छप चुके थे। इस प्रकार कहानियों के मामले में उनकी पक्की ट्रेनिंग बख्शीजी के समय में ही हो चुकी थी। वे कहानियों की प्रकृति से पूरी तरह परिचित थे। कैसी कहानियाँ 'सरस्वती' में छापनी चाहिए, इसका भी उन्हें पूरा ज्ञान था। शुक्लजी ने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल में जिन कहानीकारों की जिन कहानियों का प्रकाशन किया, उनकी सूची इस प्रकार है—

कहानीकार का नाम	कहानी का नाम	मास और सन्
प्रेमचन्द	लैला	जनवरी १९२६
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	देश-द्रोही	जन० २६
पृथ्वीनाथ शर्मा	रज्जू का सौदा	फर० २६
इलाचन्द्र जोशी	अनाश्रित	फर० २७
विनोदशङ्कर व्यास	सुख	फर० २७
भगवतीप्रसाद वाजपेयी	अनिश्चय	अक्टू० २९
जैनेन्द्रकुमार	आतिथ्य	मार्च ३०
गणेश पाण्डेय (अनु.)	निराश-प्रणय (मुपाँसा की कहानी)	अगस्त ३१
लक्ष्मीकान्त झा	रात का सफर	फर० ३२
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	कमला	मार्च ३२
गणेशप्रसाद द्विवेदी (अनु.)	सैनिक (सेफ़ाक की रूसी कहानी)	मई ३२
धनीराम प्रेम	बहन	जुलाई ३२
तेजनारायण काक (अनु.)	सुखी राजकुमार (आस्कर वाइल्ड)	मार्च ३३
मोहनलाल नेहरू	खद्दर-धारी	मार्च ३३
जयशङ्कर प्रसाद	नूरी	जून ३३
चतुरसेन शास्त्री	भग्न-हृदय	जून ३३
विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'	मोह	जुलाई ३३
श्रीमती उषादेवी	प्रतीक्षा	दिसं० ३३
कृष्णदेवप्रसाद गौड़	चिकित्सा का चक्कर	मई ३४
श्रीनाथ सिंह	गरीबों का स्वर्ग	नवं० ३४
श्रीमती महादेवी वर्मा	सुई दो रानी ! डोरा दो रानी !	नवं० ३४
उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	प्रेम की वेदी	दिसं० ३४
भगवतीचरण वर्मा	विवशता	जुलाई ३६
सुदर्शन	साइकिल की सवारी	अगस्त ३६
राजा राधिकारमण सिंह	इस हाथ दे, उस हाथ ले	नवं० ३६
सद्गुरुशरण अवस्थी	वह कल कभी नहीं आया	अप्रैल ३७
ब्रजमोहन गुप्त	विज्ञान-शाला में (वैज्ञानिक कहानी)	अप्रैल ३७
मोहनलाल महतो	वे बच्चे	सितं० ३७
गोविन्दवल्लभ पन्त	दिल की बीमारी	दिसं० ३७
रूपनारायण पाण्डेय (अनु.)	तसवीर (कहानीकार—शरच्चन्द्र)	सितं० ३८
हजरत तसलीम लखनवी	मुंशी बख्तावर लाल	जून ३९
गोविन्दराव मराठे (अनु.)	पतित (मूल कहा०-वि० स० खांडेकर)	दिसं० ४०
सुभद्राकुमारी चौहान	तीन बच्चे	दिसं० ४१
महन्त धनराजपुरी	मृत्यु से मुठभेड़	जन० ४२

कवि का नाम	कविता का नाम	मास और वर्ष
श्रीराम शर्मा	अब पछताये होत क्या....	मार्च १९४२
बेचन शर्मा 'उग्र'	पेशावर एक्सप्रेस	जून ४२
राहुल सांकृत्यायन	निशा ('वोल्गा से गंगा' नामक संकलनसे)	सितं० ४२
धर्मवीर	अब धर्म-ईमान कहाँ ?	जून० ४४
ओङ्कारनाथ शरद (अनु.)	पाँच फ्रेंक (मूल कहा०-गी. दे. मुपासाँ)	दिसं० ४४
विष्णु प्रभाकर	अभाव	दिसं० ४६

उपर्युक्त सूची से ही स्पष्ट है कि **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल में हिन्दी के प्रायः सभी प्रसिद्ध कहानीकारों की कहानियों को प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त किया। पं० देवीदत्त शुक्ल को जहाँ द्विवेदी-युगीन कहानीकारों का समर्थन प्राप्त था, वहीं उन्हें द्विवेदी-युगोत्तर कहानीकारों ने भी पूर्ण सहयोग किया।

उल्लेखनीय है कि द्विवेदी-युग में ही 'सरस्वती' में कहानियों का स्वरूप स्पष्ट हो चुका था, आलोच्य काल में तो हिन्दी-कहानियों के वैविध्य का काल है। इन कहानियों में समाज की विद्रूपताओं का वर्णन यथार्थ के धरातल पर तो हुआ ही, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि भी इन कहानियों में प्रधान रही। 'सरस्वती' में प्रकाशित इन कहानियों में समस्याओं का यथा-तथ्य प्रस्तुतीकरण तो हुआ ही है, साथ ही समस्याओं के निदान का आदर्शवादी तरीका भी प्रस्तुत किया गया है। ये कहानियाँ ग्रामीण अञ्चलों की पृष्ठ-भूमि पर तो आधारित रही ही हैं, नगरीय जीवन की झलक भी इनमें मिलती है।

इस काल में 'सरस्वती' में अनूदित कहानियाँ 'सरस्वती' की पूर्व-परम्परा के अनुसार ही प्रकाशित हुईं। जैसे विदेशी कहानीकारों की कहानियाँ 'सरस्वती' में अनूदित होकर प्रकाशित हुईं, वैसे ही अन्य भारतीय भाषाओं में से, विशेषकर बँगला कहानियाँ अनूदित होकर प्रकाशित हुईं।

कहना न होगा कि पं० देवीदत्त शुक्ल कालीन 'सरस्वती' की कहानियों को पाठ्य-पुस्तकों में भी यथेष्ट स्थान मिला। इस दृष्टि से भी इस काल की 'सरस्वती' की कहानियाँ महत्त्व-पूर्ण मानी जाएँगी।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में जीवन-चरित एवं संस्मरण

पण्डित देवीदत्त शुक्ल के 'सरस्वती' का सम्पादन-भार सँभालने के पूर्व से ही 'सरस्वती' में 'जीवन-चरित' नामक विधा में वैविध्य एवं वैचित्र्य परिलक्षित होने लगा था क्योंकि बख्शी-कालीन 'सरस्वती' में ही अनेक संस्मरण प्रकाशित हो चुके थे। पं० देवीदत्त शुक्ल कालीन 'सरस्वती' में भी संस्मरणों की बहुतायत दीखती है। वैसे तो इस काल में 'सरस्वती' में इण्टरव्यू, पत्र, जीवन-चरित, आत्म-कथा तथा संस्मरण आदि सभी प्रकाशित हुए। शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में प्रकाशित उपर्युक्त विषयक सामग्री की सूची इस प्रकार है—

लेखक का नाम	लेख का नाम	मास और सन्
हरिनारायण मुखोपाध्याय	बैजू बावरा	दिस० १९२९
किशोरीदास वाजपेयी	सप्रेजी की स्मृति	जून ३१
महावीरप्रसाद द्विवेदी	आत्म-निवेदन	मई ३३
श्रीनाथ सिंह	कलकत्ते की साहित्यिक यात्रा	जुलाई ३३
सेण्ट निहाल सिंह	विदेश में भारतीयों से मेरी भेंट	अगस्त ३३
गोपालराम गहमरी	साहित्यिक संस्मरण	दिस० ३६
श्रीमन्नारायण अग्रवाल	राष्ट्रमाता कस्तूरबाई	सित० ३८
इकबाल वर्मा 'सेहर'	आचार्य-वर श्री द्विवेदी जी का दर्शन	दिस० ३८
गङ्गानाथ झा	द्विवेदी जी से परिचय	फर० ३९
बाबूराव विष्णु पराड़कर	आचार्य द्विवेदी जी	फर० ३९
मैथिलीशरण गुप्त	आचार्य देव	फर० ३९
पद्मसिंह शर्मा (के नाम)	आचार्य द्विवेदी के पत्र	अक्टू० ३९
श्यामसुन्दर दास	मेरी आत्म-कहानी	सित० ४०
पुरुषोत्तमदास टण्डन	सर सी० वाई० चिन्तामणि	अगस्त ४१
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	इति-वृत्त	अक्टू० ४२
मुकुन्दीलाल	दानवीर शिवप्रसाद गुप्त की स्मृति	जून ४४
चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद	परलोक-गत बाबू श्यामसुन्दर दास	जून ४४

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित कर 'सरस्वती' की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखा।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में समालोचना

पण्डित देवीदत्त शुक्ल की समालोचना में रुचि खूब रमी है। ऐसा लगता है, जैसे यह रुचि उन्हें दाय में द्विवेदी जी से मिली हो। 'सरस्वती' में प्रकाशित आलोचनाओं को लेकर जितना इन्हें हृदय-दंशन हुआ, लोगों की नाराजगी झेलनी पड़ी उसका कहना ही क्या! शुक्ल जी समालोचना करते समय या अपने लेखकों से आलोचना करवाते समय इस बात का ध्यान रखते थे कि व्यक्तिगत सम्बन्ध एक बात है और कर्त्तव्य-पालन दूसरी। उन्होंने लिखा है कि "....मैं स्वयं नहीं चाहता कि 'सरस्वती' में ऐसे लेख छपें, जिनसे कोई दुःखी या क्रुद्ध हो परन्तु 'सरस्वती' अपने प्रारम्भ से ही अपनी सच्ची समालोचनाओं के लिए प्रसिद्ध रही है और इसके लिए हिन्दी के पठित समाज में उसका विशेष आदर है। अतएव समय-समय पर वैसी आलोचनाएँ भी लाचार होकर ही छापता हूँ परन्तु जहाँ तक सम्भव होता है, मैं आलोचनाओं-प्रत्यालोचनाओं के झमेले से 'सरस्वती' को दूर ही रखता हूँ....।" इसका मूल

कारण आचार्य द्विवेदी की वे पंक्तियाँ थीं, जिनमें उन्होंने कहा था कि "....कोई प्रश्न यदि उठे और वह सार्वजनिक हित का हो, तो उस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करना प्रत्येक पत्रकार का कर्त्तव्य है परन्तु यदि उस पर वाद-विवाद उठ खड़ा हो, तो अपनी सफाई देकर उस झमेले से अलग हो जाना ही अधिक श्रेयस्कर होता है....।" शुक्ल जी के समय 'सरस्वती' में कितने ही प्रश्न उठे, कोलाहल की सृष्टि भी हुई; वाद-विवाद चले लेकिन उन्होंने कभी मर्यादा-पक्ष का त्याग नहीं किया। उन्होंने 'सरस्वती' में कभी अनर्गल बातों की चर्चा नहीं होने दी। साहित्य और समाज दोनों की दृष्टि से जो रचनाएँ उपयोगी रहीं, उनकी उन्होंने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की लेकिन जिन रचनाओं में जरा भी कमी नजर आयी, उनकी धज्जी भी उड़ा दी। बड़े-से-बड़े रचनाकारों का सिक्का उन्होंने नहीं चलने दिया। यहाँ, शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में प्रकाशित समालोचनाओं की सूची देना प्रासङ्गिक होगा—

समालोचक का नाम	**लेख का नाम**	**मास और सन्**
कृष्णबिहारी मिश्र	महाकवि तोष	जनवरी १९२६
अमृतलाल 'शील'	चन्द बरदायी का पृथ्वीराज रासो	जून २६
शिलीमुख	प्रेमचन्द की कला	फर० २९
किशोरीदास वाजपेयी	वीर सतसई का एक दोहा	अप्रैल २९
राजबहादुर लमगोड़ा	समालोचना का आदर्श	जून ३१
चन्द्रबली पाण्डेय	बीसलदेव रासो	अक्टू० ३१
हजारीप्रसाद द्विवेदी	हमारी साहित्यिक समालोचना का विकास	सित० ३२
किशोरीदास वाजपेयी	साकेत	जन० ३३
देवीदत्त शुक्ल	मिश्र-बन्धुओं की भद्दी भूलें	जन० ३५
मथुराप्रसाद दीक्षित	चन्द वरदाई और जयानक कवि	जून ३५
मयाशङ्कर याज्ञिक	सेनापति-कृत कवित्त-रत्नाकर	अगस्त ३७
उमेशचन्द्र देव	कामायनी—एक अध्ययन	अक्टू० ३९
कालिदास मुकर्जी	एक प्राचीन हिन्दी व्याकरण	फर० ४०
अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी	तुलसी-कृत रामायण की आलोचना	जन० ४३
सेठ कन्हैयालाल पोद्दार	तुलसी-रामायण की आलोचना-एक अनुशीलन	मई ४३
गोपाल कृष्ण	तुलसी-कृत रामायण की आलोचना	मई ४४
अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी	महाभारत पर विचार	नवं० ४४

उपर्युक्त लेखों से स्पष्ट है कि पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने महावीरप्रसाद द्विवेदी के आदर्शों का अनुकरण किया और जिस प्रकार के लेख द्विवेदी जी 'सरस्वती' में प्रकाशित किया करते थे, उसी प्रकार के लेखों को शुक्ल जी ने भी प्रकाशित किया।

इतना ही नहीं, पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्यों को भी पूरा किया। पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने भी द्विवेदी जी और बख्शी जी की तरह स्थायी मूल्य की समालोचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित कीं। कहना न होगा कि 'सरस्वती' के माध्यम से समालोचना के विकास में पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

साहित्यिक उत्कर्ष के चलते जितनी कटुता पूज्य शुक्ल जी को अपने युग के लेखकों के कारण सहनी पड़ी, उसका मूल्यांकन कर क्या हिन्दी-संसार उनकी असली भावनाओं को समझ सकेगा? उन्होंने ऐसा क्यों किया, यह विचारणीय प्रश्न है। क्या उनको पागल कुत्ते ने काटा था, जो उन्होंने प्रेमचन्द जी, पण्डित श्रीराम वाजपेयी, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी, मिश्र-बन्धु, श्रीसूर्यनाथ तकरू, पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', फिराक़ गोरखपुरी जैसे दिग्गजों की साहित्यिक आलोचना कर उनका कोप-भाजन बनना पसन्द किया। समग्रतः कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने समालोचना के क्षेत्र में 'सरस्वती' के माध्यम से अपूर्व कार्य किया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी प्रयाग से प्रकाशित 'मदारी' नामक साप्ताहिक पत्र में भी प्रायः विविध-विषयक आलोचनात्मक लेख छद्म-नाम से लिखा करते थे, जो एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। 'मदारी' में प्रकाशित कुछ निबन्ध, जो हिन्दी-साहित्य-विषयक थे, **'कुछ खरी-खरी'** नामक पुस्तिका में देखे जा सकते हैं। यह पुस्तिका शुक्ल जी के जीवन-काल में ही उनके सुपुत्र श्रीरामदत्त शुक्ल द्वारा सन् १९४९ में प्रकाशित की गई थी। इस पुस्तिका में 'मदारी' में प्रकाशित १७ निबन्धों के शीर्षक यहाँ उल्लेखनीय हैं। यथा—

१. महात्मा गांधी और हिन्दी, २. साहित्यिकता का एक रूप, ३. फतवेबाज आलोचक, ४. साहित्य की विभीषिका, ५. हिन्दी के दैनिक, ६. हिन्दी के साप्ताहिक, ७. मासिक पत्र-पत्रिकाएँ, ८. मिश्र-बन्धुओं का धर्म-तत्त्व, ९. गुप्त जी की जयन्ती, १०. साहित्य-सेवक या साहित्य बेंचक, ११. सम्पादकों से अनुरोध, १२. हिन्दी में धींगा-धींगी, १३. अभिनन्दन का तमाशा, १४. हिन्दी पर सङ्कट, १५. 'गीता-धर्म' और गुप्त जी, १६. चौबे जी की लीला, १७. एक धन-कुबेर का क्रोध।

इनके अतिरिक्त प्रयाग के ही साप्ताहिक 'अभ्युदय' में प्रकाशित दो निबन्ध भी उक्त पुस्तिका 'कुछ खरी-खरी' में पठनीय हैं—१. शर्मा जी का गौरव, २. लहंगहे साहित्यिक। 'सरस्वती' में प्रकाशित जो दो निबन्ध इस पुस्तिका में संगृहीत हैं, उनके शीर्षक हैं—१. हिन्दी-पुस्तकों की खोज, २. मिश्र-बधुओं की भद्दी भूलें।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में निबन्ध

पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल में 'सरस्वती' की

पूर्व-परम्परा के अनुसार ही निबन्धों का प्रकाशन किया। यहाँ, शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' के निबन्धों की सूची उनके निबन्धकारों के उल्लेख-सहित प्रस्तुत की जा रही है—

लेखक का नाम	लेख का नाम	मास और वर्ष	
श्यामसुन्दर दास	हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन	फरवरी	१६२६
कृष्णप्रसाद गौड़	स्वराज्य-आन्दोलन का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव	फर०	३०
विश्वेश्वरनाथ रेउ	पुराणों पर एक दृष्टि	जुलाई	३०
अख्तर हुसेन रायपुरी	ग़ालिब की ठठोल	सित०	३०
अवध उपाध्याय	नाटक और उपन्यास	मार्च	३१
राहुल सांकृत्यायन	चौरासी सिद्ध	जून	३१
रामनरेश त्रिपाठी	दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार	मई	३२
श्यामसुन्दर व्यास	कला	जून	३३
वेंकटेशनारायण तिवारी	हिन्दी-साहित्य में ईश्वर की छीछालेदर	नवं०	३३
श्रीनाथ सिंह	घृणा के प्रचारक प्रेमचन्द	दिसं०	३३
परमानन्द	निश्चे और उसकी फिलासफी—संसार की उत्पत्ति और प्रलय	मार्च	३४
गुलाब राय	छायावाद क्या है ?	अप्रैल	३४
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	नाटक-समस्या	जून	३४
सेठ घनश्यामदास बिड़ला	पानी में भी मीन प्यासी	जुलाई	३४
श्रीप्रकाश	हिन्दू-धर्म क्या है ?	फर०	३५
उदयशङ्कर भट्ट	हमारे प्राचीन साहित्य का दृष्टिकोण	मार्च	३५
सियारामशरण गुप्त	अन्य भाषा का मोह	मई	३५
राधामोहन गोकुल जी	सत्यं शिवं सुन्दरं	जुलाई	३५
पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	गांधी और कबीर	जन०	३६
द्वारकाप्रसाद मिश्र	सूरदास का भक्ति-मार्ग	जन०	३६
कामताप्रसाद गुरु	बिहारी के विषय में मत-भिन्नता	फर०	३६
धीरेन्द्र वर्मा	साहित्यिक हिन्दी को नष्ट करने के उद्योग	अप्रैल	३७
हजारीप्रसाद द्विवेदी	कविता का भविष्य	जन०	४०
महादेवी वर्मा	आधुनिक हिन्दी-कवि और प्रकृति	मार्च	४०
मथुराप्रसाद दीक्षित	पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता	अप्रैल	४२
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	नाम	जुलाई	४३
चन्द्रबली पाण्डेय	हिन्दी-भाषा का प्रदेश	जून	४४
बालाजी राव जोशी	आधुनिक मराठी उपन्यास की रूप-रेखा	अप्रैल	४६

उपर्युक्त सूची से ही स्पष्ट है कि **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने हिन्दी के प्रायः सभी उच्चकोटि के लेखकों की रचनाओं का प्रकाशन 'सरस्वती' में किया। उपर्युक्त सूची से यह भी ज्ञात होता है कि शुक्ल जी की दृष्टि प्रायः प्रत्येक विषय पर थी क्योंकि साहित्य, दर्शन, राजनीति से अतिरिक्त ललित निबन्धों पर भी उन्होंने ध्यान दिया। उन्होंने जितने निबन्धों को 'सरस्वती' में स्थान दिया, वे उस समय के मूर्धन्य साहित्यकारों के लिखे हुए हैं तथा आज भी उनका स्थायी महत्व है। इनमें अधिकतर निबन्धों की शैली भी आलोचनात्मक रही है। कहना न होगा कि इन निबन्धों के आधार पर कालान्तर में चलकर कितने ही शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए गए, जिनसे हिन्दी में शोध-अनुसन्धान-कार्य को अग्र-गति मिली।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में उपन्यास

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की भाँति **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** के मन में भी बँगला साहित्य के प्रति विशेष अनुराग था। बख्शी जी ने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल में बँगला के उपन्यासों के अनुवाद प्रकाशित कर जिस परम्परा का श्रीगणेश किया था, उसे शुक्ल जी ने विस्मृत नहीं किया अपितु उनकी परम्परा का निर्वाह करते हुए इण्डियन प्रेस के तत्कालीन सञ्चालक बाबू हरिकेशव घोष के कहने पर मौलिक उपन्यासों को भी 'सरस्वती' में स्थान दिया। शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है कि "....प्रेस के मैनेजर श्री हरिकेशव घोष ने मुझे अनुमति दी कि 'सरस्वती' में अब मौलिक उपन्यास ही छपने चाहिए, बँगला के अनुवाद नहीं। उन्होंने इसके लिए समुचित व्यवस्था भी कर दी थी। लेखक को उसकी रचना का कापीराइट दे दिया गया था। 'सरस्वती' में छापने भर के लिए पुरस्कार-रूप में समुचित धन की एक रकम देना निश्चित हो गया था। इस सम्बन्ध में सर्व-प्रथम मैंने महतो जी से ही पत्र-व्यवहार किया। उन्होंने प्रसन्नता के साथ मेरे प्रस्ताव को स्वीकार किया....।"

कहना न होगा कि पहले शुक्ल जी ने अनूदित उपन्यासों तथा बाद में मौलिक उपन्यासों को 'सरस्वती' में स्थान दिया। ये उपन्यास धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। यहाँ, उन्हीं उपन्यासों की सूची प्रस्तुत की जा रही है—

उपन्यास-कार का नाम	उपन्यास का नाम—अनुवादक का नाम	मास और सन्	
शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय	बैकुण्ठ का विल—रूपनारायण पाण्डेय	जन०	२६
मारस जोकई	टीमर के दो संसार ('टीमर्स ट्रू वर्ल्ड्स' का संक्षेप)—शशिशेखर गुप्त	जन०	२६
शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय	श्रीकान्त—रूपनारायण पाण्डेय	फर०	२६
जोसेफ़ वाल्सेमो	शशिशेखर गुप्त	मार्च	२६
चारुचन्द्र वन्द्योपाध्याय	धोखे की टट्टी—ठाकुरदत्त मिश्र	सितं०	२६
चारुचन्द्र वन्द्योपाध्याय	धोखा-धड़ी—ठाकुरदत्त मिश्र	अक्टू०	२६

सरोजकुमारी	द्वन्द्व—ठाकुरदत्त मिश्र	मार्च	३१
चारुचन्द्र वन्द्योपाध्याय	पथ-भ्रान्त पथिक—सुन्दरलाल त्रिपाठी	जन०	३३
सौरीन्द्रमोहन मुकर्जी	अज्ञात दिशा की ओर—ठाकुरदत्त मिश्र	अप्रैल	३६
कांचनमाला देवी	शनि की दशा — ,,	जन०	३७
सरोजकुमारी	रिक्ता — ,,	जुलाई	३९
नगेन्द्रनाथ गुप्त	ब्रजनाथ का विवाह — ,,	जन०	४१
शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय	शुभदा — ,,	फर०	४२
मोहनलाल महतो	शेष दान (मौलिक उपन्यास)	फर०	४३
इलाचन्द्र जोशी	निर्वासित ,,	अप्रैल	४४
श्रीमती निर्मला मित्र	अश्रु-हास ,,	मार्च	४६
कृष्णचन्द्र शर्मा	आदमी का बच्चा ,,	जुलाई	४६

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने पहले अनूदित उपन्यासों को 'सरस्वती' में स्थान देकर पाठकों में उपन्यास पढ़ने की रुचि पैदा की तथा हिन्दी-उपन्यासकारों के मन में प्रकाशन के प्रति ललक। इससे हिन्दी-पाठकों में जहाँ रुचि-वैविध्य आया, वहीं हिन्दी के उपन्यासकारों की शैली में विकास हुआ। यहाँ यह सूच्य है कि शुक्ल जी ने मौलिक उपन्यासकारों में महतो जी के बाद पं० इलाचन्द्र जोशी, श्रीमती निर्मला मित्र तथा कृष्णचन्द्र शर्मा की कृतियाँ तो प्राप्त कर लीं लेकिन 'सरस्वती' के पुराने कहानीकार बाबू वृन्दावनलाल वर्मा ने अहंमन्यता के कारण अपने उपन्यास प्रकाशनार्थ नहीं दिए, जिसका उल्लेख शुक्ल जी ने अत्यन्त दुःख के साथ किया है। एक बात जो विशेष उल्लेख-योग्य है, वह यह कि अनूदित उपन्यासों के कारण हिन्दी में पं० रूपनारायण पाण्डेय के अतिरिक्त पं० ठाकुरदत्त मिश्र जैसे कुशल अनुवादक अवतरित हुए। इसका श्रेय पं० देवीदत्त शुक्ल जी को ही है। उपन्यास के क्षेत्र में 'सरस्वती' के माध्यम से की गयी शुक्ल जी की ये सेवाएँ स्तुत्य कही जाएँगी।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में नाटक

यों पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी ने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल में नाटकों का प्रकाशन प्रारम्भ किया था लेकिन **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने बख्शी जी की उस परम्परा को अपने 'सरस्वती'-सम्पादन-काल में भी जीवित रखा। यही नहीं, बल्कि पण्डित देवीदत्त शुक्ल के समय में 'सरस्वती' में प्रकाशित नाटकों में वैविध्य भी आया। यहाँ, शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' के नाटकों आदि की सूची दी जा रही है, जो इस प्रकार है—

नाटक-कार का नाम	नाटक का नाम	मास और सन्
बदरीनाथ भट्ट	मिस अमेरिकन (प्रहसन)	जनवरी १६२६
सुदर्शन	प्रताप-प्रतिज्ञा	फर० २६
लाल दिलीप सिंह	मातृ-मूर्त्ति	फर० ३२
सुमित्रानन्दन पन्त	ज्योत्स्ना (नाटिका)	मई ३३
देवीप्रसाद गुप्त	अछूत-रहस्य (प्रहसन)	जुलाई ३३
रामकुमार वर्मा	दस मिनट (एकांकी)	सित० ३३
गणेशप्रसाद द्विवेदी	वह फिर आई थी	मार्च ३४
सेठ गोविन्द दास	स्पर्धा	जन० ३६
रवीन्द्रनाथ ठाकुर	नर्तकी की पूजा (अनु० ब्योहार राजेन्द्रसिंह)	फर० ३६
गोविन्दवल्लभ पन्त	दि परदा तोड़क क्लब	मई ३६
दुर्गादास भास्कर	कलिङ्ग युद्ध की एक रात (जॉन ड्रिङ्कवाटर के नाटक के आधार पर लिखित)	मई ३७
जगदीशचन्द्र माथुर	मेरी बाँसुरी	सित० ३७
उदयशङ्कर भट्ट	मत्स्य-गन्धा	दिस० ३७
मोहनलाल महतो	मरण-बेला	जन० ३८
उपेन्द्रनाथ अश्क	अधिकार का रक्षक (एकाङ्की)	जून ३८
ज्वालादत्त शर्मा	बाबू घनानन्द (व्यंग्य-विनोद)	जुलाई ४०
ज्वालादत्त शर्मा	छींटे (धारावाहिक)	सित० ४०
ब्रजमोहन व्यास	छोटा	अप्रैल ४१
गणेशप्रसाद द्विवेदी	स्त्री (रेडियो नाटक)	मई ४२
प्रभाकर माचवे	सत्यान्त (नाटिका)	मार्च ४४
गोविन्दवल्लभ पन्त	विष का दाँत (")	अगस्त ४४
प्रभासकुमार	कुमारी भिक्षुणी	अक्टू० ४६

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** कालीन 'सरस्वती' में नाटक, नाटिका, प्रहसन, रेडियो नाटक, एकाङ्की तथा व्यंग्य-विनोद आदि का प्रकाशन हुआ। कहना न होगा कि पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने बख्शी जी की परम्परा को यथेष्ट रूप में आगे बढ़ाया। इससे जहाँ बख्शी जी की योजनाओं को एक ठोस रूप प्राप्त हुआ, वहीं हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि भी हुई।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में उपयोगी साहित्य

पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने जिस प्रकार 'सरस्वती' में ललित साहित्य का प्रकाशन कर हिन्दी के भण्डार को पूरित किया, उसी प्रकार उन्होंने उपयोगी साहित्य

को भी स्थान देकर पाठकों का ज्ञान-वर्द्धन किया। शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में प्रकाशित उपयोगी साहित्य का विवेचन इस प्रकार है—

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में इतिहास तथा पुरातत्त्व-विषयक साहित्य

पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी की तरह 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल में इतिहास और संस्कृति-सम्बन्धी अनेक लेख प्रकाशित किए। यहाँ, शुक्ल-कालीन सरस्वती के उन प्रमुख लेखों का उल्लेख करना प्रासङ्गिक होगा, जो इस प्रकार हैं—

लेखक का नाम	**लेख का नाम**	**मास और सन्**	
ब्रजरत्न दास	शेरशाह सूरी	फरवरी	१६२६
ईश्वरीप्रसाद	मुगल बादशाहों का हरम	जून	२६
महावीरप्रसाद द्विवेदी	नायक नरेशों के अमात्य गोविन्द दीक्षित	फर०	२६
भाई परमानन्द	हिन्दू शब्द	फर०	३१
सूर्यनारायण व्यास	विक्रमादित्य और शालिवाहन	सित०	३२
आर० एस० पण्डित	कल्हण की राज-तरङ्गिणी	अगस्त	३३
जवाहरलाल नेहरू	देहरादून जेल से अन्तिम पत्र	फर०	३४
रघुवीर सिंह	ऐतिहासिक खोज का अनुकरणीय आदर्श	मई	३४
नानालाल चमनलाल मेहता	हिन्दू चित्र-कला	जन०	३५
ब्रजमोहन व्यास	नागौद की प्राचीन मूर्त्तियाँ	मार्च	३८
सतीशचन्द्र काला	मथुरा की ऐतिहासिकता और कला	मार्च	३६
क्षितिमोहन सेन	आर्य और द्रविड़ सभ्यताओं का मिलन-क्षेत्र—ताम्रलिप्ति	फर०	४०
सम्पूर्णानन्द	हमारे सांस्कृतिक पतन का एक चित्र	अप्रैल	४२
गोविन्द शास्त्री दुगवेकर	जर्मन दरबार में ब्रिटिश राजदूत	नव०	४२
ज्ञानचन्द्र मोहिले	मध्य-भारत के कुछ ऐतिहासिक मन्दिर	दिस०	४४
भगवतीप्रसाद पान्थरी	सिन्ध-विजय के कारण और प्रतिफल	मार्च	४६

प्रस्तुत सूची से ही स्पष्ट है कि **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने जिन लेखकों के लेखों को 'सरस्वती' में प्रकाशित किया, वे अपने-अपने क्षेत्रों के प्रसिद्ध विद्वान् थे। बाद में इनमें से कितने ही प्रसिद्ध इतिहासकार हुए। ऐसे लेखकों की रचनाओं को इकट्ठा करना ही सर्वाधिक दुष्कर और बड़ा कार्य था लेकिन पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने उसमें सफलता प्राप्त की और इतिहास के भाण्डार को अपने प्रयास से भरा। 'सरस्वती' के लिए उनका यह प्रयास स्तुत्य ही कहा जाएगा।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में भूगोल तथा यात्रा-विषयक साहित्य

पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की भाँति 'सरस्वती' में भूगोल तथा यात्रा-विषयक अनेक लेख प्रकाशित किए। उनमें कुछ प्रमुख लेख इस प्रकार हैं—

लेखक का नाम	लेख का नाम	मास और सन्	
रामनारायण मिश्र	उत्तरी ध्रुव की यात्रा	फरवरी	१९२९
दामोदर साधु	लङ्का के लोग और भिक्षु	जुलाई	२९
कृपानाथ मिश्र	बर्लिन	मई	३१
धर्मवीर	सीमा-प्रान्त और भारत	जुलाई	३१
श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित	कृष्ण-भूमि काठियावाड़	मार्च	३४
ब्रजमोहन नेहरू	मेरी रूस-यात्रा	दिस०	३४
हेमचन्द्र जोशी	'मेरी योरप यात्रा' के पृष्ठों से	जन०	३५
भदन्त आनन्द कौसल्यायन	श्याम-यात्रा	मई	३५
हरिकेशव घोष	योरप—जैसाकि मैंने उसे देखा	जुलाई	३५
नरेन्द्र शर्मा (अनु०)	आकाश-मार्ग में (पं० नेहरू का पत्र श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के नाम)	अक्टू०	३५
श्रीमती महादेवी वर्मा	स्वर्ग का एक कोना	दिस०	३५
श्रीमती रामेश्वरी नेहरू	मेरी मैसूर-यात्रा	अगस्त	३७
फेन मुकर्जी	मैं तिब्बत कैसे गया ?	मार्च	३९
उमेशचन्द्र मिश्र	हरद्वार से लछमन-झूला	मार्च	४४

उपर्युक्त सूची के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि **पंडित देवीदत्त शुक्ल** कालीन 'सरस्वती' में यात्रा-विषयक लेखों का ही प्राधान्य रहा। इन लेखों की सर्वाधिक उत्कृष्ट विशेषता यह रही है कि इन लेखों के पढ़ने से बैठे-बैठे संसार भर की भौगोलिक दशाओं, रीति-रिवाज, संस्कृति आदि का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' की पूर्व-परम्परा को आगे ही बढ़ाया।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में समाज-शास्त्र-विषयक साहित्य

पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की भाँति 'सरस्वती' में समाज-शास्त्र-विषयक अनेक लेख प्रकाशित किए। इनमें प्रमुख रूप से शिक्षा, राजनीति, आर्थिक दशा, समाजोत्थान से सम्बन्धित लेखों को पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने चुना। यहाँ उनमें से कुछ प्रमुख लेखों की सूची प्रस्तुत की जा रही है—

लेखक का नाम	लेख का नाम	मास और वर्ष
महावीरप्रसाद द्विवेदी	आई० सी० एस० की परीक्षाएँ	जनवरी १९२९
रामप्रसाद त्रिपाठी	स्वराज्य-प्राप्ति में अड़चनें	जन० ३०
द्वारकाप्रसाद मिश्र	स्वराज्य-आन्दोलन और साम्प्रदायिक समस्या	जन० ३०
अमरनाथ झा	शिक्षा में स्वराज्य	जन० ३०
ईश्वरप्रसाद	भारत की राष्ट्रीय तरङ्ग और गोलमेज-सभा	जन० ३१
हृदयनाथ कुंजरू	ह्वाइट पेपर और पार्लियामेण्टरी डिबेट	मई ३३
मुंशी ईश्वरशरण	हिन्दू-धर्म और हरिजन	मई ३३
कृष्णकान्त मालवीय	कारण क्या है ?	जून ३३
प्रकाशनारायण सप्रू	भारत की वर्तमान राजनैतिक अवस्था	जन० ३४
जवाहरलाल नेहरू	भाई परमानन्द और स्वराज्य	अक्टू० ३५
मोहनलाल नेहरू	नारी-अपहरण में हिन्दू-समाज की जिम्मेदारी	दिस० ३५
राममनोहर लोहिया	पर-राष्ट्र नीति	अक्टू० ३६
भगवान दास	हिन्दू-अन्तर्वर्ण-विवाह	अक्टू० ३६
सम्पूर्णानन्द	कांस्टिटुएण्ट असेम्बली	नव० ३७
कमलापति शास्त्री	कांग्रेस द्वारा मन्त्रि-पद ग्रहण का रहस्य	नव० ३७
लालबहादुर शास्त्री	शराब-बन्दी का कार्य	नव० ३७
गोविन्दवल्लभ पन्त	विधान-निर्मात्री परिषद्	नव० ३७
वेङ्कटेशनारायण तिवारी	अल्पता की समस्या	जन० ३९
अवनीन्द्र विद्यालङ्कार	भारतीय जहाजी व्यवसाय और सरकारी उपेक्षा-नीति	जून ३९
स्व० लाला हरदयाल	हिन्दू-जाति की सामाजिक विजय	जुलाई ३९
परिपूर्णानन्द वर्मा	महा-युद्ध और भारतीय व्यवसाय	नव० ४१
उमेशचन्द्र मिश्र	पूर्व का स्वर्ग	अप्रैल ४२
सन्तराम	हिन्दुओं से कुछ प्रश्न	सित० ४३
गोविन्दशास्त्री दुगवेकर	कागजी चलन	अप्रैल ४४
भवानीदयाल संन्यासी	दक्षिण अफ्रीका में श्वेताङ्ग-नीति का नग्न-नृत्य	अगस्त ४६

उपर्युक्त सूची से ही स्पष्ट है कि पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने अत्यन्त परिश्रम से 'सरस्वती' का सम्पादन किया, क्योंकि इन लेखों में समाज के प्रायः प्रत्येक पक्ष पर दृष्टि निक्षिप्त की गयी है। ध्यातव्य है कि 'सरस्वती' में प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों के

जो लेख प्रकाशित हुए, वे 'सरस्वती' के दूसरे सम्पादक ठाकुर श्रीनाथ सिंह के प्रयास के सुफल हैं। समग्रतः कहा जा सकता है कि पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' की प्रतिष्ठा को किसी प्रकार लुप्त नहीं होने दिया।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में वैज्ञानिक साहित्य

वैज्ञानिक लेखों के प्रकाशन की परम्परा तो 'सरस्वती' में उसके जन्म से ही चली आ रही थी। द्विवेदी जी और बख्शी जी के प्रयास से वैज्ञानिक साहित्य का यथेष्ट विकास भी हुआ। **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने भी वैज्ञानिक लेखों को 'सरस्वती' में पर्याप्त स्थान दिया। यहाँ कुछ प्रमुख वैज्ञानिक लेखों की सूची दी जा रही है—

लेखक का नाम	**लेख का नाम**	**मास और वर्ष**
गिरिजादत्त शुक्ल	भारतीय महिलाओं की स्वास्थ्योन्नति का उपाय	जनवरी १९२९
श्रीराम वाजपेयी	इटली में शारीरिक शिक्षा	अक्टू० २९
केशवदास	एक्सरे	दिस० २९
अवध उपाध्याय	परलोक-पाखण्ड	अप्रैल ३१
मङ्गलप्रसाद विश्वकर्मा	हस्तरेखा-शास्त्र	जन० ३३
प्रभुनारायण मेहरोत्रा	भारतीय जल-सेना	नव० ३३
केदारनाथ गुप्त	रोग और उसकी प्राकृतिक चिकित्सा	जून ३४
मुकुन्दीलाल,	जङ्गली जन्तुओं की रक्षा	जन० ३५
के० एन० गाडगिल	क्या विज्ञान मृतकों में जान फूंक सकता है?	अप्रैल ३५
नलिनी सेन	जापान में मोतियों की खोज	अप्रैल ३७
जगन्नाथ खन्ना	विद्युत्-नेत्र	अप्रैल ३८
दीवान रामचन्द्र कपूर	प्राकृतिक उपद्रवों की ज्यौतिषिक कल्पना	अगस्त ३९
एस० पी० कर्नेल	सिग्मण्ड फ्रायड और उनके अन्वेषण	नव० ३९
फूलदेव सहाय वर्मा	आग पर चलना	दिस० ३९
सूर्यनारायण व्यास	नीलाम्बर से नक्षत्र-वर्णन	जन० ४०
गोरखप्रसाद	भारत सरकार और वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द	फर० ४२
बालकृष्ण शर्मा	क्षय-रोग का दमन	अप्रैल ४३
ए० सी० बनर्जी	परमाणु-बम	जन० ४६
श्रीमती कमला रत्नम्	मानसिक व्यायाम	अक्टू० ४६

वैज्ञानिक लेखों की इस सूची से स्पष्ट है कि **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने 'सरस्वती' की परम्परा को सञ्जीवित तो रखा ही, साथ ही विज्ञान के बहु-विध

क्षेत्रों के लेखों का प्रकाशन किया। **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** कालीन 'सरस्वती' में स्वास्थ्य, चिकित्सा, ज्योतिष, नक्षत्र, मनोविज्ञान, परमाणु से सम्बन्धित अनेक लेख प्रकाशित हुए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने द्विवेदी जी और बख्शी जी के आदर्शों को विस्मृत नहीं होने दिया।

देवीदत्त शुक्ल कालीन 'सरस्वती' के स्तम्भ

'सरस्वती' में उसके जन्म से ही अनेक स्तम्भ चले आ रहे थे, जिनमें विविधता, मनोरञ्जन एवं ज्ञान आदि सभी दृष्टियों से आकर्षणीय सामग्री प्रकाशित होती रही। पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन में भी अनेक स्तम्भ चलाए, जिनका विवेचन इस प्रकार है—

विविध विषय : पण्डित देवीदत्त शुक्ल कालीन 'सरस्वती' का यह एक ऐसा स्तम्भ था, जो बख्शी-कालीन 'सरस्वती' से ही चला आ रहा था। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें विविध प्रकार की सामग्री प्रकाशित होती रही। **'विविध विषय'** में जहाँ कामताप्रसाद गुरु (मेरा घर), रामचरित उपाध्याय (पिता) की कविताएँ प्रकाशित हुईं, वहीं गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा (भाटों की ख्यातें और महारानियों के नाम), विश्वेश्वरनाथ रेउ (सामन्त देव का सिक्का) के इतिहास-विषयक लेख प्रकाशित हुए। महेशप्रसाद ने जहाँ 'अरबी का एक सर्वश्रेष्ठ लेखक', 'बकरीद' आदि लेख लिखे, वहीं शिवानन्द मैथिल लिखित 'रायबहादुर श्यामसुन्दर दास' एवं त्रिलोकीनारायण दीक्षित लिखित 'पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक' नामक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं। डॉ० सावरकर ने 'नागरी लिपि का सुधार' तथा बेचूनारायण ने 'सानुनासिक अक्षर' जैसे भाषा एवं व्याकरण-सम्बन्धी लेख लिखे। इसी प्रकार, इस स्तम्भ में अनेक लेख प्रकाशित हुए।

चारु चयन : यह एक ऐसा स्तम्भ था, जिसमें पाठकों की रुचि-चारुता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। उल्लेखनीय है कि यह स्तम्भ बख्शी जी ने अपने 'सरस्वती'-सम्पादन-काल में प्रारम्भ किया था। **पं० देवीदत्त शुक्ल** ने उनकी परम्परा का अपने सम्पादन-काल में भी निर्वाह किया। इस स्तम्भ में प्रायः प्रत्येक विधा की प्रतिनिधि रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होती थीं। **'चारु चयन'** के अन्तर्गत जहाँ भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित कहानी 'झरना' (भारतवर्ष से), इकबाल वर्मा 'सेहर' लिखित 'हाफिज की एक गजल' (फारसी से), किशोरीदास वाजपेयी लिखित 'खटमल बाईसी' (व्यंग्य), चन्द्रबली पाण्डेय लिखित 'छायावाद' (समीक्षात्मक निबन्ध) आदि प्रकाशित हुए, वहीं सर प्रफुल्लचन्द्र राय लिखित 'हिन्दू रसायन-शास्त्र की प्राचीनता' (अनु० जगन्नाथ सिंह शर्मा) एवं महात्मा गांधी लिखित 'अस्तेय व्रत' जैसे लेख प्रकाशित हुए। इस स्तम्भ के अन्तर्गत आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र लिखित 'स्व० लाला भगवानदीन' और साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा के ऊपर लिखी हुई

टिप्पणियाँ द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार अनेक रचनाएँ इस स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित हुईं। इस स्तम्भ की रचनाओं और रचनाकारों के आधार पर कहा जा सकता है कि **पं० देवीदत्त शुक्ल** ने 'सरस्वती' के स्तर को निरन्तर प्रगतिशील बनाए रखा।

अपनी बात, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, सम्पादकीय नोट, सम्पादकीय

इस स्तम्भ में अधिकतर टिप्पणियाँ शुक्ल जी द्वारा ही लिखी गई हैं। इनमें कुछ ऐसी भी टिप्पणियाँ रही हैं, जिनको 'सरस्वती' के अन्य सुधी लेखकों ने लिखा है। इन स्तम्भों में जहाँ पत्रों की पराधीनता, समाचार-पत्र और सत्य, हिन्दी की मासिक पत्रिकाएँ और 'भारत', 'सरस्वती' और 'अभ्युदय', समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में (गांधी जी), हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में सुघरता, हिन्दी मासिक पत्रों में चित्र, हिन्दी के पत्रकार जैसी पत्रकारिता-विषयक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं, वहीं हिन्दी में आलोचना, साहित्यिक चिट्ठी, आलोचना और सदाचार (माखनलाल चतुर्वेदी), नवयुवक लेखकों के पक्ष में, हिन्दी की वर्त्तमान दशा, राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न, दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार, आचार्य द्विवेदी का संदेश, उपन्यासों में जीवन, समालोचकों के प्रति, हिन्दी की अवस्था, इण्टरव्यू और संस्मरण, कविरत्न सत्यनारायण जी की जीवनी, समालोचना का विद्रूप, आचार्य द्विवेदी जी का अप्रकाशित साहित्य, हिन्दी में हास्य और विनोद जैसे अनेक शुद्ध साहित्यिक लघु लेख (टिप्पणियाँ) भी प्रकाशित हुए।

इन स्तम्भों में एक ओर जहाँ पं० राधाचरण गोस्वामी का स्वर्गवास (गिरीश), पं० माधवराव सप्रे (ज्ञ), स्व० म० म० पं० रामावतार शर्मा, बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त, स्व० व्योमकेश चक्रवर्त्ती, स्व० महाराजा मणीन्द्रचन्द्र नन्दी, स्व० सर प्रमदाचरण बनर्जी, स्व० राखालदास वन्द्योपाध्याय, स्व० मेजर वामनदास वसु, मौलाना मुहम्मद अली का देहावसान, त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू का देहावसान, स्व० रायसाहब प्रो० सतीशचन्द्र देव (हीरालाल दूबे), स्व० श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थी, श्रीमती एनी बेसेण्ट का स्वर्गवास, लाल कन्नोमल का स्वर्गवास, स्व० शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, स्व० रामचरित उपाध्याय, स्वर्गीया माता स्वरूपरानी नेहरू, कुं० राजेन्द्र सिंह का स्वर्गवास, आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय का स्वर्गवास तथा मालवीय जी का स्वर्गवास जैसी श्रद्धाञ्जलि-परक अनेक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं; वहीं इन स्तम्भों में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सामयिक भाषाओं तथा विद्वानों के विचार सङ्कलित हैं।

इस स्तम्भ में राजनीतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व की बातों पर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया है, जैसा कि पूँजीवाद और साम्यवाद, साम्यवाद के विरोध में, रूस और एशिया के राष्ट्र, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, महात्मा गांधी और विदेशी वस्तुओं की होली, भारत की वर्त्तमान राजनैतिक दशा, भारत और स्वराज्य, महात्मा गांधी और सविनय अवज्ञा, भारत की वर्त्तमान अवस्था पर कवीन्द्र का मत, महात्मा गांधी का उपवास, जिन्ना साहब की विपरीत बुद्धि, मुस्लिम लीग की जीत, आदि

टिप्पणियों से स्पष्ट प्रतीत होता है । इन टिप्पणियों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'सरस्वती' उस समय की अत्यन्त जागरूक पत्रिका रही है क्योंकि देश में घटित हर समस्या एवं घटना पर उसकी पैनी दृष्टि रही है। 'सरस्वती' समाज के अन्य दूसरे पक्षों की ओर से भी अन्यमनस्क नहीं रही, जैसा कि विज्ञापन की उपयोगिता, युद्ध-कला और विज्ञापन, शिक्षा का महत्त्व, सिनेमा और शिक्षा-प्रचार, पढ़े-लिखों की बेकारी (मेहता साहब), कलकत्ते का खूनी दंगा, गृह-जीवन में असन्तोष, नवयुवकों का स्वास्थ्य, मालवीय जी और अछूतोद्धार, मेहतरों की माँगें, बाल-विवाह, निषेध का कानून, भारत में हड़ताल आदि टिप्पणियों से स्पष्ट हो जाता है ।

विचार-विमर्श : पण्डित देवीदत्त शुक्ल कालीन 'सरस्वती' का यह एक ऐसा स्तम्भ था, जिसमें सम-सामयिक साहित्यिक विषयों पर विचार-विमर्श तत्कालीन धुरन्धर हिन्दी-समालोचकों द्वारा प्रस्तुत किया जाता था । यों, **'विचार-विमर्श'** की परम्परा तो द्विवेदी-कालीन 'सरस्वती' की इस काल को देन थी । बख्शी जी ने उसमें पाश्चात्य साहित्य को और स्थान दिलाया, विशेष कर शैली की दृष्टि से । यही कारण था कि उनके समय समीक्षाओं का स्वरूप व्यापक हो गया ।

शुक्ल जी के भी समय में 'सरस्वती' में विचार-विमर्श करने की रीति में नीर-क्षीर-विवेक की भावना ही अधिक परिलक्षित हुई है । उनका निज-विचार था कि '....समालोचना का साहित्य के विकास में सदैव गहरा प्रभाव पड़ा है । हमारी हिन्दी में भी समालोचनाओं ने समय-समय पर अपने वैसे प्रभाव का परिचय दिया है, परन्तु ऐसी समालोचनाएँ उतनी अधिक नहीं दिखाई देतीं । कभी-ही-कभी उनके दर्शन होते हैं । अधिकतर ऐसी ही समालोचनाओं का बाहुल्य दिखाई देता है, जिनमें या तो व्यक्ति-गत द्वेष के कारण दिल के फफोले फोड़े जाते हैं या अपने मित्र या कृपा-पात्र लेखकों को मैदान में आगे बढ़ाने के लिए उनकी पक्षपात-पूर्ण समालोचनाएँ की जाती हैं । या कुछ चुने हुए बड़े लेखकों का प्रसाद पाने के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती है । मैंने देखा कि जब देखो, तब प्रायः कुछ चुने हुए दो-चार चोटी के लेखकों की प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं अथवा दो-चार नगरों के साहित्यिकों की धवल-कीर्ति को धवलतर बनाने के लिए समय-समय पर उनकी प्रशंसात्मक समालोचनाएँ की जाती हैं....।'

कहना न होगा कि शुक्ल जी की धारणा बड़ी स्पष्ट थी । उनके मन में किसी भी लेखक के प्रति कोई पूर्वाग्रह न था । उन्होंने कृतियों की आलोचना की और करवाई, व्यक्तियों की नहीं । प्रेमचन्द की करतूत अथवा रंगभूमि, आँख की किरकिरी और रंगभूमि, काव्य में रहस्यवाद (अवध उपाध्याय), खड़ी बोली का नाम, प्रसाद जी तथा उनका नाग-यज्ञ (चन्द्रबली पाण्डेय), वीर-सतसई के कुछ बढ़िया दोहे (किशोरीदास वाजपेयी), भोजपुरी की प्रकृति-परीक्षा, वर्तमान हिन्दी कविता, महिलाओं की लिखी कहानियाँ (हजारीप्रसाद द्विवेदी), कर्म-भूमि (गणेशप्रसाद द्विवेदी),

कामायनी—एक अध्ययन (उमेशचन्द्र देव), हिन्दी और उर्दू का मुकाबला (रविशंकर शुक्ल), जैसे अनेक विषयों पर विचार-विमर्श प्रस्तुत किया गया।

साहित्यिक विषयों से इतर इतिहास-सम्बन्धी विषयों पर भी शुक्ल जी ने समीक्षाएँ प्रस्तुत कराईं। भारत-इतिहास (एक इतिहास-प्रेमी), चंद के वंशज और झल्ल-कृत रासो (विश्वेश्वर नाथ रेउ), क्या कार्ल मार्क्स रूसी था ? (मथुरालाल शर्मा), क्या रावण की लंका मध्य भारत में हो सकती है ? (सूर्यनारायण व्यास), भावी स्वराज्य में सनातन धर्म (गंगानारायण चौबे) आदि इनमें से कुछ प्रमुख हैं। इसी प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'आयुर्वेद-महत्त्व', सन्तराम ने 'लाला कन्नोमल का समाज-सुधार' तथा शम्भुनाथ त्रिपाठी ने 'परमाणु से संसार की उत्पत्ति' जैसे विषयों की समालोचनाएँ प्रस्तुत कीं।

'हास्य और विनोद' तथा 'कुछ इधर-उधर की : शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' के ये दो ऐसे स्तम्भ हैं, जिनमें हास्य, विनोद तथा व्यंग्य से भरपूर छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ तथा बातें संग्रहीत हैं। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है, "....उन्हीं (बाबू शिवपूजन सहाय) के कहने पर मैंने फरवरी, ३३ के अङ्क से 'सरस्वती' में 'हास्य और विनोद' का स्तम्भ खोला, जिसे वे बराबर लिखते रहे। कुछ लोगों को उसमें व्यक्तिगत आक्षेपों की गन्ध मिलने लगी परन्तु वैसा होना अनिवार्य भी था। उनका हास्य और विनोद प्रति मास छपता था। पाठक उस स्तम्भ को बड़े चाव से पढ़ते थे....।"

इसी स्तम्भ में आगे चलकर शुक्लजी ने कार्टूनों को भी स्थान दिया। इन कार्टूनों में पोशाक-माहात्म्य (विनय द्वारा निर्मित), नवशिक्षिता, अंग्रेजी शासन का गौरव, पुलिस-लीला, साहित्य-आलोचना, अछूतोद्धार (टी० के० द्वारा निर्मित), आनरेरी मजिस्ट्रेटी न्याय, काबुल में नई और पुरानी सभ्यता, घर-बाहर, नई होली (टी० के०), अछूत-समस्या, बम्बई में हड़ताल, इलाहाबाद में जल कष्ट नं० १, प्राचीन व्यायाम और मातृ-स्नेह, आधुनिक व्यायाम और मातृ-स्नेह, विधवा-समस्या (डी० चटर्जी), पुलिस की मुस्तैदी का नमूना, कागजी स्वराज्य, नए साल का बजट, हिन्दी साहित्यिकों की भों-भों, लोक-मत की उपेक्षा, घासलेट-आन्दोलन, सम्मेलन का खूंटा, अपनी-अपनी धुन, छायावाद ?, तीर्थ-यात्री, शास्त्राज्ञा-पालन आदि प्रमुख हैं।

इन कार्टूनों की तुलना शक्कर से ढँकी (शुगर-कोटेड) कुनैन की गोली से करना उचित होगा क्योंकि ऐसे ही कार्टूनों से हास्य की ओट में तीखे सत्य का प्रहार हुआ है तथा ये कार्टून समाज में व्याप्त दोषों को दूर करने में सफल हुए होंगे। कार्टून तो हमारे साहित्य में एक प्रकार से अमोघ शक्ति हैं। कहने का तात्पर्य यह कि जो पाठक कार्टून देखें, उनको अलग आनन्द है तथा जिनको लक्ष्य करके ये बनाए जाएँ, वे उन्हें देखकर सँभल जाएँ तथा अपने अन्दर सुधार करें। द्विवेदी-कालीन 'सरस्वती'

में जहाँ साहित्यिक विषयों को लेकर अधिकतर कार्टून निर्मित किए गए, वहीं शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों को दूर करने की दृष्टि से अधिक कार्टून निर्मित किए गए।

'पुस्तक परिचय' या **'नयी पुस्तकें'** : इन स्तम्भों की 'सरस्वती' की अपनी खास विशेषता रही है। आचार्य द्विवेदी ने तो अपने पूरे सम्पादन-काल में पुस्तकों की समीक्षा और परिचय पर विशेष बल दिया था। इस प्रकार, शुक्ल जी ने भी द्विवेदी जी की परम्परा का पालन किया। इस स्तम्भ के अन्तर्गत उन्होंने हरेक विषय की नई-से-नई पुस्तकों का परिचय प्रस्तुत किया, ताकि पाठकों का ज्ञान-वर्द्धन हो सके।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में जहाँ पद्म-प्रसून (अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'), महाकवि अकबर और उनका उर्दू काव्य (उमराव सिंह), रुबाइयात उमर खैयाम (अनु० मैथिलीशरण गुप्त), आँसू (जयशङ्कर प्रसाद), खय्याम की मधुशाला (अनु० बच्चन), मधुशाला (अनु० बच्चन), रेणुका (दिनकर), नूरजहाँ (गुरुभक्त सिंह 'भक्त'), सखी-निरुपमा-गीतिका (निराला), मधुबाला (बच्चन), द्वापर-सिद्धराज (मैथिलीशरण गुप्त), अनामिका (निराला), ग्राम्या (सुमित्रानन्दन पन्त), सूर-विनय-पत्रिका (सं० वियोग हरि), कविता-कौमुदी जैसी अनेक कृतियों के परिचय प्रस्तुत किए गए, वहीं उपन्यासों में 'सौ अजान एक सुजान' (स्व० बालकृष्ण भट्ट), अप्सरा (सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'), परख (जैनेन्द्रकुमार), गबन (प्रेमचन्द), शेखर : एक जीवनी (अज्ञेय) जैसे अनेक उपन्यास प्रमुख थे।

यों, शुक्ल जी के समय में प्रायः साहित्य की हर विधा की पुस्तकों के परिचय दिए जाते थे। इनमें जहाँ 'पंजाबी और हिन्दी का भाषा-विज्ञान' (दुनीचन्द), रस-गङ्गाधर-पूर्वार्द्ध (पुरुषोत्तमदास चतुर्वेदी), व्रजभाषा-व्याकरण (धीरेन्द्र वर्मा), व्रज-भाषा का व्याकरण (पं० किशोरीदास वाजपेयी), जैसी पुस्तकों के परिचय दिए गए, वही अलङ्कार-पीयूष-पूर्वार्द्ध (रमाशङ्कर शुक्ल 'रसाल'), रस और अलङ्कार (किशोरी-दास वाजपेयी) जैसी अनेक काव्य-शास्त्र-सम्बन्धिनी पुस्तकों के भी परिचय दिए गए। यद्यपि इन पुस्तकों की विस्तृत समीक्षा नहीं की गई है तथापि इनके परिचय से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि समीक्ष्य पुस्तकें पाठकों के लिए अत्यन्त श्रेयस्कर थीं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' (गुलाब राय) और 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' (हजारीप्रसाद द्विवेदी) प्रमुख रहे हैं। यों, लेखाञ्जलि (महावीरप्रसाद द्विवेदी), साहित्य-सन्दर्भ (म० प्र० द्वि०), प्रायश्चित्त और उन्मुक्ति का बन्धन (पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी), द्विवेदी-मीमांसा (प्रेमनारायण टण्डन), प्रेमचन्द (रामविलास शर्मा), हिन्दी-विश्वकोश जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों पर दृष्टि डाली गयी। व्यंग्य और नाटक जैसी विधाओं में भी 'गधे की कहानी' (भूप-

नारायण दीक्षित), बनारसी एक्का (कृष्णप्रसाद गौड़), चित्राङ्गदा (गीति-नाट्य—रवीन्द्रनाथ टैगोर-अनु० मुंशी अजमेरी), ज्योत्स्ना (सुमित्रानन्दन पन्त) जैसी कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार पञ्जाब-केशरी लाला लाजपत राय (सं० इन्द्र विद्या-वाचस्पति) तथा स्मृति-शक्ति—राबर्ट क्लाइव (पं० द्वारकाप्रसाद शर्मा) जैसी जीवनियों को भी देखा जा सकता है।

इतिहास, धर्म, यात्रा, अर्थ-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक पुस्तकों का परिचय इस स्तम्भ में दिया गया है। इनमें हिन्दू-भारत का उत्कर्ष (चिन्तामणि विद्या-विनायक), प्रयाग-प्रदीप (शालिग्राम श्रीवास्तव), कुरान में परिवर्तन (सत्यदेव), हिन्दुत्व (अनु० लक्ष्मण गर्दे), ऋग्वेदालोचन (नरदेव शास्त्री, वेद-तीर्थ), भगवद्-गीता की समालोचना (परमहंस सोऽहं स्वामी), ऋग्वेद-संहिता, प्रथम अष्टक (टी० रामगोविन्द तिवारी), मेरी ईरान-यात्रा (महेशप्रसाद मौलवी), तिब्बत में सवा बरस (राहुल सांकृत्यायन), कौटिलीय अर्थ-शास्त्र (अनु० प्राणनाथ विद्यालङ्कार), कौटिलीय अर्थ-शास्त्र (अनु० विद्याभास्कर एवं प्रो० उदयवीर शास्त्री) आदि कृतियाँ प्रमुख रही हैं। जहाँ सङ्गीत जैसे ललित विषय पर तबला-ताल-संग्रह (रामदास अग्रवाल), हारमोनियम-विज्ञान (कुँ० खंगसिंह शर्मा), आदि का परिचय दिया गया, वहीं विज्ञान की पुस्तकों में कार्बनिक रसायन, वैज्ञानिक परिभाषा, साधारण रसायन (सभी सत्यप्रकाश लिखित), आधुनिक छपाई (कृष्णप्रसाद दर) तथा मलेरिया जैसी पुस्तकें भी छूटने नहीं पाईं।

यही नहीं, कौन पञ्चाङ्ग कैसा है, कितना उपयोगी है, आदि से सम्बन्धित कितनी ही बातें बताई गई हैं। इनके लिए चन्द्र-पञ्चाङ्ग सम्वत् १९९३, दुर्गा पञ्चाङ्ग सं० १९८३, सायन पञ्चाङ्ग सं०१९८२-८३ आदि की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इसी स्तम्भ के अन्तर्गत कभी-कभी दैनिक जीवन में उपयोग में आनेवाली चीजों की भी आलोचना कर दी गई है, यथा सुगन्धित तेल (प्रभुदयाल शर्मा)।

इस स्तम्भ से पाठकों को यह तो ज्ञात होता ही है कि कौन पुस्तक कहाँ प्राप्त होगी, उसका लेखक कौन है, या वह पुस्तक उपयोगी है या अनुपयोगी, साथ ही उसे इस बात का भी ज्ञान हो जाता है कि उस समय साहित्य की गति क्या थी और उसका विकास कहाँ तक, किस दिशा में हुआ था।

सामयिक विचार-प्रवाह, सामयिक पञ्चाङ्ग एवं सामयिक साहित्य : ये स्तम्भ बख्शी-कालीन 'सरस्वती' के **'संसार की गति'** एवं **'देश की कथा'** जैसे ही थे, जिन्हें उस समय स्वयं शुक्ल जी लिखा करते थे। बाद में उन्होंने अन्य लेखकों से तो लिखवाया ही, वे स्वयं भी कल्पित नामों से लिखते रहे। शुक्ल जी ने जब कार्य-भार सँभाला, तो ये स्तम्भ पुराने नामों से ही चलते रहे। योरप में सङ्गठन की चर्चा, इटली की वर्तमान दशा, एशिया की जाग्रति, योरप की वर्तमान दशा (मुरलीधर नागर), नवीन तुर्की (रामावतार शर्मा), भारतवर्ष में मजदूरों की दशा (क्ष), भारत की व्यापार-नीति, अंग्रेजी भारत के शिक्षा-विभाग की रिपोर्ट आदि ऐसे ही विषय थे।

'सामयिक विचार-प्रवाह' में जहाँ जर्मन लोगों का आकाश-सामर्थ्य, भूतपूर्व शाह अमानुल्ला खाँ की असफलता, मदर इण्डिया की लेखिका, रामसे मैकडानेल्ड, ब्राडकास्टिङ्ग की उपयोगिता, साम्प्रदायिकता दूर करो, शाहजहाँ का हिन्दी-प्रेम, लोकमान्य तिलक और राष्ट्रीय आन्दोलन, काशी-विद्यापीठ में महात्मा गांधी, राउण्ड टेबल कानफ़रेंस, हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली, हिन्दी गद्य का सिंहावलोकन, (प्रो० रामप्रसाद त्रिपाठी), भारतीय मज़दूर आन्दोलन (कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार), जैसी अनेक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं, वहीं 'सामयिक प्रसङ्ग' में विश्व-विद्यालयों की शिक्षा और डॉ० गङ्गानाथ झा, जॉन गाल्सवर्दी, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ जैसे अनेक प्रसङ्ग दिए गए हैं।

इसी प्रकार **'सामयिक साहित्य'** में राष्ट्रपति सुभाषचन्द्र वसु का भाषण, राष्ट्रपति सुभाषचन्द्र बोस और लिपि का प्रश्न, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, का वक्तव्य, अश्लील विज्ञापनों पर रोक, हिन्दुस्तानी और हिन्दी (भदन्त आनन्द कौशल्यायन के 'कर्मवीर' में प्रकाशित विचार), नेहरू-जिन्ना-पत्र-व्यवहार, शिक्षा का माध्यम हिन्दी से (डॉ० राजेन्द्रप्रसाद), आदि अनेकानेक विषयों पर विचार व्यक्त किए गए हैं। इन स्तम्भों में चाहे विचार-प्रवाह रहा हो या प्रसङ्ग या साहित्य—सभी में सामयिकता की गूँज है।

मातृ-मण्डल एवं **जाग्रत महिलाएँ : पण्डित देवीदत्त शुक्ल कालीन** 'सरस्वती' के ये स्तम्भ ऐसे थे, जिनके अन्तर्गत देश की महान् नारियों के चरितों, उनके उदात्त एवं महान् सत्-कार्यों की चर्चा तो की ही गई है, साथ ही इनमें स्त्री-शिक्षा-विषयक अनेक बातों, उनके आचार-व्यवहार तथा उनके मर्यादा-पथ से सम्बन्धित अनेक महत्त्व-पूर्ण बिन्दुओं का उल्लेख किया गया है, ताकि उससे महिलाओं में जागृति आ सके। सम्पादकों का यह प्रयास भी कदाचित् द्विवेदी-कालीन सरस्वती के **'नारी-कौतूहल'** से ही प्रेरित था। आचार्य द्विवेदी ने तो यह स्तम्भ प्रारम्भ ही इसीलिए किया था, ताकि स्त्रियों को उनके उदात्त गुणों का—महान् कार्यों का परिचय मिल सके, साथ ही उनका मनोरञ्जन और ज्ञान-वर्द्धन भी हो। इस स्तम्भ में स्त्रियों से सम्बन्धित अनेक विषयों की चर्चा तो है ही, साथ ही महान् एवं आदर्श नारियों के संक्षिप्त जीवन-चरित एवं कारनामे भी दिए गए हैं।

स्त्रियों से कुछ प्रश्न (विष्णुराव पराड़कर), ट्रावनकोर की महारानी का भाषण, मुसलमान स्त्रियों में जागृति, स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं? (मिस श्यामकुमारी नेहरू), भारत में स्त्री-जाति का भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् (श्रीमती रामेश्वरी नेहरू), भारतीय नारी की आर्थिक परतन्त्रता (श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा) आदि ऐसे ही विषय हैं। भारतवर्ष की जिन महान् नारियों के जीवन के कुछेक प्रेरक प्रसङ्ग या उनकी संक्षिप्त जीवनियाँ दी गयी हैं, उनमें मण्डी की श्री महारानी साहिबा, स्व० रतनबाई जिन्ना, श्रीमती सोराबजी, श्रीमती उमा नेहरू, श्रीमती डी० कमला-

रत्नम्, श्रीमती कस्तूरबाई गांधी, स्वरूपरानी नेहरू, श्रीमती अहमद शाह, बेगम एम० फारुकी तथा सुभद्राकुमारी चौहान आदि प्रमुख हैं।

विज्ञान-वार्त्ता : शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' के **'विज्ञान-वार्त्ता'** स्तम्भ में नित्य होनेवाली नूतन खोजों एवं आविष्कारों की चर्चा टिप्पणियों एवं चित्रों-सहित की जाती थी। विज्ञान के जिन उपकरणों एवं जिन खोजों की चर्चा सम्प्रति हो रही है, उनके संकेत तत्कालीन 'सरस्वती' के पृष्ठों में भी मिलते हैं। इस स्तम्भ में जहाँ छापे की नई मशीन, जल पर चलनेवाली पैर-गाड़ी, पैर के पहिए, शब्द-रोधक टोप, इच्छित ऋतुएँ, हिसाब लगानेवाली मशीन (गिरीश लिखित), के-थोड रे, ज्वार-भाटा से विद्युत्, राबट का पाश्चात्य जगत् में धावा, पङ्खदार साइकिल आदि टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं, वहीं नवीन छुरा, सर्प का रूप धारणकर भोजन एकत्र करनेवाला पौधा, बादलों पर विज्ञापन आदि चित्र-वैचित्र्यपूर्ण टिप्पणियाँ भी प्रकाशित हुईं। परदे पर शिक्षा, सिनेमा का नया उपयोग, भिन्न-भिन्न भाषाओं में व्याख्यान सुनने की युक्ति जैसी अनेक शिक्षोपयोगी बातों की चर्चा भी इस स्तम्भ में रहती थी। उल्लेखनीय है कि 'सरस्वती' में ऐसी अनेक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं; जिनमें आज भी उतनी ही खोज, विवाद एवं चर्चा की आवश्यकता है। यों तो शुक्ल जी के इस दीर्घ-काल के सम्पादन में अनेक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं लेकिन यहाँ कुछेक का ही उल्लेख किया गया है। इन टिप्पणियों में अधिकतर टिप्पणियाँ श्री नाथूराम शुक्ल द्वारा लिखी हुई हैं।

चित्र-परिचय एवं चित्र-संग्रह : शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' के ये ऐसे स्तम्भ रहे हैं, जिनमें 'सरस्वती' में सङ्कलित चित्रों के परिचय चित्रकारों के नामोल्लेख एवं चित्रों पर लिखित टिप्पणियों सहित दिए गए हैं। 'सरस्वती' सचित्र मासिक पत्रिका तो थी ही, इस विशेषता का 'सरस्वती' में सफल निर्वाह शुक्ल जी ने सतत रूप से किया। टिप्पणियों, लेखों, कहानियों आदि के साथ तो चित्र दिए ही गए हैं। उनमें भी अधिकतर चित्र बहुरङ्गी हैं; कुछेक श्वेत-श्याम भी। शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में प्रकाशित सभी चित्रों का नामोल्लेख तो कठिन है, फिर भी कुछ महत्वपूर्ण चित्रों का उल्लेख किया जा रहा है। इनमें अब्दुर्रहमान चागताई द्वारा निर्मित उमर खय्याम, लोकपाल, शेष अवलम्ब, प्रलोभन, श्रीकृष्ण-जन्म, कवि निज़ामी; टी० के० मित्रा द्वारा निर्मित मेघदूत-चित्रावली, शिवाजी और शाइस्ता खाँ, कृष्ण-पूजा, श्रीमद्-भागवत-चित्रावली, वशिष्ठ और अरुन्धती का विश्रम्भालाप; बी० गांगुली कृत अम्बपाली और द्वारपाल, चिन्तन; शाखाचरण उकील कृत सान्ध्य प्रदीप, अर्जुन का देह-त्याग; रामगोपाल विजयवर्गीय कृत सुदामा का सत्कार, राम और सुग्रीव का परामर्श, उत्तरा और वृहन्नला, भगवान् विष्णु, शिरीं-फरहाद, अनन्त प्रतीक्षा, स्मृति-चिह्न, कृष्ण-सुदामा, नन्द-परिवार, बुद्ध-वैराग्य, पञ्चवटी में सीता और हनुमान, पुजारिन; बी० के० दास कृत सन्ध्या और वशिष्ठ, कर्ण और दुर्योधन, वाल्मीकि, लव-कुश, पुष्पाञ्जलि, कच और देवयानी; उपेन्द्रचन्द्र घोष दस्तिदार कृत कुरुक्षेत्र में, देव-त्रय,

मन्दोदरी और सीता; असितकुमार हल्दार कृत सादे चित्र—सङ्गीत-शिखा, रास-लीला, कृष्ण-लीला, जल-प्रपात आदि—प्रमुख रहे हैं। इसी प्रकार अन्य कितने ही विश्व-विश्रुत चित्रकार हैं, जिनके बहुरङ्गी चित्र 'सरस्वती' में सुशोभित हुए हैं।

व्यत्यस्त-रेखा-शब्द पहेली : इस पहेली का प्रकाशन 'सरस्वती' में सितम्बर सन् १९३६ से प्रारम्भ हुआ। इसके प्रवर्त्तक सरकारी स्कूलों के इंस्पेक्टर पं० ओङ्कार-नाथ शर्मा थे। शुक्ल जी ने लिखा है कि शर्मा जी सन् १९२० या २१ में कुछ समय तक इण्डियन प्रेस में रहे थे। तभी से उनका प्रेस-स्वामी से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। वे जब प्रयाग आते, तब प्रेस भी आते थे। १९३६ की अपनी प्रयाग की यात्रा में उन्होंने प्रेस-स्वामी से यह प्रस्ताव किया कि यदि आप 'सरस्वती' में '**व्यत्यस्त रेखा शब्द पहेली**' का प्रकाशन आरम्भ करें, तो इससे 'सरस्वती' का अधिक प्रचार होगा। साथ ही 'सरस्वती' के अधिक प्रचार से लोगों में साहित्यिक अभिरुचि भी पैदा होगी। उनका यह प्रस्ताव ठीक था और वह मान भी लिया गया। कुछ समय तक शर्मा जी शब्द-पहेली लिखकर भेजते रहे। बाद में उसके ठीक समय पर पहुँचने में कभी-कभी अड़चन पड़ने पर वह प्रेस में ही तैयार की जाने लगी, परन्तु यह पहेली अधिक काल तक नहीं चल सकी। कदाचित् पुरस्कार का रुपया कम रहा हो, इससे लोग इसकी ओर अधिक आकृष्ट न हुए हों, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि इससे 'सरस्वती' के प्रचार में काफी वृद्धि हुई थी। कहना न होगा कि साहित्यिक अभिरुचि के लिए प्रतियोगिताएँ आयोजित करना 'सरस्वती' की प्रकृति ही थी।

सङ्गीत-साधना : अन्य स्तम्भों की भाँति बख्शी-कालीन 'सरस्वती' की ही परम्परा में '**सङ्गीत-साधना**' नामक स्तम्भ भी कुछ महीनों तक चलता रहा। इस स्तम्भ में स्वर-कार किरणकुमार मुकर्जी ने छाया-तीन ताल, कन्हेड़ा-तीन ताल एवं तिलक कामोद-झपताल जैसी सङ्गीत-सम्बन्धिनी बातें बताई हैं। जिस पद्धति से उक्त सामग्री सङ्कलित की गयी है, उससे सामान्य पाठक की अभिरुचि भी सङ्गीत में पैदा हो सकती है।

विशेषाङ्क : शुक्ल जी ने अपने दीर्घ काल के 'सरस्वती'-सम्पादन में कई विशेषाङ्क भी प्रकाशित किये। इनमें स्वराज्य-अङ्क (जनवरी, १९३०), जुबिली अङ्क (मई, १९३५), कांग्रेस मिनिस्ट्री अङ्क (नवम्बर, १९३७), तथा द्विवेदी-स्मृति अङ्क (फरवरी १९३९) प्रमुख और अन्यतम हैं।

उपसंहार : शुक्ल जी ने अपने सम्पादन-काल में क्या किया, इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "....'सरस्वती' ने अपने आगे सदैव जनता की भावना को रखा है और उसी के मत को सरल तथा कभी उग्र भाषा में प्रकट करने का प्रयत्न किया है। न कभी किसी को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया है, न किसी को रुष्ट करने का ही। एक-मात्र कर्त्तव्य की प्रेरणा से ही, और सो भी उसे अपना धर्म मानकर निर्भीकता के साथ देश की प्रगति या अवनति पर उसने बराबर समुचित प्रकाश डालने का प्रयास किया है। उसके इस कर्तव्य-पालन में यदि कहीं त्रुटियाँ हुई

हैं, तो उसकी जिम्मेदारी मेरी अल्पज्ञता पर ही है। समुचित योग्यता न रखते हुए भी मैं 'सरस्वती' का कार्य इतने वर्षों तक बराबर सफलतापूर्वक करता रहा, इसका मूल कारण था कि हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों और लेखिकाओं, सुकवियों और सुकवियित्रियों तथा श्रेष्ठ कहानी-लेखकों और कहानी-लेखिकाओं का एवं नवयुवक लेखकों तथा लेखिकाओं का भी, जिनकी रचनाओं की सदैव बहुलता रही, मुझे समुचित सहयोग बराबर प्राप्त रहा। यह इन्हीं सबका विशिष्ट हिन्दी-प्रेम था, जिससे इनकी उत्कृष्ट रचनाओं से 'सरस्वती' को समलंकृत करके मैं उसे उसके गौरव-पूर्ण पद पर बराबर स्थिर रखने में सक्षम हो सका।..."

हिन्दी में जहाँ पत्र-पत्रिकाएँ प्रति-दिन जन्म ग्रहण करती हैं और प्रति-दिन अन्तिम साँसें गिनती हैं, वहाँ शुक्ल जी ने लगभग दो दशकों से भी अधिक 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य कर हिन्दी की अपूर्व सेवा की। अपने आप में यही सबसे बड़ी गौरव की बात थी। उनके समक्ष जहाँ एक समृद्ध परम्परा थी, वहीं अनगिनत कठिनाइयाँ और पग-पग पर पड़नेवाले रोड़े भी थे, लेकिन वे भी विचलित होनेवाले न थे। उन्होंने सदैव द्विवेदी जी के आदर्शों को अपने सम्मुख रखा। यही नहीं, बख्शी जी से मिली अमूल्य दृष्टि का भी उन्होंने भरपूर उपयोग किया, जिसका प्रभाव उनके 'सरस्वती'-सम्पादन में स्पष्टतः मुखरित हुआ है। आचार्य द्विवेदी की भाँति शुक्ल जी भी 'सरस्वती' को अपनी निज की पत्रिका मानकर उसका सम्पादन-कार्य करने में सफल-मनोरथ हुए। यही कारण था कि वे इतने दीर्घ-काल तक 'सरस्वती' का सम्पादन कर सके, लेकिन उनके इस उद्देश्य की पूर्ति में इण्डियन प्रेस के संचालकों की भी सुजनता कम न रही। कहना न होगा कि शुक्ल जी ने इतने दीर्घ-काल तक 'सरस्वती' का सम्पादन कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और बाबू चिन्तामणि घोष दोनों महानुभावों की कामना पूरी की।

शुक्ल जी ने अपने पूरे सम्पादन-काल में साहित्यिक क्रिया-कलापों के अतिरिक्त राजनीति और समाज-सुधार के पक्ष को भी 'सरस्वती' में मुखरित होने दिया। नए-नए स्तम्भों का सूत्र-पात कर अभिनव-से-अभिनव सामग्री प्रस्तुत करना, पुराने लेखकों को आदर के साथ लिए चलने का प्रयास तथा नए लेखकों का निर्माण करना इन्होंने 'सरस्वती' की पूर्व-परम्परा के अनुकूल ही किया। प्रायः सभी लेखकों के प्रति शुक्ल जी का सम-भाव रहा है। किसी के प्रति उनके मन में कोई पूर्वाग्रह न था। उन्होंने राग-द्वेष से मुक्त होकर हिन्दी के सभी रचनाकारों को 'सरस्वती' में स्थान दिया। यही कारण था कि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की रचनाएँ शुक्ल जी ने साग्रह प्रकाशित कीं, जबकि द्विवेदी जी और बख्शी जी के समय 'सरस्वती' में उन्हें स्थान न मिल सका था। इसी प्रकार अनेक उपेक्षित साहित्यकारों को उन्होंने 'सरस्वती' में स्थान देकर प्रोत्साहित किया। उदाहरण के लिए यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' जब यथार्थ-वादी साहित्य के सृजन में लीन थे, तब पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके साहित्य को **'घासलेटी साहित्य'** कहकर उनका उपहास तो किया ही,

उनका विरोध भी युद्ध-स्तर पर प्रारम्भ कर दिया। उस समय एक-मात्र शुक्ल जी ही थे, जिन्होंने पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के पक्ष में सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखकर साहित्य-जगत् में उनको उचित स्थान दिलाया। यही नहीं, उनके जैसे अनेक नवयुवक लेखकों का पक्ष-समर्थन किया।

शुक्ल-कालीन 'सरस्वती' में कविताएँ, समालोचनाएँ, निबन्ध, नाटक, उपन्यास, जीवन-चरित प्रायः सभी सुरुचिपूर्ण, शिक्षा-प्रद, उपयोगी और मनोरञ्जक रहे हैं। यही नहीं, उनके काल की 'सरस्वती' के सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, यात्रा-सम्बन्धी लेखादि भी अत्यन्त ज्ञान-वर्द्धक रहे हैं। अपने पूरे सम्पादन-काल में उन्होंने 'सरस्वती' में वैविध्य बनाए रखा। कभी भी एक-रसता नहीं आने दी। यदि गम्भीर-से-गम्भीर सामग्री प्रकाशित की, तो हास्य-विनोद और चित्र्य-वैचित्र्यपूर्ण सामग्री भी प्रकाशित की। कहना न होगा कि पाठकों के मनोरञ्जन का उन्होंने सदैव ध्यान रखा। युगानुकूल रचनाओं, विशेषकर स्थायी मूल्य की रचनाओं को उन्होंने हमेशा वरीयता दी। शुक्ल जी के पूरे कार्य-काल में 'सरस्वती' लोक-रुचि और लोक-मत को लेकर चलती रही। वे सच्ची प्रगति-शीलता के पोषक थे, इसलिए अपने सम्पादन में वे किसी भी जड़ता या रूढ़ि के शिकार नहीं हुए। यही कारण था कि उन्होंने 'सरस्वती' को उसकी सम-कालीन पत्रिकाओं में सदैव अग्रणी होने का गौरव दिलाया।

शुक्ल जी के कार्य-काल में 'सरस्वती' की भाषा सर्व-जन-सुगम रही है। यह नीति शायद 'सरस्वती' के सञ्चालकों की प्रारम्भ से ही रही है। बाबू चिन्तामणि घोष ने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार देते हुए शुक्ल जी से कहा था कि 'अगर जीवन में सफलता चाहते हो, तो सरल भाषा लिखना सीखो।' कहना न होगा कि शुक्ल जी ने इस नीति का पालन अपने पूरे सम्पादन-काल में किया और वे सफल भी हुए।

शुक्ल जी के पूरे सम्पादन-काल में 'सरस्वती' के सञ्चालकों ने भी विशेष रुचि प्रदर्शित की। उसी का परिणाम था कि 'सरस्वती' अत्यन्त सज-धज के साथ प्रकाशित हुई। प्रायः हरेक सामग्री के साथ विविध प्रकार के चित्र विभिन्न रङ्ग की स्याहियों में छापे गए। मान्य चित्रकारों द्वारा बने हुए बहुरङ्गी चित्रों का तो कहना ही क्या! नयनाभिराम मुद्रण पर विशेष ध्यान दिया गया। यही नहीं, सन् १९३५ से 'सरस्वती' मोनो टाइप में छपने लगी थी।

यह सच है कि अपनी सम्पादकीय नीति के कारण शुक्ल जी को व्यक्ति-गत रूप से हिन्दी-संसार के इने-गिने लेखकों और पत्र-पत्रिकाओं की कटुता का शिकार होना पड़ा, लेकिन सही बात कहने में वे अपना सानी नहीं रखते थे। कुछ विन्दुओं (उर्दू-हिन्दी) पर तो उन्होंने आचार्य द्विवेदी के मतों का भी खण्डन किया। हिन्दुस्तानी और राष्ट्रभाषा हिन्दी की समस्या पर महात्मा गांधी जैसे राष्ट्र-निर्माता के विचारों को काटने से भी न चूके। साहित्यिक विवादों को लेकर चाहे बाबू श्यामसुन्दर दास रहे हों या पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी, सभी उनके व्यंग्य-वाणों के

आघात के शिकार हुए। आवश्यकता पड़ने पर हिन्दुस्तानी एकेडमी और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तक की उन्होंने कड़ी खबर ली है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त जैसे राष्ट्रीय स्तर के कवि तक में अपनी आलोचना सहन करने की शक्ति का अभाव रहा है। शुक्ल जी के अनुसार केवल पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी ही ऐसे रहे हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों की आलोचना सहर्ष स्वीकार की। अपने दीर्घ-काल के सम्पादन-काल में शुक्ल जी ने साहित्यिक क्रिया-कलापों के कारण ही, कर्त्तव्यों की भावना से, ऐसा किया, न कि व्यक्ति-गत रुचि या द्वेष से।

समग्रतः कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने जहाँ द्विवेदी जी और बख्शी जी की परम्परा को अक्षुण्ण रखकर 'सरस्वती' की प्रतिष्ठा को लुप्त होने से बचाया, वहीं उन्होंने मूक भाव से 'सरस्वती' के माध्यम से हिन्दी की श्री-वृद्धि में अपूर्व योग-दान दिया। जिस प्रकार सरस्वती की श्रुति महती है, कभी नष्ट नहीं हो सकती, उसी प्रकार शुक्ल जी की सरस्वती की सेवाएँ सेतिहासिक महत्त्व रखती हैं, वे कभी नष्ट नहीं हो सकतीं। हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में शुक्ल जी का नाम सदैव गर्व से लिया जायेगा।

शुक्ल जी की कृतियाँ

साहित्यिक : सम्पादक के पचीस वर्ष, कुछ खरी-खरी, अवध के गदर का इतिहास, स्वाधीनता के पुजारी, क्रान्तिकारी, एक आत्म-कथा, जापान का हाल, काल-रात्रि, एकादशी, पकौड़ीवाली, बाल-कविता-माला, द्विवेदी-काव्य-माला, बाल द्विवेदी इत्यादि।

आध्यात्मिक : वाम-मार्ग, दुर्गा सप्तशती (शब्दशः पद्यानुवाद), हिन्दुओं की पोथी, चक्र-पूजा, चक्र-पूजा के स्तोत्र, मन्त्र-सिद्धि का उपाय, साधक का संवाद, धर्म-मार्ग पर, चण्डिका-माहात्य, शाक्त-धर्म क्या है ?, विनय-सुधा, कौल-कीर्तन इत्यादि।

अप्रकाशित : सम्पादक के पत्र, सम्पादक के विचार, सम्पादक का आध्यात्मिक उद्बोधन, खद्योत-प्रकाश (कविता-संग्रह), दोहावली, बैसवाड़े के कवि, अवध की झाँकी इत्यादि।

पण्डित देवीदत्त शुक्ल : एक रेखा-चित्र

□ 'कुल-भूषण' पं० रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

प्रातःस्मरणीय पण्डित देवीदत्त शुक्ल जैसे युग-पुरुष का जीवन-चरित लिखना सहज नहीं है। वे कितने विलक्षण महा-पुरुष थे, इसकी कुछ झलक प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित संस्मरणात्मक निबन्धों से पाठकों को मिल सकेगी।

पूज्य शुक्ल जी का व्यक्तित्व इतना अनूठा और कृतित्व ऐसा अद्वितीय रहा कि प्रायः सभी सम-कालीन साहित्यकारों ने उन्हें 'गुरुदेव' जैसे श्रेष्ठ सम्बोधन से स्मरण किया है। राष्ट्र के हित में स्पष्ट बात कहने में उन्होंने युगीन महा-पुरुषों तक का प्रत्याख्यान करने में कभी सङ्कोच नहीं किया।

देश को आध्यात्मिक शक्ति द्वारा स्वाधीन कराने का अभूतपूर्व तान्त्रिक अनुष्ठान करानेवाले 'गुप्तावतार' बाबाश्री और आगमोक्त विधि द्वारा विलक्षण राष्ट्र-रक्षा-अनुष्ठान सम्पन्न करनेवाले 'राष्ट्र-गुरु' श्री स्वामी जी महाराज को गोपनीयता की गुहा से प्रकाश में लाने के असम्भव कार्य को उन्होंने ही सुचारु रूप से सम्पन्न किया। साथ ही कितने ही गुप्त शाक्त साधक उनके उद्‌बोधन से प्रकट ही नहीं हुए, अपितु उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा हिन्दी में साधना-साहित्य का जो नितान्त अभाव था, उसे सर्वथा दूर कर राष्ट्र-भाषा का कोष सब प्रकार से परिपूर्ण कर दिया और यह कार्य पूज्य शुक्ल जी ने साहित्यिक सम्पादन-कार्य की व्यस्तता के होते हुए भी सुचारु रूप से सम्पन्न किया। इसका प्रमाण उनके द्वारा सन् १९४२ में प्रवर्तित तथा सम्पादित 'चण्डी' पत्रिका की फाइलों में सुरक्षित है।

अध्यात्म के प्रति पूज्य शुक्ल जी का सक्रिय योग-दान प्रारम्भ से ही रहा। सन् १९३० में उन्होंने भैंसरोडगढ़, मेवाड़ (राजस्थान) के राजकुमार हिम्मतसिंह कृत काव्य 'महिषासुर-वध' का आद्योपान्त संशोधन कर उसे नया रूप ही प्रदान कर दिया था। उसकी भूमिका से उक्त कथन की पुष्टि भले प्रकार हो जाती है। अतः उसे यहाँ उद्‌धृत करना उचित प्रतीत होता है—

'आदर्श कवित्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर सहज नहीं है, तो भी यह बात कही जा सकती है कि उसका मूल आधार उपयुक्त 'विषय' है। 'विषय' के महत्त्व-पूर्ण होने से कविता भी महत्त्व-पूर्ण होगी। इसी से हमारे भावुक कवियों ने देव-काव्य को ही प्रधानता दी है।

'मनुष्य स्वभावतः ईश्वर-प्रेमी प्राणी होता है। अतएव जो कवि ईश्वर-परक विषय को हृदयङ्गम करके अपनी कल्पना की सृष्टि करता है, उसके प्रति हमारे मन का आकृष्ट होना सर्वथा स्वाभाविक है। जो कवि

अपने हृदय की प्रेरणा से आध्यात्मिक अलौकिकता का सच्ची सहानुभूति के साथ अपनी रचना में चित्रण करता है, वह वास्तव में एक श्रेष्ठ कवि है। ऐसा ही कवि हमारे हृदय में उच्च विचार उत्पन्न करता है, जिससे हमारी आत्मा का विकास होता है और हम ऊपर उठते हैं। निस्सन्देह, ऐसी रचनाएँ सार्थक होती हैं क्योंकि उनसे लोक का कल्याण होता है। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का विशेषण भी ऐसी ही रचना के लिए उपयुक्त समझा गया है। लौकिक काव्य कितना ही सुन्दर क्यों न हो, देव-काव्य के समकक्ष नहीं। अस्तु।

'हिन्दी में इस समय कवित्व ने जो नया रूप धारण किया है, उसके जो कारण हैं, उनमें भाषा भी एक कारण है। बोल-चाल की भाषा में कविता करने की नई प्रणाली के अस्तित्व में आ जाने से अभी इस भाषा के कवियों ने आदर्श स्थिति नहीं प्राप्त की है। यह उसका प्रारम्भ-काल है। और किसी नई बात के प्रचलन में आरम्भ में जो त्रुटियाँ पाई जाती हैं, वे हमारी राष्ट्र-भाषा के इस प्रारम्भ-काल के कविता-क्षेत्र में भी विद्यमान हैं। तो भी सन्तोष की बात है कि इस काल में भी कतिपय सरस्वती-सुतों ने अपनी प्रतिभा का परिचय देकर राष्ट्र-भाषा का मुखोज्ज्वल किया है।

'बोल-चाल की भाषा में उन्होंने जिन काव्यों का प्रणयन किया है, उनका लोक में आदर ही नहीं हुआ है, किन्तु उनके अनुकरण पर अन्य सुधी जनों ने भी भव्य रचनाएँ की हैं और उनका वह क्रम आज भी जारी है। यह काव्य-ग्रन्थ (महिषासुर-बध) भी इसी श्रेणी का है पर इसमें एक विशेषता है। वह यह कि यह देव-काव्य है और इसमें इसके प्रणेता ने जगज्जननी के उस महत् कार्य का चित्रण किया है, जिसका सम्पादन करके उन्होंने एक समय जगती-तल में महिषासुर-जैसे अधम दैत्य का विनाश साधन कर धर्म-राज्य की स्थापना की थी। इस रचना में स्थल-स्थल पर कवित्व की सृष्टि हुई है, जो इसके पारायण से भले प्रकार हृदयङ्गम हो जाता है। आशा है, इस रचना से राष्ट्र-भाषा के साहित्य की श्री-वृद्धि ही न होगी, किन्तु लोक-कल्याण भी होगा...।'

भारतीय अध्यात्म और विशेष कर उसके शाक्त-साधना-पक्ष द्वारा लोक-कल्याण साधित करना शुक्ल जी का अभीष्ट था। इस तथ्य का प्रतिपादन इस बात से सहज ही होता है कि 'महिषासुर-बध' के साङ्गोपाङ्ग संशोधन के उपलक्ष्य में कुँवर हिम्मत सिंह ने शुक्ल जी की अनूठी कृति 'वाम-मार्ग' का प्रकाशन १९३२ में करवाया, जो भारतीय अध्यात्म के अति गोपनीय एवं रहस्य-मय विषय पर पहली प्रामाणिक पुस्तक हिन्दी में मानी गई। यही नहीं, सात-आठ वर्षों के भीतर ही शुक्ल जी ने स्वयं 'दुर्गा-सप्तशती' का शब्दशः पद्यानुवाद ही नहीं कर डाला, अपितु १९३८ में उसे प्रकाशित

करवा कर उसे अपने साहित्यिक गुरु आचार्य द्विवेदी को समर्पित भी किया। पूज्य द्विवेदी जी ने शिष्य की कृति की अनुशंसा जिन शब्दों में की, वे मननीय हैं—

दौलतपुर

नमस्कार, १८-३-३८

आपने मुझे खबर तक न दी, सप्तशती मुझे दे डाली! मैं कृतार्थ हो गया, आपसे पाकर यह इतना सम्मान। सप्तशती का मैं भक्त हूँ। १३ वर्ष की उम्र से १७ तक मैंने उसका रोज पाठ किया है—विद्यार्थी-दशा में। 'देव्या यया' आदि श्लोक अब भी मैं कभी-कभी मन-ही-मन पाठ किया करता हूँ। आपने बड़ा काम किया, इस स्तोत्र को हिन्दी पद्य में लिख दिया। मैंने कई जगह मिलान करके देखा। अनुवाद ठीक हुआ है। धन्यवाद

भावत्क

म० प्र० द्विवेदी

पूज्य शुक्ल जी के जीवन-चरित को हृदयङ्गम करने के लिए अध्यात्म के प्रति उनकी उक्त प्रवृत्ति को ध्यान में रखना आवश्यक है। वैसे उन्होंने मानव जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक—विविध क्षेत्रों में जिस निःस्पृहता से बहुमुखी पुरुषार्थ का परिचय दिया, उसका लेखा-जोखा प्रस्तुत करना वास्तव में एक गहन शोध का विषय है, परन्तु उन सभी क्षेत्रों में उनकी आध्यात्मिकता की छाप स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है, इसमें सन्देह नहीं।

जैसा कि प्रारम्भ में ही निवेदन किया है, यहाँ उनका पूरा जीवन-चरित देना सम्भव नहीं है। मात्र उस चरित के मुख्य बिन्दुओं का एक विहङ्गम चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है। सम्भव है, इसके आधार पर कभी उनका विस्तृत परिचय प्रकाश में आ सके।

•••

आविर्भाव : सम्वत् १९४५ विक्रमी के वैशाख मास के कृष्णपक्ष की तृतीया तिथि शनिवार को पूज्य शुक्ल जी का जन्म हुआ था। इस जन्म-तिथि के ठीक तीन दशक पूर्व संवत् १९१५ में भारत के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम की ऐतिहासिक घटना घटी थी, जिसका व्यापक प्रभाव उस काल के वातावरण में व्याप्त था और तदनुसार ही देश में एक-से-एक विभूतियों का आविर्भाव हो रहा था।

जन्म-भूमि : पूज्य शुक्ल जी का जन्म भारत के आर्यावर्त प्रदेश में बैसवाड़े (उन्नाव-रायबरेली) के श्रीचण्डी-क्षेत्र में पवित्र गङ्गा-तट पर अवस्थित बकसर ग्राम में हुआ था। यह ग्राम उस काल में इतना महत्त्व रखता था कि उसे 'छोटी काशी' के नाम से पुकारा जाता था। उसके सम्बन्ध में संस्कृत के एक उद्भट विद्वान् राज-वैद्य श्री रामकृष्ण कायस्थ ने अपने 'कनक-विलास' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

योऽसौ देशः 'बकसर' इति प्रोच्यते नाम तस्मिन्,
देवराय-प्रमुख-नृ-वरै राजधानी व्यधायि ।
येयं पुण्या जयति नगरी डौंडियेति प्रसिद्धा,
यस्या कूलं कष-सुरसरिद् दक्षिणेन प्रयाति ।।

अर्थात् देवराय आदि ने बकसर देश में डौंडियाखेरे को अपनी राजधानी बनाया । अपने कगारों को काटती हुई देव-सरिता गङ्गा इस पवित्र नगरी की दक्षिण दिशा में बहती है ।

ऐसे बकसर में घर-घर में वेद-पाठ, पुराण-काव्य और आख्यायिकाओं का पठन, धर्म-शास्त्रों पर विचार तथा अग्निहोत्र आदि निरन्तर हुआ ही करते थे ।

प्रथम स्वाधीनता-संग्राम में बकसर को दो-दो बार अंग्रेजों द्वारा फूंका गया और बकसर-वासियों को अन्यत्र आश्रय लेना पड़ा किन्तु अवसर मिलते ही वे देश-भक्त वीर निवासी पुनः बकसर में आ डटे । पूज्य शुक्ल जी के जन्म-काल में बकसर की वह प्रचीन सम्पन्नता नहीं रह गयी थी, फिर भी वहाँ डौंडियाखेरे के नरेश राव रामबख्श सिंह की बलिदान-स्थली होने से उसका गौरव कहीं अधिक बढ़ गया था । इसके सिवा सुरथ-समाधि-पूजिता चण्डिका और अम्बिका की दो मूर्तियों से सुशोभित प्राचीन विशाल मन्दिर वहाँ पुरा काल से अवस्थित था, जिससे अच्छे-अच्छे तपस्वी साधक और विद्वान् वहाँ बने ही रहते थे ।*

वंश-परम्परा : कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में भरद्वाज गोत्र के 'सुकुल'-वंश का प्रारम्भ **'सत्यधर सुकुल'** से माना जाता है । सत्यधर सिद्ध पुरुष थे । उस समय देश में तुगलक बादशाह का राज्य था । मुहम्मद तुगलक ने शृंगी रामपुर से डलमऊ तक गङ्गा के दोनों किनारों के प्रदेशों में तीन बार 'कत्ल आम' करवाया था, परन्तु स्थानीय वीर क्षत्रियों ने हार नहीं मानी । वे अपनी शक्ति और क्षमता को बनाए रखने के लिए बराबर यत्न-शील रहे । ऐसे ही राजाओं में बकसर के राजा रणवीर देव भी एक थे । इन्होंने अपनी प्रजा को वैदिक धर्म की ओर प्रवृत्त रखने के लिए बड़े-बड़े यज्ञ किए थे । तथा महात्मा पुरुषों को बुलाकर अपने राज्य में बसाया भी था । इन्होंने सत्यधर सुकुल का नाम सुना । फलतः वे बड़े आदर के साथ बुलाए गए और उन्हें विग्रहपुर (बिगहपुर : उन्नाव) गाँव में बसाया गया । इनके प्रभाव से इस अञ्चल की उद्दण्ड प्रजा बहुत कुछ शान्त हो गई ।

सत्यधर बाला त्रिपुर-सुन्दरी के उपासक थे । इनकी १७वीं पीढ़ी में **मुन्ना-**

---

* बकसर की चण्डिका के सम्बन्ध में पूज्य शुक्ल जी द्वारा सम्पादित एवं कल्याण मन्दिर, प्रयाग-२११००६ द्वारा सं० २०१६ में प्रकाशित उनके अग्रज स्व० पं० शिवाधार सुकुल की कृति **'चण्डिका-माहात्म्य'** द्रष्टव्य है ।

लाल संस्कृत के अच्छे विद्वान् हुए। इन्होंने काशी जाकर अध्ययन किया था। कुशल वैद्य तो थे ही, अच्छे मन्त्र शास्त्री भी थे। इनके हाथ का लिखा हुआ 'मन्त्र-महोदधि' अब तक विद्यमान है, जिसे इन्होंने काशी में सङ्कटाजी के मन्दिर में सं० १८४५ में लिखा था। ये बकसर की चण्डिका जी के बड़े भक्त थे। नवरात्र के दिनों में प्रायः प्रतिदिन बकसर दर्शनार्थ आया करते थे। एक दिन घर लौटने में देर हो गई, परन्तु ये रात में भी अपने घर को चले ही गए। मार्ग में एकाएक वर्षा के साथ ओले गिरने लगे किन्तु ये कुशल-पूर्वक घर पहुँच गए। दूसरे दिन जब वे दर्शनार्थ फिर चले और उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ ओलों की वर्षा हुई थी, तो उन्होंने देखा कि ओलों की वर्षा से कितना भारी विनाश हुआ है, परन्तु मार्ग के दोनों ओर कोई दस-दस हाथ की भूमि में की खेती कुछ भी हानि नहीं हुई है। मानो वहाँ ओले गिरे ही नहीं। उसी मार्ग से होकर वे पिछली रात घर आए थे। यह दृश्य देखकर वे भाव-विह्वल हो गए। इसे उन्होंने जगदम्बा की परम दया समझा। भगवती के दरबार में पहुँचकर उन्होंने वहीं निवास करने का निश्चय किया। फलतः वे अपनी पत्नी को साथ लेकर बकसर चले आए। बकसर में उनकी ससुराल थी। किन्तु वहाँ न जाकर वे चण्डिका जी के मन्दिर के पास एक गङ्गा-पुत्र के घर में रहकर भजन-पूजन में लग गए।

नवरात्र के दिन थे। पाहो के तालुकदार ठाकुर अचलसिंह दीक्षा लेने के विचार से बकसर आए थे। वे भी उसी गङ्गा-पुत्र के घर ठहरे। उस गङ्गा-पुत्र के प्रस्ताव पर ठाकुर अचलसिंह ने मुन्नालाल से दीक्षा ली। उन्होंने आग्रह किया कि वे उनके साथ पाहो चलें। परन्तु वे राजी न हुए और बकसर में ही रहने का अपना विचार किया। बक्सर के ठाकुरों और उनकी ससुरालवालों को जब उनके वहाँ होने की बात मालूम हुई, तब वे बड़े आदर के साथ उन्हें बकसर लिवा ले गए। ठाकुरों ने बाग लगाने, खेती करने और घर बनवाने के लिए जमीन दी और वे वहाँ रहने लगे।

नवरात्र के दिनों में मुन्नालाल सप्तशती की एक प्रति अपने हाथ से लिखकर ब्राह्मण को दिया करते थे। नित्य पार्थिव पूजन और मूर्तियों का पूजन भी करते थे। इनकी प्रथम पत्नी से एक पुत्र हुए **मङ्गलप्रसाद**, जिनके तीन पुत्र हुए—१. **चण्डिकाप्रसाद**, २. **चण्डिकासहाय** और ३. **कामदाप्रसाद**।

चण्डिकाप्रसाद युवावस्था में ही दिवगंत हो गए। **चण्डिकासहाय** बड़े प्रतिभावान्, कुशल चिकित्सक और क्रिया-सिद्ध मन्त्र-शास्त्री हुए। इनकी तीन पुत्रियाँ हुईं—शिवदेवी, जयदेवी और रामदुलारी। **कामदाप्रसाद** के तीन पुत्र हुए—१. **शिवाधार**, २. **मातादीन** और ३. **देवीदत्त**।

इस प्रकार **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के बाला के सुकुलों के वंश की २०वीं पीढ़ी में आविर्भूत हुए—उस वंश में, जो परम्परागत रूप से देवी चण्डिका का उपासक था, शाक्त-धर्मावलम्बी था।

संयुक्त परिवार : बक्सर का यह शुक्ल-परिवार काफी बड़ा और मकान भी तादृश विशाल था। उस मकान का खण्डहर आज भी अपनी विगत भव्यता की कथा सुनाता प्रतीत होता है। मकान के बाहर छोटे-से मण्डप में अनूठे श्याम प्रस्तर की वटुक भैरव की श्वानासीन प्रतिमा प्रतिष्ठित है, जो अब भी दर्शनीय है। यह मण्डप जिस विशाल वृक्ष के नीचे स्थित है, उसकी एक मोटी डाल आज भी मकान की मध्य मुंडेर के समानान्तर फैली हुई है। प्रति-दिन भैरव-मन्दिर के समक्ष विधिवत् छाग-बलि दी जाती और रात्रि में चक्रार्चन होता। प्रातः ११०८ पार्थिव शिवार्चन विधिवत् होता और विविध देव-पूजा सम्पन्न होने के बाद ही घर के लोग प्रसाद पाकर भोजन करते। यह सारा महत् कार्य संयुक्त परिवार के मुख्य कर्ता पं० चण्डिका-सहाय शुक्ल के निर्देशन में होता रहा, जो एक श्रेष्ठ सिद्ध महा-पुरुष थे। सारे बैस-वाड़े में 'महाराज' नाम से उनकी प्रसिद्धि थी। उन्हीं के प्रशिक्षण से ज्येष्ठ भ्राता पं० शिवाधार शुक्ल पूर्वजों के भाँति ही कर्मठ तपस्वी और सिद्ध चिकित्सक हुए। साथ ही उनके अनुज पं० मातादीन शुक्ल भी तादृश ही कुशल तान्त्रिक और नाड़ी-ज्ञान में पारङ्गत वैद्य बने।

बचपन से ही तन्त्र और आयुर्वेद के चमत्कार देखते-सुनते रहने से कनिष्ठ भ्राता पं० देवीदत्त शुक्ल को इनका पर्याप्त ज्ञान सहज रूप से हो चुका था किन्तु इन तीनों भाइयों के पिता पं० कामदाप्रसाद शुक्ल प्रारम्भ से ही निवृत्ति-मार्ग की ओर उन्मुख थे। उनकी वैराग्य-भावना दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई, यहाँ तक कि उन्होंने गृह त्याग कर पास ही स्थित पारिवारिक निजी वाटिका में कुटी बनाकर उसमें तप करना प्रारम्भ किया। अपने पुत्रों से उनका सम्बन्ध नाम भर को ही था। ज्येष्ठ और मध्यम पुत्र तो पारिवारिक वृत्ति तन्त्र और चिकित्सा को अपना चुके थे। कनिष्ठ पुत्र देवीदत्त भी उसी दिशा में बढ़ते कि दैवयोग से एक दिन उन्होंने इनसे कहा कि 'अपनी जीविका का साधन चिकित्सा या मन्त्र-विद्या मत बनाना।' अपने त्यागी महात्मा पिता जी का यह कथन इन्हें ब्रह्म-वाक्य सा लगा और इन्होंने मन-ही-मन ठान लिया कि वे इन दो विद्याओं को जीविका का साधन नहीं बनाएँगे।

शिक्षा-दीक्षा : मौरावाँ (उन्नाव) में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करते समय शुक्ल जी स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित होकर आर्य-समाजी विचार-धारा अपनाने लगे। यह देखकर एक दिन अच्छे मुहूर्त में महाराजश्री ने उन्हें विधि-वत् 'कुल-धर्म' की दीक्षा दे दी। उसी दिन से वे कट्टर शाक्त बन गए। उच्च शिक्षा-हेतु जब वे काशी पहुँचे, तो वहाँ लक्ष्मी-कुण्ड पर स्थित प्राचीन काली-मठ में प्रति-दिन सत्सङ्ग हेतु पहुँचने लगे। कुल-परम्परा से शाक्त-साधना के क्रियात्मक ज्ञान में वे इतने कुशल थे कि मठ के तत्कालीन महन्त ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा किन्तु शुक्ल जी ने विनम्रतापूर्वक उन्हें बताया कि 'मेरा विवाह हो चुका है और मुझे गृहस्थ-धर्म का पालन करना है।' उनकी इस कर्तव्य-निष्ठा से महन्त जी और भी प्रसन्न हुए। मठ के नित्यार्चनों में उन्हें निरन्तर सत्सङ्ग का अवसर मिलता रहा।

इसके फल-स्वरूप वे शाक्त-साधना में तो अधिकाधिक प्रगति करते गए किन्तु इण्टर तक की ही शिक्षा वे प्राप्त कर पाए।

व्यवसाय—काशी में रहते समय किसी अन्तरङ्ग मित्र के परामर्श से शुक्ल जी ने पुलिस-विभाग में सेवा हेतु प्रार्थना-पत्र दिया, जो स्वीकृत हो गया और वे गोरखपुर पुलिस की नौकरी पर चले गए। पारिवारिक एवं जन्म-जात संस्कारों के कारण उन्हें वह नौकरी अनुकूल नहीं लगी और कुछ ही समय बाद उसे त्याग कर घर चले आए।

घर पर पूजा-पाठ, औषधि-निर्माण, खेती की देख-भाल जैसे कार्यों की कमी न थी किन्तु इन कार्यों में स्थायी रूप से उन्हें लगना नहीं था। अतः अवसर पाते ही वे अध्यापकी करने महा-समुद्र (म० प्र०) चले गए, किन्तु कुछ ही समय यह कार्य वे कर पाए थे कि पूज्य पितृव्य महाराजश्री अस्वस्थ हुए और उन्होंने चाहा कि सभी बच्चे उनके निकट ही रहें। फलतः शुक्ल जी को जध्यापकी का भी त्याग करना पड़ा और वापस आकर उन्हें घर में रहकर परिवार के पारम्परिक कार्यों में लगना पड़ा।

पूज्य महाराजश्री के दिवङ्गत होने के बाद शुक्ल जी के बड़े भाई पं० शिवाधार शुक्ल संयुक्त परिवार के प्रधान बने। मझले भाई पं० मातादीन शुक्ल उनके परम भक्त सहयोगी थे। केवल छोटे भाई पं० देवीदत्त शुक्ल जी कहीं बाहर जाकर किसी अन्य साधन द्वारा जीविकोपार्जन करना चाहते थे। दैवयोग से आचार्य द्विवेदी की कृपा से उन्हें इण्डियन प्रेस में सम्पादकीय विभाग में नौकरी मिल गई और विधि के विधान द्वारा निर्दिष्ट अपना कार्य पाकर वे इसमें अपनी सारी शक्ति से जुट गए। सन् १९१९ से १९४७ तक लगभग ३८ वर्षों तक इण्डियन प्रेस में उन्होंने अपने कृतित्व का उत्कृष्ट प्रदर्शन किया। इसी अवधि में सन् १९४२ में वे 'चण्डी' पत्रिका का सूत्रपात कर चुके थे। इण्डियन प्रेस से अवकाश ग्रहण करने के बाद वे पूरा समय 'चण्डी' तथा उससे सम्बन्धित कल्याण मन्दिर के प्रकाशनों को देने लगे। इस प्रकार १९४२ से १९७१ तक लगभग तीस वर्षों तक उन्होंने हिन्दी में आध्यात्मिक साहित्य प्रस्तुत करने का महत्कार्य सम्पन्न किया।

अवकाश-काल में जिन हिन्दी लेखकों, कवियों, साहित्यकारों, शोध-छात्रों आदि ने उनसे सम्पर्क स्थापित किया, उनका भी वे निरन्तर मार्ग-दर्शन सक्रिय रूप से प्रत्यक्ष या पत्र-व्यवहार द्वारा करते रहे।

परिवार और समाज : अपने कार्य-क्षेत्र प्रयाग में शुक्ल जी सन् १९३१ तक एकाकी ही रहे। १९३२ में उनकी पत्नी श्रीमती शिवदेवी एकमात्र पुत्र और एक पुत्री के साथ गाँव से आ गईं तथा उनके साथ रहने लगीं। ज्येष्ठ पुत्री का विवाह हो चुका था।

शुक्ल जी सौ रुपए वेतन पाते थे, जिसमें से साठ रुपए वे बड़े भाई को भेजते थे। चालीस रुपए में वे अपना निर्वाह करते थे। परिवार के आ जाने पर भी उन्होंने इस नीति में परिवर्तन नहीं किया क्योंकि संयुक्त परिवार से अलग होना उनके सिद्धान्त के विरुद्ध था। उनकी पत्नी भी दृढ़ सङ्कल्पवाली महिला थीं। अपने एकमात्र

पुत्र के हित में उन्होंने चालीस रुपए मासिक में ही पूरे परिवार को चलाना स्वीकार किया किन्तु वापस गाँव नहीं गईं। द्वितीय विश्व-युद्ध में मँहगाई के अत्यधिक बढ़ने पर पत्नी के कहने पर शुक्ल जी बड़े भाई को ४० रुपये भेजने लगे और पत्नी को ६० रुपये देने लगे। वर्ष में अनेक बार शुक्ल जी कभी अकेले, तो कभी सपरिवार गाँव जाया करते और वस्त्रादि वस्तुएँ ले जाकर वहाँ सबको दिया करते किन्तु संयुक्त परिवार की जो आय होती थी, उसमें से वे कभी कुछ नहीं लेते थे।

परिवार के प्रति उनका दृष्टि-कोण विलक्षण ही था। गृहस्थ होते हुए भी वे वानप्रस्थ जैसा जीवन बिताते थे। द्वितीय पुत्री भी मानों उनकी इस वैराग्य-भाव की सह-भागिनी रहीं। उन्होंने विवाह के प्रति अपनी दृढ़ अनिच्छा प्रकट की और शुक्ल जी ने लोक-निन्दा की परवा न करते हुए उनकी इच्छा पूरी की। उन्हें विवाह हेतु बाध्य नहीं किया, अपितु स्कूल में उनका नाम लिखा दिया। उनके शुभाशीष से उन्होंने शिक्षा ही नहीं प्राप्त की, अध्यापिका बनकर सारा जीवन एक योगिनी-जैसा बिताने में सक्षम हुईं।

अपने एकमात्र पुत्र के प्रति शुक्ल जी ने कभी मोह का भाव नहीं दिखाया। कहा करते कि वह तो 'बबूल का बिरवा' है, जिसकी कोई देख-भाल नहीं की जाती, जिसे कोई काटता-छाँटता नहीं ! ऐसा उनका कथन ही नहीं रहा, वास्तव में उन्होंने उसकी शिक्षा-दीक्षा के प्रति कभी सक्रिय रूप से कोई प्रयत्न नहीं किया। यह उनके तपोपूत जीवन का एक विस्मयकारी उदाहरण ही है कि उनके पुण्य के प्रभाव से उनका पुत्र एम० ए० (संस्कृत) तक की शिक्षा ही नहीं प्राप्त कर सका, अपितु उनके चरण-चिह्नों का अनुसरण कर उनके द्वारा छोड़े गए कार्य को अग्रसर करने में भी बहुत कुछ समर्थ हो सका।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अपने तपोमय-जीवन के सुफल-स्वरूप शुक्ल जी ने चार पौत्र-रत्न प्राप्त किए और एक सुलक्षणा पौत्री-मणि का भी लाभ पाया। इन सभी ने एम० ए० तक की शिक्षा ही नहीं प्राप्त की, अपितु अनायास ही अपने-अपने जीवन में आत्म-निर्भर भी हो गए। इस प्रकार परिवार उनसे जितने की अपेक्षा कर सकता था, उससे कहीं अधिक उसे प्राप्त हुआ। यह उनकी तपोसिद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

शुक्ल जी ने सन् १६१६ में इण्डियन प्रेस में सेवा-कार्य प्रारम्भ करते समय कटरे के जिस मकान में किराएदार के रूप में प्रवेश किया था, उसमें पहले तो वर्षों वे अकेले रहे और बाद में परिवार के आ जाने पर भी उसी में बने रहे। मकान-मालिक पं० वृन्दावन राय तथा उनके भाई पं० मदनमोहन राय, पं० दयाशंकर राय और पं० मायाशंकर राय एक बड़े संयुक्त परिवार के रूप में उसी मकान में रहते थे। यह शुक्ल जी की अनुपम सदाशयता का ही द्योतक है कि यह विशाल परिवार उनसे इतना प्रभावित रहा कि उसने इन्हें भी अपने ही परिवार का एक सगा अङ्ग मान लिया और स्थान का कष्ट होते हुए भी शुक्ल जी को तब तक मकान छोड़ने नहीं

दिया, जब तक कि सन् १९६२ में शुक्ल जी का अपना निजी मकान अलोपीबाग में बनकर तैयार नहीं हो गया। किराए के मकान से शुक्ल जी ने सपरिवार जब बिदा ली, तो वहाँ एक करुण दृश्य उपस्थित हुआ था। उस वृहत् राय-परिवार के सभी सदस्यों के साथ ही सारे मुहल्ले के लोगों ने अश्रु-पूरित दृष्टियों के साथ ही शुक्ल जी को विदा किया था। इस मार्मिक तथ्य से शुक्ल जी की पारिवारिक एवं सामाजिक उत्कृष्ट सद्भावना का परिचय मिलता है।

साहित्यिक जीवन में व्यस्त होते हुए भी कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के सङ्गठन में वे बराबर रुचि लेते रहे। रायबहादुर पं० राजनारायण मिश्र से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। उनकी प्रेरणा और सहयोग से तत्कालीन न्यायमूर्ति पं० उमाशङ्कर वाजपेयी, प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, प्रयाग विश्व-विद्यालय के विधि-विभाग के अध्यक्ष पं० आनंदीप्रसाद दुबे, प्रख्यात साहित्यकार डॉ० रमाशङ्कर शुक्ल 'रसाल' जैसे प्रमुख लोगों के साथ कान्यकुब्ज सभा प्रयाग के कार्यों में सक्रिय रूप से वे भाग लेते रहे। 'कान्यकुब्ज' मासिक पत्रिका के सम्पादन में भी उन्होंने योग-दान किया और कितने ही लेख समाज-सुधार की दृष्टि से लिखे, जो विविध सामाजिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए।

उप-संहार : शुक्ल जी का दृढ़ विचार अवकाश-ग्रहण करने के बाद प्रयाग छोड़कर अपने गाँव बक्सर में ही रहने का था किन्तु दैवी विधान कुछ और ही था। उन्हें शाक्तधर्म-सम्बन्धी महान् दायित्व का निर्वाह करना था! उनके सङ्कल्प से उन्हें विरत करने के लिए ही मानों विधि द्वारा उनकी दृष्टि ही नहीं ले ली गई, अपितु पक्षाघात द्वारा उन्हें चलने-फिरने से भी लाचार कर दिया गया किन्तु श्री जगदम्बा की दया से इन दोनों कष्टों का उनकी कार्य-क्षमता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। जीवन के अन्त समय तक वे अपना सारा कार्य सुचारु रूप से करते रहे। उनके बोलने, सुनने या विचार करने की शक्ति में कभी कोई कमी नहीं आने पाई। यही नहीं, यद्यपि जीवन में उन्होंने कभी अपने निजी आवास की चिन्ता नहीं की और न ही धन-सञ्चय के प्रति ध्यान दिया किन्तु अलौकिक ढंग से न केवल प्रयाग में उनका निजी गृह बनकर तैयार हो गया, अपितु जीवन के अन्तिम वर्ष उन्होंने उसी गृह में सुख-सुविधापूर्वक बिताए और अपने पीछे एक गौरवशाली परम्परा छोड़ गए, जिसका निर्वाह कर उनके वंशज उनके यश को चिर-स्थायी बनाते हुए अपने जीवन को सब प्रकार कृतार्थ कर सकते हैं।

●

'....शाक्त-धर्म की विलक्षणता का मूल कारण यही है कि उसमें दुराग्रह का कभी कोई स्थान ही नहीं रहा है। इसी से आज भी शाक्त-धर्म का अस्तित्व बराबर बना हुआ है। यही नहीं, वह बराबर फल-फूल भी रहा है....।'

—'शाक्त-धर्म क्या है ?', पृष्ठ ४८

नमन स्वीकार करो !

□ पण्डित काशीप्रसाद शुक्ल शास्त्री

हरि-हर-विधि-ब्रह्म स्वरूप-पूज्य पद-पद्म सहस-दल के वासी ।
जगदम्बा के प्रिय सत सपूत परिपूत चरित चित सङ्कासी ॥१

जननी का पा संकेत सँदेसा ले जगती-तल में आए ।
गुह्याति-गुह्य साधना सुरभि सम्पूर्ण विश्व में फैलाए ॥२

नर कौन जानता था तुमको, तुम क्या हो श्री-शिव-शिवा रूप ।
आराध्य दयालु देव साधक शिर-मौर अनूप उदार भूप ॥३

अङ्गिरा अगस्त्य वशिष्ठ आदि मुनियों ने था जो अपनाया ।
शुक जनक आदि राजर्षि ज्ञान-गरिमा सु-सिद्धि सुख था पाया ॥४

इस भव्य भारती संस्कृति का बन वीर व्रती उद्धार किया ।
कर गोप्य यवनिका छिन्न-भिन्न साधक सुजान तैयार किया ॥५

हिन्दू हिन्दी की रक्षा हित तन-मन-धन सब कुछ दान दिया ।
निर्धन-सा जीवन-यापन कर मणि-द्वीप-पुरी प्रस्थान किया ॥६

अद्भुत अनुपम प्रतिभा प्रदीप निर्भीक निश्चमी बल-शाली ।
पूर्वोक्त प्रतिज्ञा पूर्ण हेतु आए थे बन कर वन-माली ॥७

सुत अति कुलेशानन्दनाथ उर में माँ का प्रिय प्यार भरो ।
श्रद्धेय सदा-शिव देविदत्त जू शुक्ल नमन स्वीकार करो ॥८

●

श्रीसुकुल-देवीदत्त

वंशानुक्रमम्

यो श्रीमातृ-पदारविन्द-मधुपो यो त्र्यक्षरात्मा महत् ।
शान्तो सिद्ध समर्थ शक्ति-निरतो शाक्तो सुहृद्-सेवितः ।
त्यक्त्वाऽऽवास-प्रयास-विग्रहपुरे कुर्वन् विपच्छान्तये,
सोऽयं सत्य-धरेति नाम विदुषः कौलो विभूत्यै स्तुतः ।।

तस्यात्मजस्य मधुकरस्य च पुत्र-रत्नः सम्भूत कौलो मणि-कण्ठ-नाम्नः,
रणजीत-पुरवां कृत-वास तेन तस्यात्मजेन विदुषेण च सूर्य-मणिना ।

गौडहा कृत-वासश्च होलेन तत्-सुतेन च ।
कृतो वासः पुनः पूर्व-वत् तथा विग्रहपुरम् ।।
तस्योदय-नाथाख्यो पुत्रोऽभूच्छुचिमात्म-वान् ।
तस्य लाल-मणिः पुत्रो उधरनपुर-वास्तवः ।।

हफीजाबाद-वासी च बालाख्यो तस्य आत्मजः ।
बीरेश्वरोऽभवत् तस्य काशी-नाथस्तु तस्य वै ।।
तस्यात्मजस्य सौम्यस्य देवी-दीनस्य यो सुतः ।
गोवर्द्धन समाख्यातो रावतपुर-कृताश्रयः ।।
प्रतापी-रामेति विख्यातो तस्य पुत्रः प्रताप-वान् ।
वेणी-दत्तो तस्य पुत्रश्च विजयाख्यो यस्यात्मजः ।।
विजय-प्रसादस्य कौलस्य देवी-दासोऽभवच्छुभः ।
यस्य भार्या महा-साध्वी पति-लोकाभि-गामिनी ।।

देवी-दासस्य तनयः सुखदः सर्व-विद्याऽभिगामी,
मुन्ना-लालो परम विदुषः दैव-वाणी-विलासी ।
त्यक्तः वासो सकल-सुखदः भक्तितः चण्डिकायाः,
मातृ-क्रोडे परिजन-युतो बक्सरेऽभूत् प्रवासी ।।

तत्-पुत्र **मङ्गल-प्रसादः** कुलीन प्राज्ञो सम्भूतः नित्य जगदम्ब-पदानुरागी,
तस्यात्मजो सुजन-मण्डन **कामदाख्यो** सुज्ञो वदान्यः सततं सु-प्रहृष्ट-चेतः ।
प्राज्ञो प्रशान्तो प्रिय-वाग् विधिज्ञो शश्वत् पराम्बाश्रय-वृत्ति-वर्ती,
सुखे च दुःखे च सम-स्वभावो श्रीकामदाख्यो सुकुलो बभूव ।।

कामदा-प्रसादस्य महा-प्राज्ञः **देवी-दत्तो** तृतीयकः ।
बभूव पुत्रो धर्मज्ञो कौलादित्येति यो श्रुतः ।।
अति चतुरमुदारो चारु-वृत्तिर्विनीतो,
मति - विभव - समेतोऽत्यन्त - कारुण्य - पुञ्जः ।
प्रिय वचन-विलासी सम्मतः सज्जनानाम्,
सुर-यति-द्विज-भक्तः चारु-कीर्त्तिः सुरूपः ।।

कवि-प्रियो रचनासु विचक्षणः विविध-शास्त्र-कला-कुशलो महान्,
कवितया सहितः प्रिय-वाक्-शुचिर्विमल-शील-रुचिर्निपुणः सदा ।
यस्य प्रयास-बहुलेन तु कौल-धर्मः समुन्नतो भाति विरोध-ध्वंसी,
प्रकटावधूतस्य तु तस्य जातो स्वात्मेव सत्पुत्रः पितानुगामी ।।

□

श्री शुक्ल-जन्माङ्ग-चक्रम्

सम्वत् १९४५ वि० वैसाख-मासे कृष्ण-पक्षे तृतीयाँ शनिवासरे शुभ जन्म ।

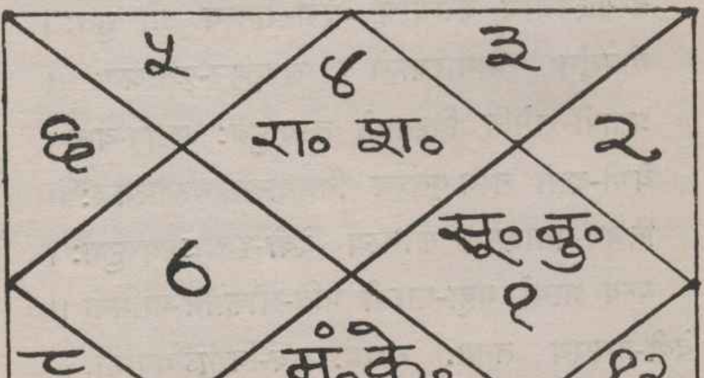

पूज्य शुक्ल जी

सन् १९४५ में

मेरे साहित्य-गुरु : पण्डित देवीदत्त शुक्ल

● श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

अप्रैल सन् १९२० में जब मैं द्विवेदी जी का पत्र पाकर इलाहाबाद गया, तब मेरे मन में एक ओर महत्त्वाकांक्षा थी और दूसरी ओर संशय के साथ भय का भी भाव था। इलाहाबाद जाने के पहले मैं सप्रे जी से मिला था। उन्होंने कहा—आप 'सरस्वती' में टिक नहीं सकेंगे। द्विवेदी जी को सन्तुष्ट करना बड़ा कठिन है। मैं समझता हूँ कि थोड़े ही दिनों के बाद आपको काम छोड़ कर आना पड़ेगा।

सप्रे जी मेरे लिए गुरु-तुल्य थे। उनके प्रति मेरा भक्ति-भाव था। वे मुझ पर स्नेह भी रखते थे। इसी से उनकी यह बात सुनकर मैं सचमुच डर गया। सम्पादन-कार्य का अनुभव भी मुझे नहीं था। मैंने तो कोई प्रेस भी नहीं देखा था। दो-चार कविताएँ और लेख लिख कर मैं लेखकों की पंक्ति में अवश्य बैठ गया था, पर अपनी अनुभव-हीनता के कारण मुझे भी यह संशय हो रहा था कि मैं काम कर सकूँगा या नहीं। इण्डियन प्रेस में मैं किसी को जानता भी नहीं था। पं० लल्लीप्रसाद पाण्डेय जी के विषय में मैं यह जानता था कि वे गीता-रहस्य के अनुवाद में सप्रे जी के साथ काम कर चुके हैं। इसी से उनके प्रति मैं एक निकटता का अनुभव कर रहा था। इलाहाबाद जाने के पहले मैंने उनको एक पत्र भी लिखा था। 'सरस्वती' में काम करने की मुझे बड़ी इच्छा थी। मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि वे मेरे लिए वहाँ प्रयत्न करें। उनका जो उत्तर आया, उससे मुझे विशेष आशा तो नहीं हुई पर जब मैं इलाहाबाद गया; तब मेरे मन में यह भाव अवश्य था कि इण्डियन प्रेस में कम-से-कम एक व्यक्ति तो ऐसे हैं, जो मेरे लिए सर्वथा अपरिचित नहीं हैं।

इलाहाबाद में मेरे अनुज हनुमन्तलाल बख्शी कायस्थ पाठशाला में पढ़ते थे। वे सुदर्शन-भवन में रहते थे। मैं भी सुदर्शन-भवन में ठहरा। दूसरे दिन मैं इण्डियन प्रेस गया। मैं अपने साथ द्विवेदी जी का कार्ड ले आया था। वही मेरे लिए परिचय-पत्र था। मैंने चौकीदार से पूछा कि 'मैनेजर साहब हैं या नहीं ?'

उसने बतलाया कि 'मैनेजर साहब अभी नहीं हैं।'

आफिस में एक व्यक्ति काम कर रहे थे। मैंने उनके सम्बन्ध में चौकीदार से पूछा। उसने बतलाया कि 'वे अपूर्व बाबू हैं।'

प्रिण्टर के रूप में उनका नाम 'सरस्वती' में मैं पढ़ चुका था। मैंने द्विवेदी जी का कार्ड चौकीदार के हाथ में देकर कहा कि 'इसे अपूर्व बाबू को दे दो।' अपूर्व बाबू ने कार्ड देखते ही तुरन्त मुझको बुलवाया। उन्होंने कहा—अभी तो कोई नहीं आये

हैं। चलिए, मैं आपको सम्पादन-विभाग में बैठा दूँ। कुछ ही देर में **देवीदत्त शुक्ल जी** आएँगे तब उनसे आपका परिचय करा दूँगा।

मैं एक बड़े हाल में जाकर एक बड़ी कुर्सी पर बैठ गया। कुछ ही देर बाद पं० लल्लीप्रसाद पाण्डेय जी आए और **पं० देवीदत्त शुक्ल जी** भी। अपूर्व बाबू ने उन दोनों को मेरे सम्बन्ध में पहले से ही बतला दिया था। इसलिए अपरिचित होने पर भी वे मुझसे एक परिचित व्यक्ति की तरह मिले।

देवीदत्त जी की सौम्य मूर्ति देख कर मैं बड़ा प्रभावित हुआ। उन्होंने बड़े स्नेह के साथ मुझसे बातें कीं और कुछ लेख अपने डेस्क से निकाल कर मुझको दिए और कहा 'आप इन्हें देखिए और अपने डेस्क में रखिए।'

मैंने उन लेखों को ले लिया। मैंने उनको पढ़ा भी। लेख मुझे अच्छे नहीं लगे, पर मैं यह नहीं समझ सका कि उन लेखों को लेकर मैं क्या करूँ। **पं० देवीदत्त जी** उन दिनों 'बालसखा' का भी काम करते थे। वे अपने काम में लग गए। कुछ देर बाद मुझे बतलाया गया कि मैनेजर साहब बाहर गये हुए हैं। वे कल आएँगे, तब उनसे भेंट होगी। मैं कुछ देर तक वहाँ बैठा रहा। फिर मैं उठकर बाहर चला आया और सुदर्शन-भवन चला गया। मुझे कुछ घबराहट-सी भी हुई। मैंने यह सोचा कि मैं कानपुर जाकर द्विवेदी जी से मिल लूँ।

रात की गाड़ी से मैं कानपुर चला गया। वहाँ मैंने द्विवेदी जी से भेंट की, पर उनका घर खोजने में मुझे कठिनाई अवश्य हुई। एक घर के पास पहुँच कर मैंने देखा कि बाहर कमरे की एक आलमारी में इन्साइक्लोपीडिया की किताबें सजी हुई थीं। मैंने अनुमान लगाया कि यही द्विवेदी जी का घर होना चाहिए। बाहर एक व्यक्ति खड़ा था। मैंने उससे पूछा—क्या यही द्विवेदी जी का घर है ?

उसने कहा—हाँ।

मैंने उससे फिर पूछा—क्या आप घर के भीतर जा सकते हैं ?

उसने कहा—हाँ, मैं तो उन्हीं का आदमी हूँ।

मैंने द्विवेदी जी का वह कार्ड उसे देकर कहा—इसे द्विवेदी जी को दे दीजिए और कह दीजिए कि मैं बाहर खड़ा हूँ।

द्विवेदी जी ने उस कार्ड को पढ़कर भीतर से ही पुकारा—आइए।

मैं भीतर चला आया। पहली बार मैंने द्विवेदी जी को देखा। उनके प्रति उनके गौरव के कारण मेरे मन में एक आतङ्क का भाव हुआ, पर उन्होंने अपने स्नेह-मय व्यवहार से मेरा वह भाव दूर कर दिया। उन्होंने पूछा—आपका सामान कहाँ है ?

मैंने कहा—मैं सामान नहीं लाया हूँ। मैं तो सिर्फ आपसे भेंट करने के लिए आया हूँ। इण्डियन प्रेस जाकर मुझे बड़ी घबराहट हुई। मैं कुछ समझ नहीं पाया कि मुझे क्या करना चाहिए। इसी से आपके पास आया हूँ।

उन्होंने कहा—आप घबराइए मत, मैंने 'सरस्वती' की सामग्री इण्डियन प्रेस में भेज दी है। उसे एक बार देख लीजिए। तब आप समझ जाएँगे।

यह कह कर उन्होंने मुझे दो लेख दिए और कहा कि 'इनको संशोधित करना होगा।'

फिर उन्होंने सेण्ट निहाल सिंह का एक अंग्रेजी लेख दिया और कहा कि 'इसका हिन्दी में अनुवाद कीजिए। अपनी ओर से भी दो-एक लेख लिखिए और कुछ छोटे-छोटे नोट्स भी। उन सबको मेरे पास भेज दीजिए। आप जो कुछ लिखें, उसे निःसङ्कोच मेरे पास भेज दें। मुझे विश्वास है कि आप काम कर लेंगे।'

इसके बाद उन्होंने मेरे नहाने-धोने और खाने-पीने की व्यवस्था कर दी। जब मैं खा-पीकर निश्चिन्त हो गया, तब उन्होंने पूछा—क्या आप इण्डियन प्रेस में किसी को बतला कर यहाँ आए हैं?

मैंने कहा—नहीं। मैं तो घबड़ा कर यहाँ आया हूँ।

तब उन्होंने मैनेजर के नाम एक पत्र लिख दिया। उसमें उन्होंने यह भी लिख दिया था कि 'कानपुर आने-जाने का खर्च इनको दे दिया जाय।' फिर उन्होंने कहा—अब आप आराम कीजिए, मैं तो बाहर जाता हूँ। मेरा भाञ्जा आपको स्टेशन पहुँचा देगा और गाड़ी में बैठा देगा।'

द्विवेदी जी चले गए और मैं कुछ देर तक वहीं बिस्तर पर लेटा रहा। मेरी घबराहट दूर हो गई थी। मैं इलाहाबाद लौट आया।

दूसरे दिन मैं फिर इण्डियन प्रेस गया। वहाँ सबने मुझसे यही पूछा कि 'आप कहाँ चले गए थे? मैनेजर साहब आपको पूछ रहे थे!'

मैंने उनको बतलाया कि 'मैं द्विवेदी जी के पास चला गया था।'

उसके बाद मैनेजर साहब आए। उन्होंने मुझे बुलवा भेजा। मैंने उनको बतलाया कि 'मैं द्विवेदी जी के पास चला गया था।'

मैंने उनको द्विवेदी जी की चिट्ठी भी दे दी। चिट्ठी पढ़कर उन्होंने कहा—आप निश्चिन्त होकर काम कीजिए। किसी भी तरह की तकलीफ हो, तो मुझे बतलाइए।

उनसे बातें कर मैं फिर सम्पादन-विभाग में आ गया। पं० देवीदत्त शुक्ल जी आए। मुझे देखते ही उन्होंने भी पूछा कि 'आप चले कहाँ गए थे? हम लोग तो आपको यहाँ खोजते फिरे!'

मैंने उनको सब बातें बतलाईं। मेरी बातें सुन कर वे हँसने लगे। फिर कहा—आप बिलकुल मत घबराइए।

मैंने उनको अपनी अनुभवहीनता के कारण अपनी कठिनाई उन्हें बतलाई। उन्होंने फिर हँस कर कहा—आपकी यह कठिनाई दूर हो जाएगी।

फिर वे लाला कन्नोमल जी के लेख को लेकर उसका संशोधन मुझसे कराने लगे। लगभग चार घण्टे तक संशोधन का वह काम होता रहा। फिर उसके बाद उन्होंने कहा कि 'अब दूसरे लेख का संशोधन करेंगे। आपको अपनी ओर से जो लेख लिखना है, उसे लिख डालिए।'

दूसरे दिन फिर एक लेख का संशोधन हुआ। उन लेखों के साथ अपने लेखों को लेकर मैं पं० लल्लीप्रसाद पाण्डेय जी के पास गया। उन्होंने वे सब लेख ले लिए। वही सब लेखों को द्विवेदी जी के पास भेजते थे।

कुछ ही दिनों के बाद मैं यह अनुभव करने लगा कि पं० देवीदत्त जी मेरे लिए अपरिचित व्यक्ति नहीं हैं। उनके स्नेह-मय व्यवहार ने मुझको सचमुच मुग्ध कर लिया। मैं निश्चिन्त होकर लिखता था और निश्चिन्त होकर अन्य सब काम करता था।

साहित्यकारों के प्रति मेरे मन में सदैव एक गौरव का भाव रहा है। मैंने एक बार पं० लल्लीप्रसाद पाण्डेय जी से कहा कि 'मैं पं० बदरीनाथ भट्ट और पं० कामताप्रसाद गुरु जी के पत्रों को देखना चाहता हूँ।'

पं० बदरीनाथ भट्ट जी की कविताएँ मुझे विशेष प्रिय थीं। अपनी छात्रावस्था में मैंने उनकी कई कविताएँ कण्ठस्थ कर ली थीं। पं० लल्लीप्रसाद जी ने उनके पत्र मुझको दिखाए। उन्हें देखकर मुझे सचमुच प्रसन्नता हुई। छपी हुई पुस्तकों की अपेक्षा हस्त-लिखित रचनाओं में अधिक गौरव रहता है। इसी से कितने ही लोग बड़े लोगों से अपनी आटोग्राफ-कापी में उनके हस्ताक्षर लिया करते हैं। मैंने भी कितने ही पत्रों का संग्रह किया था। पर एक बार मेरा वह पत्र-संग्रह खो गया।

शुक्ल जी से अधिक परिचित होने के बाद मैं उनके घर भी जाने लगा। जब दिसम्बर में द्विवेदी जी ने यह इच्छा प्रकट की कि वे 'सरस्वती' से अलग हो जाएँगे, तब मैं फिर घबराया। अभी तक मैं चिन्ता-मुक्त होकर काम किया करता था, पर जब यह कहा गया कि 'सरस्वती' का सम्पादन-भार मुझे लेना पड़ेगा, तब मैंने पं० देवीदत्त जी से पूछा कि 'अब क्या किया जाए। अब तो बड़ी कठिनाई होगी!'

देवीदत्त जी ने हँस कर कहा—कोई कठिनाई नहीं होगी। आप व्यर्थ चिन्ता मत करें।

अचानक चिन्ता का एक अचिन्त्य कारण उपस्थित हो गया। इण्डियन प्रेस के कम्पोजीटरों के हड़ताल कर देने के कारण विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई। अभी तक 'सरस्वती' ठीक पहली तारीख को प्रकाशित हो जाती थी। जनवरी की 'सरस्वती' ठीक समय में नहीं निकल सकी। लोगों ने कहा कि 'अब द्विवेदी जी के चले जाने के बाद 'सरस्वती' नहीं चल सकेगी।'

हम लोगों ने किसी तरह 'सरस्वती' की सामग्री तो तैयार कर ली, पर उसकी छपाई की व्यवस्था में कठिनाई अवश्य हुई। मैथिलीशरण गुप्त जी तथा अन्य लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों ने 'सरस्वती' में अपनी रचनाएँ भेजना भी बन्द कर दिया। हम लोगों के लिए सचमुच वह सङ्कट-काल था, पर पं० देवीदत्त जी मेरी तरह कभी उद्विग्न नहीं हुए।

इसके बाद एक दूसरा सङ्कट आया। इण्डियन प्रेस के उस भवन को इलाहाबाद यूनीवर्सिटी ने खरीद लिया। कर्नलगञ्ज के एक बँगले में 'सरस्वती'-सम्पादन की व्यवस्था हुई। छपाई के लिए बेलवेडियर प्रेस में प्रबन्ध किया गया।

सबसे अधिक कठिनाई चित्रों के सम्बन्ध में हुई। तब मैंने मैनेजर साहब से कहकर कलकत्ते से कितने ही पुराने ब्लाक मँगवाए और उन्हीं के आधार पर सचित्र लेख लिखे जाने लगे। ठाकुर गोपालशरण सिंह और पं० रामचरित उपाध्याय जी की कविताएँ हमें मिल जाती थीं। नये कवियों की रचनाएँ प्रकाशित करने के लिए हमें खूब सोच-विचार करना पड़ता था।

इसमें सन्देह नहीं कि १९२१ से हिन्दी में छायावाद का प्रचार होने लगा। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में एक नया युग आ गया। मुझे और पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल को विशेष परिश्रम करना पड़ता था। पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी कितने ही नाम देकर लेख लिखा करते थे। कहानियों के लिए भी कठिनाइयाँ होने लगीं। उसी समय सुदर्शन जी ने 'सरस्वती' में लिखना आरम्भ किया। हिन्दी में उनकी पहली कहानी 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई।

मुझे कथा-साहित्य से विशेष प्रेम है। पण्डित देवीदत्त जी को कथा-साहित्य के प्रति विशेष अनुराग नहीं था। मैंने उनको अंग्रेजी कहानियाँ पढ़ने को दीं; उनसे यह भी कहा कि निबन्धों की अपेक्षा कहानियाँ अधिक लोक-प्रिय होती हैं। कहानियों के संग्रह को प्रकाशक भी सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। इनसे अच्छा आर्थिक लाभ भी होता है।

तब पण्डित देवीदत्त जी ने कहानी लिखने की इच्छा प्रकट की। अंग्रेजी कहानियों के भाव लेकर कितनी ही नई कहानियों की रचना होने लगी। मैंने उनसे कम-से-कम पच्चीस कहानियाँ अवश्य लिखवाईं। उनकी वे कहानियाँ 'ग्रामीण' के नाम से छपी हैं। उन कहानियों का संग्रह भी इलाहाबाद के साहित्य-भवन से प्रकाशित हुआ। उससे उन्हें आर्थिक लाभ भी हुआ। वे खूब सन्तुष्ट हुए। उन्होंने कहा कि 'अच्छे मौके पर मुझे रुपये मिले। मुझे अपनी कन्या के विवाह में उन रुपयों से बड़ी सुविधा हुई।'

पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी से मेरा घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था। जब कभी मुझे कोई अड़चन होती थी, तब मैं उनके पास जाता था। जब मेरे परिवार के लोग खैरागढ़ चले जाते थे, तब कभी-कभी मुझे खाने-पीने में तकलीफ भी होती थी। मैं जैन-बोर्डिंग हाउस में छात्रों के साथ खाने-पीने लगा था। फिर भी जब मुझे विशेष कठिनाई होती थी, तब मैं उनके घर जाता था और खा लेता था।

देवीदत्त जी सुबह खिचड़ी बनाते थे। मुझे भी खिचड़ी खूब प्रिय है। मैं उनके घर में कितनी ही बार खिचड़ी खा चुका हूँ। शाम को वे रोटी और सब्जी बनाते थे। उनके यहाँ भोजन करने में मुझे बड़ी तृप्ति होती थी।

कभी-कभी कोई पारिवारिक अचड़न भी हो जाती थी। एक बार मेरी पत्नी की बूढ़ी विधवा भाभी आईं। वे कहने लगीं—मुझे काशी ले चलो। मैं वहाँ विश्व-नाथ जी के मंदिर में एक लाख बत्तियाँ जलाऊँगी।

मैं तो यह सुनकर घबड़ा गया, कैसे उनके साथ जाऊँगा ? कैसे वहाँ मन्दिर

में व्यवस्था करूँगा ? मैंने यह बात पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी को बताई। उन्होंने कहा—मैं उन्हें काशी ले जाऊँगा और उनके लिए सब प्रबन्ध कर दूँगा।

वे उन्हें लेकर काशी गए और उनकी इच्छा के अनुसार सारी व्यवस्था कराई। वे इससे बहुत सन्तुष्ट हुईं। उनका निवास-स्थान मण्डला था। जब कभी मैं मण्डला जाता, तब वे मुझसे देवीदत्त शुक्ल के सम्बन्ध में अवश्य पूछती थीं। उन्होंने कहा कि 'ऐसे उपकारी सज्जन कम ही होते हैं। उन्होंने सचमुच एक पुत्र की तरह मेरी देख-भाल की।'

एक बार मेरे श्वसुर बीमार पड़े। उन्हें मधु-मेह हो गया था। उन्होंने मुझको एक पत्र लिखा। वे कानपुर के एक वैद्यराज से चिकित्सा कराना चाहते थे। मैंने शुक्ल जी को फिर यह बात बतलाई। शुक्ल जी कानपुर जाकर वैद्यराज जी को ले आये। ५०) रोज पर वे मण्डला जाने के लिए तैयार हुए। वहीं मेरे श्वसुर रहते थे। मैं उन्हें लेकर मण्डला गया। चिकित्सा से कुछ लाभ नहीं हुआ। रोग असाध्य हो गया था। कुछ दिनों के बाद उनकी मृत्यु भी हो गई, किन्तु शुक्ल जी की इस सेवा-तत्परता से मेरे घर के सभी लोग उनके प्रति कृतज्ञ हो गए।

'सरस्वती' के सम्पादन में कितनी ही तरह की कठिनाइयाँ हुईं। एक बार श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी जी की कुछ रचनाएँ द्विवेदी जी ने मेरे पास भेजीं। उन्होंने लिखा था कि 'यदि उचित समझें, तो ये रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित कर दी जाएँ।'

मैं स्वयं वाल्ट ह्विटमैन का प्रशंसक था। उनकी कविताओं को मैं अपनी छात्रावस्था में पढ़ चुका था। मैंने उनके सम्बन्ध में एक लेख भी 'सरस्वती' में लिखा था। पर जब निराला जी की वे कविताएँ आईं, तब हम लोगों के लिए यह निश्चित करना कठिन हो गया कि उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करना चाहिए या नहीं। न शुक्ल जी उनके प्रकाशन के पक्ष में थे और न पण्डित सुन्दरलाल जी। पण्डित सुन्दरलाल जी प्रूफ देखा करते थे, पर उन्हें साहित्य का अच्छा ज्ञान था।

मैं उन कविताओं को लेकर पण्डित श्रीधर पाठक जी के पास गया। उन्होंने कहा—ये कविताएँ पढ़ी किस तरह जाती हैं !

मैं उन कविताओं को लेकर लौट आया। यदि द्विवेदी जी का आदेश होता, तो मैं उनको तुरन्त ही प्रकाशित कर देता, पर उस समय मुझे डर था कि 'सरस्वती' के विरुद्ध कहीं यह प्रचार न किया जाए कि उसमें अब द्विवेदी जी के न रहने से ऊटपटाँग कविताएँ छपने लगी हैं। इसी डर से मैं उन्हें प्रकाशित न कर सका।

निराला जी इस बात से बड़े रुष्ट हुए। 'मतवाला' के प्रत्येक अंक में 'सरस्वती' के विरुद्ध कुछ-न-कुछ लिखा ही जाता था। इसी समय एक और भी बात हुई। मेरे पास एक स्त्री की कविता आई। उस कविता को मैंने 'सरस्वती' में छाप दिया। उसके बाद मुझको मालूम हुआ कि निराला जी ने रामचरित उपाध्याय जी की एक पुरानी कविता कुछ बदल कर एक स्त्री के नाम से उसे मेरे पास भेज दिया था। छपने के बाद उन्होंने कहा—'सरस्वती' में ऐसी रद्दी कविताएँ छपती हैं !

उग्र जी के भी एक निबन्ध को प्रकाशित न करने के कारण वे भी हम लोगों से रुष्ट हो गए।

मैं तो कभी-कभी उद्विग्न हो जाता था, पर शुक्ल जी वैसे ही सौम्य और शान्त बने रहते। वे कहते—ऐसी बातें प्रायः होती ही रहती हैं।

जब मैं 'सरस्वती' में काम कर रहा था, तब एक दिन अचानक मुझे तार द्वारा सूचना मिली कि मेरे पिता दिवङ्गत हो गए। मुझे इस बात से बड़ा दुःख हुआ कि अन्त-काल में भी मैं न उनकी सेवा कर सका और न दर्शन ही कर सका। मैंने सोचा कि अब 'सरस्वती' का काम मुझे छोड़ देना चाहिए। खैरागढ़ में ही रह कर फिर पढ़ाने-लिखाने का काम मैं करूँ, पर कुछ समय के बाद मेरा विचार बदल गया। मेरी माँ की यह इच्छा थी कि वे किसी तीर्थ-स्थान में रहें। तब मैं फिर इलाहाबाद आ गया। इण्डियन प्रेस के मैनेजर श्री पटल बाबू ने कृपा कर मुझे फिर वह काम दे दिया। कुछ समय तक काम करने के बाद मेरे एक छोटे बच्चे की भी मृत्यु हो गई; तब मैंने निश्चय कर लिया कि मैं अब इलाहाबाद में नहीं रहूँगा।

देवीदत्त शुक्ल जी ने मुझे समझाया। उन्होंने मुझे सान्त्वना भी दी, पर मैं 'सरस्वती' का काम छोड़कर चला आया और फिर शिक्षा के क्षेत्र में काम करने लगा। फिर भी इण्डियन प्रेस से मेरा सम्बन्ध बना ही रहा। कोई-न-कोई साहित्यिक काम मुझे मिल जाता था। इसी से मैं जबलपुर, इलाहाबाद और लखनऊ भी गर्मी के दिनों में जाया करता था।

जब-जब मैं इलाहाबाद जाता था, तब-तब देवीदत्त जी से अवश्य भेंट करता और उनसे बड़ा स्नेह पाता। १९५१ में मुझे फिर 'सरस्वती' में काम करने का अवसर मिला। श्री पटल बाबू ने कहा—आप खैरागढ़ में ही रहकर 'सरस्वती' का काम कीजिए, यहाँ किसी को अपना सहायक बना लीजिए।

मैं इलाहाबाद आया। मैं देवीदत्त जी से मिला। उस समय उनकी दृष्टि-शक्ति लुप्त हो गई थी। बड़ी देर तक उनसे बातें होती रहीं। उसके बाद फिर मुझसे भेंट नहीं हुई। परिस्थिति के कारण मैं फिर 'सरस्वती' से अलग हो गया।

जब 'सरस्वती' में मैंने शुक्ल जी के देहावसान का समाचार पढ़ा, तब मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं अपना साहित्य-गुरु ही खो बैठा और उन्हीं के साथ अपनी स्नेह-निधि भी। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हीं के स्नेह-संरक्षण में, मैं जब तक इलाहाबाद में रहा, तब तक सुखपूर्वक रहा। मैं भी अब जरा-जीर्ण हो गया हूँ, पर वृद्धावस्था में भी शुक्ल जी के स्नेह, सद्भाव और सहानुभूति को नहीं भूल सकता। उनके साहचर्य में मुझे सदैव एक गौरव का अनुभव हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने अपना एक विशेष स्थान बना लिया है और मृत होकर भी वे उसमें जीवित ही रहेंगे। और क्या लिखूँ—

भव-भूतल को भेद गगन को उठनेवाले तुम्हें प्रणाम !

☐

हे स्वर्गीय सुमन !

● श्री नन्दकिशोर लाल 'नन्दन'

हे लाखों-लाख मनुज के आस्था - केन्द्र एक।
हे ज्योति-पुञ्ज ! अध्यात्म-वाद के बल - विवेक ।।
हे चिर पुनीत, प्राचीन सु-संस्कृति के गौरव !
है व्याप्त चतुर्दिक तेरे सुमनों का सौरभ ।।

हे अमर प्राण ! हे अमर साधना के साधक !
पच्चीस वर्ष के 'सरस्वती' के सम्पादक ।।
हे अखिल हिन्द के शाक्त - सङ्घ - सूत्रधार ।।
अगणित आध्यात्मिक ग्रन्थों के हे कलाकार !!

करती आदर्श प्रदान "हिन्दुओं की पोथी" ।
तेरी, जिसमें जगमग करते अनुपम मोती ।।
तुलसी ने हिन्दी को रामायण रत्न दिया।
तुम "हिन्दी सप्तशती" लिख जग कल्याण किया ।।

है रहा कौन अब तुम जैसा कर्मठ, योगी।
विद्या - वारिधि, जिससे तेरी समता होगी ।।
हे देवीदत्त शुक्ल जी ! हे स्वर्गीय सुमन !
बिखरा दो हम पर भी प्रतिभा की एक किरण ।।

□

"....महात्मा गांधी को इस बात की शिकायत है कि हिन्दी में कुछ भी नहीं है और उसने अब तक न रवीन्द्र पैदा किया है, न बोस पैदा किया है। महात्मा जी की यह शिकायत कुछ ठीक है क्योंकि हिन्दी-भाषी विद्वान् सचमुच हिन्दी की सेवा से विमुख रखते हैं। यदि उन्होंने हिन्दी को अपनाया होता, तो आज महात्मा जी को यह शिकायत क्यों करनी पड़ती ?"....

—'कुछ खरी-खरी', पृ० २२

पण्डित देवीदत्त शुक्ल : एक संस्मरण

● पण्डित लल्लीप्रसाद पाण्डेय

मैं जब लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से श्री प्रयागराज आया, तो नई अवस्था होने से काम सीखने की नई उमङ्ग थी। मुझे पं० बदरीनाथ भट्ट का साहचर्य प्राप्त हो गया और मैं नई धुन में काम सीखने लगा। बात सन् १९१७ की है।

भट्ट जी मन-मौजी थे। उनका दफ्तर का काम भी इसी तरह होता था। जब वे काम छोड़कर अपने घर आगरे चले गए, तो मैं मनहूसियत में काम करने लगा कि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का सिफारिशी पत्र लेकर भाई **देवीदत्त जी सुकुल** दफ्तर में आए। द्विवेदी जी ने सुकुल जी की प्रशंसा में लिखा था कि 'ये छत्तीसगढ़ में मास्टरी करते थे। घर की देख-भाल करने को अब ये उस नौकरी पर नहीं जाएँगे। ऐसे काम के आदमी हर वक्त नहीं मिलते। इन्हें अपने यहाँ काम दीजिए। आगे इनसे बड़ी आशा है।'

बाबू चिन्तामणि घोष द्विवेदी जी की बात नहीं टालते थे। फिर युवा सुकुल जी को वे क्यों स्थान न देते! युवकों से उन्हें बड़ी आशाएँ रहती थीं। सुकुल जी समय पर दफ्तर आ जाते और जो काम उन्हें दिया जाता, उसे बड़ी रुचि से करते थे। सुपाड़ी और सुरती खाने के अलावा उन्हें कोई व्यसन नहीं था। इन चीजों से वे साथियों का भी स्वागत करते थे।

द्विवेदी जी की गुप्त कामना थी कि सुकुल जी काम सीखकर 'सरस्वती' का सम्पादन करने की योग्यता प्राप्त कर लें। सुकुल जी भी इस दिशा में प्रयत्न करने लगे। 'सरस्वती' के लिए अच्छी-से-अच्छी सामग्री एकत्र करके सम्पादक के पास भेजते और सम्पादक की रुचि के लेख लिखकर भी भेजते; दूसरों के लिखे लेखों का संशोधन और परिवर्धन करते। सुकुल जी का निवास द्विवेदी जी के गाँव के समीप ही था। इस कारण भी सुकुल जी द्विवेदी जी के स्वभाव से परिचित थे। उनकी कार्य-कुशलता देखकर दूसरे लोग भी प्रशंसा करते। यों सुन्दरता से काम होने लगा।

इसी बीच विश्वनाथ की नगरी में जगतगंज मुहल्ले के समीप, प्रेस की शाखा खोलने को एक विशाल बँगला मोल लिया गया और मैं वहाँ के शाखा-कार्यालय में भेज दिया गया। इस कारण सुकुल जी के समाचारों से कम अवगत रहा।

अधिक परिश्रम करते-करते उनकी आँखों पर इतना जोर पड़ा कि इलाज कराने के लिए काशी जाना पड़ा। वहाँ पर के घोड़ा घाट पर मथुराप्रसाद मिश्र जी के भवन में ठहरे थे। खबर पाकर मैं उनके पास गया, तो देखा कि इलाज चल रहा है। मैंने समझा कि इलाज कारगर होगा। परन्तु ज्योति वापस नहीं लौटी।

सुकुल जी की रुचि 'सरस्वती' के सम्पादन में अधिक-से-अधिक थी। इस कारण परिश्रम करते समय यदि उन्होंने स्वास्थ्य की रक्षा पर ध्यान रखा होता, तो उन्हें शारीरिक कष्ट न झेलना पड़ता। यदि कार्य में सहायता देने को उनके साथ सहायक होते, तो बहुत अच्छा होता। पर योगायोग को कौन टाल सकता है !

सुकुल जी ने बख्शी पदुमलाल जी के साथ काम किया और बहुत उत्तमता से सम्पादन किया। फिर ठाकुर श्रीनाथ सिंह को भी उन्होंने सम्पादन के लिए साथी बनाया, पर ये पीछे की बातें है। अच्छे स्वास्थ्य के समय यदि उन्होंने सहायकों से भरपूर सहायता ली होती, तो उनका स्वास्थ्य सुधरा रहता।

☐

"....जब तक जन-साधारण हमारे वर्त्तमान साहित्य से उदासीन रहेगा, तब तक हिन्दी की यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकती। जन-साधारण से हमारा मतलब उन लोगों से है, जो अँगरेजी नहीं जानते अथवा जो अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों में नहीं बैठते-उठते। इनमें ऐसे लोगों की संख्या तो थोड़ी ही है, जो संस्कृतज्ञ हैं। हिन्दी-पढ़े लोगों की ही संख्या अधिक है।....

"....संस्कृत वाले आज भी हिन्दी से उदासीन हैं। यह बात हमीं नहीं कहते। हिन्दी के धुरन्धर लेखक तक इसे स्वीकार करते हैं। ....क्या कभी कोई ऐसा प्रयत्न भी किया गया है, जिससे हम संस्कृत वालों को हिन्दी की तरफ झुका सकें ?...."

—'कुछ खरी-खरी', पृ० २

सप्रेम प्रणाम !

• कुँवर श्री हरिश्चन्द्र वर्मा 'चातक'

वाग् "देवी-दत्त" प्रतिभा प्रभा से भरपूर—
"शुक्ल" होकर के सदा जो श्याम-रस में चूर !
तुम अकाम इसलिए कि पूर्ण-काम हो;
तुम अधाम इसलिए कि धाम-धाम हो,
तुम अनाम इसलिए कि सर्व-नाम हो;
तुम प्रणम्य इसलिए कि तुम प्रणाम हो ।

एक पंक्ति चाँदनी की
एक पंक्ति गन्ध की—
एक पंक्ति शबनमी
मोतियों की गूँथ दूँ—
भावना के हार में—
मानव के प्यार में !

महावीर-प्रसाद से पूर्ण काम ललाम—
उसी विद्वद्-वृन्द-वन्दित को सप्रेम प्रणाम !

□

"....हमारे विश्व-विद्यालयों के हिन्दी-भाषी अध्यापकों को यदि कोई महत्त्व की चीज लिखनी होती है, तो ये महानुभाव उसे अँगरेजी में लिखते हैं....समझते हैं कि अँगरेजी में लिखने से इनकी कीर्ति होगी और ये संसार के विद्वानों में न सही, भारत के अग्रणी विद्वानों में तो गिन ही लिए जाएँगे ।....ये हिन्दी का पढ़ना तक गवारा नहीं करते....अपनी साहित्यिक अभिरुचि की तृप्ति एकमात्र अँगरेजी के द्वारा ही करते हैं । ऐसी दशा में यदि कोई हिन्दी की हीनता की बात आगे लाता है, तो क्या बेजा करता है ।...."

—'कुछ खरी-खरी', पृ० २३-२४

वीतराग साहित्य-महारथी

● पण्डित ज्योतिप्रसाद मिश्र "निर्मल"

पूज्य पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल हिन्दी-संसार के उन साहित्य-महारथियों में से एक थे, जिनकी प्रेरणा और कुशल सम्पादन-कला से हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई और हिन्दी के सैंकड़ों उत्साही लेखकों का उदय हुआ। वास्तव में शुक्ल जी सम्पादकाचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के स्थानापन्न थे और लगभग ३० वर्ष तक हिन्दी की प्राचीन और प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक-पद पर प्रतिष्ठित रहे। आचार्य द्विवेदी जी ने जिस वट-वृक्ष का आविर्भाव किया था और अपने ही समय में जिसे उन्होंने पाल-पोसकर बड़ा किया, उसे और भी उन्नत और लोक-प्रिय बनाने में शुक्ल जी का बहुत बड़ा हाथ था। वे हिन्दी के उन समृद्ध निर्माताओं में हैं, जिन्होंने बड़े त्याग, तपस्या और परिश्रम से हिन्दी के निर्माण में योग-दान किया।

मेरा परिचय **पूज्य पं० देवीदत्त शुक्ल** से सन् १९२२ से है। उस समय वे इण्डियन प्रेस से प्रकाशित होनेवाली मासिक पत्रिका 'बाल-सखा' के सम्पादक थे। आयु में वे मुझसे १६ या १७ वर्ष बड़े थे। मैं उन दिनों विद्यार्थी था, किन्तु हिन्दी में लिखने-पढ़ने की थोड़ी-बहुत रुचि थी। मैं प्रायः इण्डियन प्रेस पूज्य शुक्ल जी के पास जाया करता था। उन्होंने मुझे बच्चों की कविताएँ लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। अनेक वर्षों तक उन्होंने 'बाल-सखा' में मेरी कितनी ही रचनाएँ प्रकाशित कीं। इसलिए मैं उनका हृदय से अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मुझे प्रारम्भिक काल में प्रोत्साहन दिया।

इसके बाद शुक्ल जी के साथ मेरा सम्बन्ध बराबर बना रहा और उनके सान्निध्य में रहने का अवसर निरन्तर मिलता रहा। उन्होंने समय-समय पर अपने सम्पादन-कार्य के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी बातें बताईं, जिनसे मुझे हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में बड़ा बल मिला। 'बाल-सखा' से जब वे 'सरस्वती' के सम्पादक हुए, तब भी उन्होंने अनेक लेख और कविताएँ मुझसे 'सरस्वती' में लिखवाईं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में कई वर्षों कार्य करने के उपरान्त मुझे पूज्य शुक्ल जी के सन्निकट आने से एक और सफलता प्राप्त हुई। इण्डियन प्रेस ने सचित्र साप्ताहिक 'देशदूत' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यह पत्र सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ। यह अपने ढंग का उस समय का ऐसा सचित्र साप्ताहिक था, जिसकी बिक्री लगभग ४०-५० हजार की संख्या में होती थी। यह विचार-प्रधान साप्ताहिक पत्र था। उस समय हिन्दी-संसार में जितने साप्ताहिक पत्र निकलते थे, वे सभी समाचार-प्रधान साप्ताहिक थे। 'देशदूत' के प्रकाशित होते ही उस समय के साप्ताहिक पत्रों के व्यवसाय पर बहुत बड़ा प्रभाव

पड़ा और सभी साप्ताहिक सचित्र साप्ताहिक 'देश-दूत' का अनुकरण करके समाचार-पत्र से विचार-पत्र बन गए। इस साप्ताहिक पत्रिका का मैं सम्पादक बनाया गया और इस कार्य में पूज्य शुक्ल जी ने मेरी प्रत्येक प्रकार की सहायता की।

'देश-दूत' की सफलता को देखकर शुक्ल जी अत्यन्त प्रसन्न होते थे। वे कभी-कभी कहा करते थे कि—'भाई, मैं नहीं समझता था कि तुम इतने सफल होगे, किन्तु भगवती की कृपा किस पर न हो जाय!' मैंने १४ वर्ष 'देश-दूत' का सम्पादन किया और बराबर शुक्ल जी के सान्निध्य में रहा। इस प्रकार बहुत पास से उनको समझने, उनके विचारों को जानने और उनकी हिन्दी-सेवा को पहचानने में मुझे अच्छी जानकारी प्राप्त हुई है। उनसे मुझे सदैव प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा।

शुक्ल जी वास्तव में एक त्यागी और तपस्वी ब्राह्मण थे। उनकी वेश-भूषा अत्यन्त सादी थी। उनका पहनावा धोती, कुर्ता और टोपी के सिवा और कुछ नहीं था। जाड़े में वे केवल कम्बल ओढ़ लेते थे। देखने में वे एक साधारण व्यक्ति-समान जान पड़ते थे, किन्तु जब कोई व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता था, तब वह उनकी गहन विद्वत्ता, धर्म-प्रियता और अटूट देश-भक्ति का परिचय पाता था। सचमुच उन्होंने अपना जीवन एक वीतराग योगी के समान बिताया था।

वे थैली सदा अपने पास रखते थे और सुपाड़ी, तम्बाकू, लौंग, कत्था तथा कपूर का अधिकांश प्रयोग करते थे। मिलने-जुलनेवाले व्यक्ति को भी इसी का प्रसाद देते थे। इस दिशा में उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। पान खाते तो उन्हें मैंने देखा ही नहीं। वे हृदय के बड़े उदार, सहृदय और मिष्ठ-भाषी थे। वे कभी उग्र शैली में न बात करते थे और न किसी को उत्तर देते थे।

शुक्ल जी साहित्य के बड़े पारखी थे। विनोद उन्हें बहुत पसन्द था। जब वे किसी ईमानदार समालोचक की समालोचना पढ़ते थे, तो गद्-गद् हो जाते थे। 'सरस्वती' में भी उन्होंने कुछ ऐसी आलोचनाएँ प्रकाशित कीं, जिनका हिन्दी-संसार में व्यापक प्रभाव पड़ा।

सभा-सोसायटी से वे सदा दूर रहते थे। मुझे यह स्मरण ही नहीं कि वे किसी भी हिन्दी-सभा के अध्यक्ष बने हों। वे प्रायः कहीं जाते ही नहीं थे। अपना काम और अपना घर! यदि किसी ने किसी सभा के अध्यक्ष-पद के लिए आमन्त्रित भी किया, तो वे उसे इन्कार कर देते थे। उन्हें अपने कार्य की परवाह थी, नाम की नहीं। वे बड़े निःस्पृह और निर्लोभी थे। थोड़े से पैसे में वे अपने घर का निर्वाह करते थे और सारा जीवन उन्होंने इसी प्रकार व्यतीत कर दिया।

इण्डियन प्रेस से अवकाश ग्रहण करने पर शुक्ल जी को ५० रुपए मासिक पेंशन मिलती थी। इसी में वे बड़ी सादगी से अपना जीवन-निर्वाह करते रहे। वे बड़े ही संतोषी थे। अन्त में उनकी नेत्र-ज्योति क्षीण हो गई और वे घर पर ही रह कर अपना जीवन अन्तिम समय तक बड़े मर्यादित ढंग से, नियमपूर्वक, धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करते हुए व्यतीत करते रहे। नेत्र-हीन होने के बाद भी साहित्य में और

हिन्दी-जगत् की जानकारी में उन्हें इतनी रुचि थी कि वे अपने सुपुत्र श्रीरमादत्त शुक्ल से सभी पत्र-पत्रिकाओं को पढ़वा कर सुना करते थे। वे हिन्दी-जगत् की अपटुडेट गति-विधि का पूर्ण परिचय रखते थे।

पूज्य शुक्ल जी श्रीभगवती के उपासक थे। तन्त्र-विद्या के प्रकाण्ड पण्डित और विद्वान् थे। तन्त्र-विद्या के प्रचार और प्रसार में उनका योग-दान स्मरणीय है। इसीलिए उन्होंने 'चण्डी' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। तन्त्र-सम्बन्धी कितने ही बहुमूल्य ग्रन्थों को प्राचीन पाण्डुलिपियों से शोधकर उन्होंने प्रकाशित किया और हिन्दी-जगत् को उनसे परिचित कराया।

आज पूज्य पण्डित जी हम लोगों के बीच नहीं हैं। किन्तु उनके संस्मरण—उनकी स्मृतियाँ, हिन्दी-साहित्य में उनके द्वारा की गई महती साहित्य-सेवा का लेखा-जोखा हमारे स्मृति-पटल पर गहराई से अङ्कित है। पूज्य शुक्ल जी हिन्दी के एक महान् तपस्वी साधक थे। वे खड़ी बोली के साहित्य के निर्माताओं में एक प्रमुख स्तम्भ थे। उन्होंने अपनी सम्पादन-कला से हिन्दी-संसार में जो मार्ग प्रशस्त किया है, उसे अपना कर हिन्दी के करोड़ों अनुयायी उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कर रहे हैं। इतिहास में कभी वे भुलाए नहीं जा सकते। ऐसी महान् आत्मा के दिवङ्गत हो जाने पर जो स्थान रिक्त हुआ है, उसकी पूर्ति होना कभी सम्भव नहीं है। हम उनके चरणों में शतशः प्रणाम करते हैं।

☐

"....हिन्दी की सच्ची उन्नति तभी होगी, जब उपादेय विषयों से पूर्ण साहित्य का जन-साधारण में प्रचार होगा।....

"....प्रत्येक सम्पादक को चाहिए कि वह सर्व-साधारण की रुचि का खयाल रक्खे। तभी हिन्दी के अधिक प्रचार की आशा हो सकती है।....

"....कई सम्पादक अँगरेजी पत्रों की प्रतिद्वन्द्विता करने ही को अपना कर्त्तव्य समझते हैं। वे राज-नीति पर ही बहुधा अधिक लिखते हैं।...."

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ४-५

लहैं अमरता !

● पण्डित नर्मदेश्वरप्रसाद उपाध्याय

देवीदत्त दत्तक देवी के,
देवी - भक्त महान।
देवी-अर्चन-यजन के यह थे,
ज्ञाता विशद विधान ॥१॥
'द्विवेदी-युग' की पत्र 'सरस्वती',
के सम्पादक बुधिमान।
तीस वर्ष लौं अविरत कीने,
सेवा विज्ञ सुजान ॥२॥
तन्त्र-मन्त्र के उद्भट ज्ञाता,
जिज्ञासुन वितर्‌यो ज्ञान।
वाम-मार्ग के प्रबल प्रचारक,
पुस्तक लिखी विधान ॥३॥
मातु-चरण के भक्त शुक्ल जी,
अविरत प्रति छन ध्यान।
लहैं अमरता दिव्य भक्त यह,
वितर्‌यो गुप्त विधान ॥४॥

□

"....यह सच है कि हिन्दी-भाषियों में जो उच्च कोटि के विद्वान् हैं, उनका हिन्दी से अनुराग नहीं है और यदि किसी-किसी में है, तो जबानी जमा-खर्च तक ही सीमित है परन्तु इसके साथ ही यह भी सच है कि निम्न-कोटि के जिन विद्वानों ने उसे अपनाया है, उन्होंने कमाल का काम किया है।....इन विद्वानों के पास विश्व-विद्यालय की ऊँची डिगरियाँ नहीं हैं पर जनता के विश्व-विद्यालय ने इन्हें ऐसी डिगरियों से विभूषित किया है कि उच्च कोटि के उन विद्वानों की ऊँची डिगरियाँ धूल फाँकती हैं।...."

—'कुछ खरी-खरी', पृ० २४

निष्पक्ष सम्पादक : स्वर्गीय पण्डित देवीदत्त शुक्ल

● पण्डित देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

सन् १९३१ में मैंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया था। उन दिनों 'सरस्वती' हिन्दी की उन इनी-गिनी साहित्यिक मासिक पत्रिकाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती थी, जिनमें किसी नवीन लेखक की रचना प्रकाशित होने पर सहज ही लेखक, कथाकार अथवा कवि होने का मानो प्रमाण-पत्र मिल जाता था।

मैं अपने छात्र-जीवन से ही 'सरस्वती' का एक अनन्य पाठक था। अतः पत्रकारिता के क्षेत्र में आकर स्वभावतः 'सरस्वती' में अपनी रचनाएँ प्रकाशित देखने की आकांक्षा बलवती हो उठी।

'भारत की आर्थिक अवस्था' शीर्षक लघु लेख मैंने 'सरस्वती' में एक दिन प्रकाशनार्थ भेज दिया। एक सप्ताह के भीतर ही तत्कालीन 'सरस्वती'-संपादक स्वर्गीय **पं० देवीदत्त जी शुक्ल** का स्वीकृति-पत्र मुझे प्राप्त हुआ, तो मैं उनकी निष्पक्षता का कायल हो उठा और मेरा उक्त लघु लेख जब अप्रैल, १९३२ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ, तो यह देखकर मैं आश्चर्यान्वित और हर्ष-विभोर हो उठा कि मेरा लेख सम्पादकीय स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।

अनेक पाठकों को उसी समय प्रतीत हुआ कि कदाचित् मैं 'सरस्वती' के सम्पादकीय विभाग का ही एक सदस्य हूँ, जब कि उस समय मैं जबलपुर के हिन्दी दैनिक 'लोक-मत' का सहायक सम्पादक था। इसे एक संयोग ही कहा जाएगा कि आगे चलकर मैं भी सन् १९५२ में 'सरस्वती' का सम्पादक हो गया और इस प्रकार की अनेक सम्पादकीय टिप्पणियाँ मुझे लिखनी पड़ीं।

रचनाओं की स्वीकृति भेजते समय स्व० शुक्ल जी किसी प्रकार का सम्बोधन नहीं करते थे। कम से कम मुझे उनके जितने स्वीकृति-पत्र मिले, सब इसके प्रमाण थे। पत्र का प्रारम्भ वह 'नमस्कार' लिखकर ही किया करते थे।

उक्त लघु लेख के पश्चात् मेरी अनेक कविताएँ और कहानियाँ शुक्ल जी ने 'सरस्वती' में प्रकाशित कीं और इसी माध्यम से मैं उनके निष्पक्ष व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ।

जबलपुर के एक प्रकाशक ने मेरी बालोपयोगी कविताओं का संग्रह 'मीठी तानें' जब प्रकाशनार्थ लिया, तो मैंने शुक्ल जी से निवेदन किया कि चूँकि वर्षों उन्होंने 'बाल-सखा' का सम्पादन भी किया है, अतः 'मीठी तानें' की भूमिका लिख देने की कृपा कर सकें, तो मैं आभार मानूँगा। मेरा यह निवेदन भी उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और पाण्डुलिपि मँगवाकर शीघ्र ही अपनी भूमिका लिख भेजी।

इस प्रकार शुक्ल जी के व्यक्तित्व से मैं प्रभावित होता गया। प्रथम बार

जब मैं जबलपुर से इलाहाबाद आया, तो इण्डियन प्रेस में पं० देवीदत्त जी शुक्ल के दर्शन करने का लोभ संवरण न कर सका। प्रणाम करके जब मैंने अपना नाम बतलाया, तो अत्यन्त स्नेह-पूर्वक उन्होंने मुझे बैठाया और साहित्यिक चर्चा करने लगे। इसी सन्दर्भ में यह भी उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, 'आपके उपनाम से मैंने जो अनुमान लगा रक्खा था, उसके सर्वथा विपरीत आपको देख रहा हूँ।' और एक क्षण रुककर तत्काल कहा—'मेरा मतलब आपकी काया से है—साहित्यिक रचनाओं से नहीं।' और सम्पादकीय विभाग के अन्य कई सदस्यों के साथ वह भी जोरों से हँस पड़े।

सन् १९४१ में जब मैं इलाहाबाद आकर एक कहानी मासिक पत्रिका में सम्पादन-कार्य करने लगा, तब बहुधा शुक्ल जी और ठाकुर श्रीनाथसिंह जी से मिलने-भेंटने लगा। इस समय तक मेरी कहानियाँ हिन्दी की प्रायः सभी तत्कालीन मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं। 'सरस्वती' में भी कुछ कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। एक दिन जब मैं अपनी एक कहानी का पारिश्रमिक लेने पहुँचा, तब साहित्यिक वार्ता के सन्दर्भ में शुक्ल जी ने कहा—'मस्त जी, आपकी कहानियों की भाषा संस्कृत-निष्ठ रहती है। सरल बोल-चाल की भाषा में यदि आप कहानियाँ लिखा करें, तो अधिक लोक-प्रियता की सम्भावना रहेगी। दूसरी बात आपकी कहानियों के सम्बन्ध में मुझे यह कहनी है कि घटना-संश्लिष्ट न होकर आपकी कहानियाँ भावना-प्रधान होती हैं, जो आज से दस वर्ष आगे की सम्भावनाओं से युक्त प्रतीत होती हैं।'

पता नहीं, शुक्ल जी ने, मेरे प्रति उनकी जो आत्मीयता अथवा स्नेह था, उससे प्रेरित होकर यह बात कही अथवा एक सम्पादक के नाते, किन्तु मैं तत्काल कह उठा—'आप अन्यथा न लें, तो मेरा निवेदन है कि जब मेरी कहानियाँ घटना-संश्लिष्ट नहीं होतीं और आज से दस वर्ष आगे की सम्भावनाओं से युक्त रहती हैं, तब आपको 'सरस्वती' में कदापि नहीं छापनी चाहिए। मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि इस दशा में आप उन्हें छापते क्यों हैं?'

'कारण तो स्पष्ट है भाई!' शुक्ल जी ने तत्काल मुस्कराते हुए कहा, 'जब अन्य प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में आपकी कहानियाँ छप रही हैं, तब मेरे न छापने से यही समझा जाएगा न, कि 'सरस्वती' को आपका सहयोग प्राप्त नहीं है।'

'तो यह कहिए कि विवशता की स्थिति में ही आप मेरी कहानियाँ छापते हैं?' मैंने प्रश्न किया।

'नहीं!' शुक्ल जी ने कहा, 'मुझे पसन्द आती हैं और 'सरस्वती' के पाठक यह न समझें कि मुझे आपका सहयोग प्राप्त नहीं है—इसलिए।'

यह था शुक्ल जी के बात करने, स्नेह प्रकट करने, लेखकों को सम्मानित और प्रोत्साहित करने का ढंग, और यही कुछ विशेषताएँ उनमें ऐसी थीं कि जो लेखक उनके सम्पर्क में पहुँच जाता था, वह उन्हें कभी भूल नहीं सकता था।

'सरस्वती' के सम्पादन में उन्होंने अपने जीवन का बहुमूल्य समय समर्पित कर दिया। इण्डियन प्रेस के प्रति उनकी निष्ठा अप्रतिम रही।

चण्डी के वे अनन्य उपासक थे। दुर्गा सप्तशती का वे नियमित पाठ करते थे। उनके प्रशस्त भाल पर लाल टीका सदा अङ्कित रहता था। वेश-भूषा उनकी अत्यन्त सादी थी। धोती-कुरता और सिर पर गांधी-टोपी। भयङ्कर शीत में भी मैंने उन्हें कोट पहने शायद ही कभी देखा हो। वह कभी-कभी शीत की भयङ्करता में एक कम्बल ही लपेट कर इण्डियन प्रेस में पहुँच जाते थे।

जब मैं रामगढ़ राज्य पन्ना की साहित्यिक पाक्षिक पत्रिका 'बिजली' के प्रधान सम्पादक पद से त्याग-पत्र देकर सन् १९४५ में पुनः प्रयाग आकर इण्डियन प्रेस में कार्य करने लगा और 'बाल-सखा' का सम्पादक हुआ, उस समय तक शुक्ल जी अवकाश ग्रहण कर चुके थे। मैं उनके तत्कालीन निवास-स्थान कटरा गया और उनसे भेंट की, तो उन्होंने आत्मीय स्नेह और हर्ष प्रकट किया।

इसके बाद सन् १९४८ में जब इण्डियन प्रेस से सचित्र कहानी मासिक 'मञ्जरी' का प्रकाशन मेरे सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, तो शुक्ल जी ने हार्दिक सन्तोष प्रकट करते हुए कहा था—अब आपको अनुकूल क्षेत्र प्राप्त हुआ है। आपके कुशल सम्पादन में 'मञ्जरी' की लोकप्रियता असन्दिग्ध रहेगी।

शुक्ल जी की कामना अक्षरशः सत्य होकर रही। यदि इण्डियन प्रेस के प्रधान व्यवस्थापक बाबू हरिकेशव घोष अपनी अन्तिम अस्वस्थता के कारण 'मञ्जरी' का प्रकाशन बन्द न कर देते, तो सम्भवतः आज भी मैं 'मञ्जरी'-सम्पादक रहता।

सन् १९५२ में जब मैं 'सरस्वती' का सम्पादक हुआ, तब भी उनके स्नेह-सिक्त आशीर्वाद से मुझे अपूर्व बल मिला था।

इस प्रकार मेरे साहित्यिक और पत्रकार-जीवन का बहुत बड़ा भाग जिन पं० देवीदत्त जी शुक्ल के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सम्बद्ध रहा, उन्हें मैं कभी भूल नहीं सकता। आज उनका पार्थिव शरीर भले ही हमारे बीच न हो, किन्तु उनकी स्मृतियाँ सदा मेरे मानस पटल पर अंकित रहेंगी। उनकी समस्त स्मृतियों को मेरा श्रद्धा-युक्त प्रणाम।

☐

पूज्य पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल : कुछ संस्मरण

• श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव

मैंने सन् १९१६ के लगभग एक तुकबन्दी 'बाल-सखा' के लिए भेजी थी। उस समय पण्डित जी 'बाल-सखा' के सम्पादक थे। उन्होंने कृपा कर प्रकाशित कर दी।

पूज्य डा० पदुमलाल पुन्नालाल जी बक्शी, जो मेरे अग्रज-वत् हैं, सन् १९२० में 'सरस्वती' के सम्पादक होकर प्रयाग गए। मैं सन् १९२१ में कार्य-वश प्रयाग गया। बक्शी जी से मिलने इण्डियन प्रेस गया, जो उस समय वहीं था, जहाँ आज विश्व-विद्यालय स्थित है। बक्शी जी ने शुक्ल जी से मेरा परिचय इस तरह से दिया कि 'ये आपके 'बाल-सखा' के कवि हैं।'

यही प्रथम परिचय था। उनकी प्रसन्न मुख-मुद्रा की छाप हृदय में हमेशा के लिए उतर आई। उन्होंने मुझे 'खूब लिखने' की सलाह दी।

सन् १९२७ में मेरा फिर प्रयाग रहना हुआ। बक्शी जी तब भी 'सरस्वती' के सम्पादक थे। उनसे मिलने के लिए 'सरस्वती'-कार्यालय में आना-जाना बना रहता था और पूज्य शुक्ल जी के दर्शन होते रहते थे। सन् १९२८ में मैं जबलपुर में इण्डियन प्रेस का एजेण्ट नियुक्त हो गया। तब से प्रयाग आना-जाना बना रहा और पूज्य शुक्ल जी से सम्पर्क का सौभाग्य प्राप्त होता रहा।

शुक्ल जी कितने बड़े विद्वान् थे, कितने कुशल सम्पादक थे, कितने आत्म-ज्ञानी थे—इस सबकी थाह लेने में तो मैं अपने को नितान्त असमर्थ पाता हूँ। मैं केवल छोटे-मोटे व्यक्तिगत संस्मरण ही लिख पाऊँगा।

जैसा कि उचित ही था, शुक्ल जी इण्डियन प्रेस में सब छोटे-बड़ों से समान आदर और स्नेह पाते थे। उनके प्रसिद्ध 'खैनी' के बटुए में सभी का, यहाँ तक कि अध्यक्ष का भी हिस्सा लगा रहता था।

बक्शी जी कुछ दिनों तक शुक्ल जी के साथ भोजन भी करते थे। अकेले रहने के कारण, उस समय शुक्ल जी स्वयं-पाकी थे। बक्शी जी बतलाते थे कि वे प्रातः खिचड़ी और सन्ध्या रोटी-साग बनाया करते थे, पर इतनी सुस्वादु कि आज तक जीभ चाहती है कि फिर वही भोजन मिले।

वे कहते थे कि अवकाश प्राप्त करने पर ग्राम-वास करेंगे। कहीं छोटा-सा घर बनवा लेंगे। कौन महल खड़ा करना है? एक-दो कमरों का कच्चा झोपड़ा! यह ज्ञात नहीं कि उनकी यह साध क्यों नहीं पूरी हुई। कभी कहते थे कि दाम्पत्य-सुख अब मिल रहा है। घर में तो दिन में पत्नी का मुख भी नहीं देख सकते थे। कभी

सुपुत्री के भविष्य की चिन्ता प्रगट करते थे। सुपुत्र तो कुछ दिनों इण्डियन प्रेस में भी रहे। आशा है, कुटुम्ब सब प्रकार सुखी होगा।

बक्शी जी छत्तीसगढ़-निवासी हैं। इण्डियन प्रेस में आने के पहले शुक्ल जी छत्तीसगढ़ (कदाचित् बेमेतरा) में अध्यापक रह चुके थे। बहुधा वहाँ के निवासियों के सादे तथा स्वच्छ जीवन का स्मरण किया करते थे। मुझसे कभी पूछा कि 'बुन्देलखण्डी हो क्या ?' तो मैंने कहा कि पूर्वज रायबरेली अठ्ठइसा से जबलपुर जिले में आबाद हो गए थे।' हँस कर कहा कि 'ऐसा कहो कि बैसवारे के हो।' बैसवारे से बड़ा लगाव था।

सम्पादन-काल में मेरी अनेक कवितायें 'सरस्वती' में प्रकाशित कीं : कुछ प्रथम पृष्ठ पर। एक बार 'सदा' (आवाज़) शब्द पर आपत्ति भी की। मैंने प्रार्थना की कि 'सुधार दीजिए।' तब हँस कर कहा कि 'अन्तर की ध्वनि प्रतीत होती है, अतएव भाषा पर आपत्ति वापस ले लूँगा।' एक कहानी—'कहानी-चक्र' छापने पर कहा कि 'यह तो आप-बीती जान पड़ती है।' मैंने कहा कि 'इतना ताड़ लेना आपके लिए कौन बड़ी बात है',—तब हँसने लगे।

'सरस्वती' ने एक कहानी-पुरस्कार-योजना भी रखी। मैंने स्वर्गीया श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान से उनकी 'तीन बच्चे' कहानी भेजने का आग्रह किया। भेज दी गई। जब इण्डियन प्रेस में दर्शन किये, तो उस कहानी की बहुत प्रशंसा की और कहा कि 'ठकुराइन साहेबा को ही पुरस्कार दे रहे हैं।'

इण्डियन प्रेस में एक-से-एक विद्वान् रह चुके हैं। उस समय पण्डित जी के अतिरिक्त पण्डित लल्लीप्रसाद जी पाण्डेय, ठाकुर श्रीनाथ जी सिंह, पण्डित ज्योतिप्रसाद जी मिश्र 'निर्मल' आदि का जमाना था। उर्दू के चोटी के ग़ज़ल-गो, हज़रत असगर गोंडवी का भी। एक-से-एक विद्वान् आये दिन 'सरस्वती' आफिस में पधारते थे : स्व० ठाकुर गोपालशरण जी, पण्डित वेंकटेशनारायण जी, आदि-आदि। साहित्य-चर्चा का बाज़ार गर्म रहता था। साहित्य के अतिरिक्त शुक्ल जी को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और घटनाओं से बड़ी दिलचस्पी थी। उनकी व्याख्या न केवल ध्यानपूर्वक सुनी जाती थी, वरन् अपनी शङ्काओं का समाधान भी प्राप्त किया जाता था।

शुक्ल जी को नेत्रों का कष्ट काफी पहले से आरम्भ हो गया था। वे कापी या पुस्तक आँखों के बहुत पास रखकर पढ़ने लगे थे। अवकाश प्राप्त करने पर कटरे में उनके शुभ स्थान पर जाकर दर्शन किये। तब मेरी आँखों में तो आँसू आ गए, पर उनकी प्रसन्न-मुद्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ा। भीतर इतना आनन्द था कि बाहर सदैव छलकता रहता था।

वे सूरतें, इलाही ! किस देस बस्तियाँ हैं।
टुक देखने को जिनको, आँखें तरस्तियाँ हैं॥

□

स्व० पण्डित देवीदत्त शुक्ल : एक श्रद्धाञ्जलि

● पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी

पं० देवीदत्त शुक्ल जी के स्वर्गवास से बीते हुए युग की एक यादगार ही हमारी आँखों से ओझल हो गई और उनके साथ ही उस युग के कितने ही संस्मरण विलीन हो गए।

मेरी उनकी मुलाकात दो-तीन बार ही हुई थी। उनसे एक बार की बातचीत का मुझे कुछ स्मरण है। मैंने इण्डियन प्रेस, प्रयाग में पहुँचकर उनके दर्शन किए थे। उस समय वे हथेली पर तमाखू बना रहे थे। उन्होंने बड़े स्नेह-पूर्वक मेरा स्वागत किया। तत्पश्चात्, जैसा कि उनका स्वभाव था, मांस-भक्षण इत्यादि पर वार्तालाप शुरू कर दिया!

वे शाक्त थे, यह बात मैं जानता था, पर मेरी रुचि उस विषय में बिल्कुल नहीं थी, इसलिए बीच में ही उनकी बात काट कर मैंने आचार्य द्विवेदी के विषय में चर्चा शुरू कर दी। शुक्ल जी द्विवेदी जी के परम भक्त थे; उनके कृपा-पात्र भी थे, इसलिए उन्होंने आचार्य जी के कई मनोरञ्जक संस्मरण मुझे सुनाए। उनमें से एक मुझे खास तौर पर याद आ रहा है।

एक बार आचार्य द्विवेदी जी बम्बई से काफी अस्वस्थ लौटे थे। सैकड़ों रुपए इलाज पर वे खर्च कर चुके थे, पर लाभ कुछ भी नहीं हुआ था। अन्त में उन्होंने दौलतपुर के निकट एक सजातीय वैद्य की, जो शुक्ल जी के पितृव्य थे, शरण ली। वैद्य जी ने द्विवेदी जी से कहा—आप मेरा इलाज करा नहीं सकेंगे।

इस पर द्विवेदी जी ने कहा—आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन किया जाएगा। आप आदेश तो दीजिए। खर्च का कोई सवाल नहीं।

वैद्य जी ने कुल जमा चार-पाँच आने का नुस्खा लिख दिया, जो राम-बाण सिद्ध हुआ। द्विवेदी जी पूर्ण स्वस्थ हो गए! शुक्ल जी ने बतलाया कि उसके बाद जब तक हमारे पितृव्य जीवित रहे, द्विवेदी जी प्रत्येक जाड़े के मौसम में उनके पास जाड़े के कपड़े भिजवाते रहे। वैद्य जी का कहना था—हमने अपनी जिन्दगी में बीसियों रोगियों को आराम किया है, जिनमें बड़े-बड़े तालुकदार भी हैं, पर इतना कृतज्ञ मरीज हमें अपने जीवन में कोई दूसरा नहीं मिला।

'आज-कल' के 'द्विवेदी-परिशिष्टाङ्क' के लिए हमने पं० देवीदत्त जी से आचार्य द्विवेदी जी के संस्मरण लिखा लिए थे, जो बहुत मनोरञ्जक तथा उपदेश-प्रद थे। जब नियमानुसार उस लेख की मजदूरी उन्हें भिजवाई गई, तो शुक्ल जी ने साफ मना कर दिया। उन्होंने मुझे लिखा—यह कैसे हो सकता है कि मैं उस श्रद्धाञ्जलि के लिए पारिश्रमिक लूँ!

जहाँ तक मैं जानता हूँ, शुक्ल जी ने अपने संस्मरण नहीं लिखे । एक पुस्तिका* उन्होंने अवश्य छपवाई थी, जिसकी एक प्रति उन्होंने मुझे भी भेजी थी । उस पुस्तिका में एक लेख मेरे विरुद्ध भी था। शुक्ल जी ने मुझे लिखा था—'चहिय विप्र उर छमा घनेरी ।' पर मैंने शुक्ल जी से वाद-विवाद करने की कल्पना कभी नहीं की थी । वे मेरे अग्रज थे और तमाम मतभेदों के बावजूद हम लोगों के सम्बन्ध मधुर ही रहे ।

द्विवेदी जी के स्वर्गवास के बाद शुक्ल जी ने योग्यता-पूर्वक यथा-शक्ति उनकी परम्परा को कायम रखा, यद्यपि द्विवेदी जी के सम्पादन-कौशल का मुकाबला कोई न कर सकता था ।

क्या ही अच्छा हो, यदि शुक्ल जी के संस्मरण एवं लेखों का संग्रह कर दिया जाए और स्वयं उनके साथी-सङ्गी भी उनके संस्मरण लिख दें । बन्धुवर श्रीनाथ सिंह जी इस कार्य को भली-भाँति कर सकते हैं और उन्हीं से मेरी यह विनम्र प्रार्थना है ।

☐

"....काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' हिन्दी की पुरानी पुस्तकों की खोज का काम एक जमाने से कर रही है...परन्तु खोज की रिपोर्टें सरकारी रिपोर्टों की भाँति सब किसी को सुलभ नहीं हैं।....इन रिपोर्टों का आकलन करने से हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठता एवं विशालता का बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है, परन्तु खेद की बात है कि ये सर्व-साधारण के उपयोग में नहीं आतीं ।....यदि 'सभा' ये रिपोर्टें सार्वजनिक संस्थाओं या हिन्दी के सुलेखकों को बिना मूल्य के नहीं प्रदान कर सकती, तो इतना वह जरूर कर सकती है कि नई रिपोर्ट मिलने के बाद उसकी मुख्य-मुख्य बातों का विवरण ही कुछ पत्रों में प्रकाशित करवा दिया करे....।

"....रिपोर्ट के खोज-सम्बन्धी नए विवेचनों से साहित्य-सम्बन्धी भ्रान्तियाँ दूर हो जाएँगी । इसके सिवा यह भी होगा कि इन रिपोर्टों की भूलों की चर्चा हो जायगी ।....इससे 'सभा' और हिन्दी-साहित्य दोनों का हित हो सकता है....।"

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ८-६

* 'कुछ खरी-खरी'—(शुक्ल जी के आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह) ।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के महान् साधक

● श्री विद्याभास्कर

वयोवृद्ध हिन्दी साहित्यकार तथा 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** के निधन से राष्ट्र-भाषा हिन्दी का एक महान् साधक उठ गया। आप हिन्दी की प्राचीन और नवीन पीढ़ी की महत्त्व-पूर्ण कड़ी थे। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के अवकाश ग्रहण करने पर आपने ही 'सरस्वती' का सत्ताईस वर्षों तक सम्पादन किया। इस प्रकार आपने आचार्य द्विवेदी जी की साहित्यिक परम्परा को न केवल सुरक्षित ही रखा, अपितु उसे अग्रसर करने का भी प्रयास किया। आपके सम्पादन-काल में 'सरस्वती' का उच्च स्तर बना रहा।

शुक्ल जी में एक बड़ा गुण यह भी था कि हिन्दी पत्रों में जब कोई अच्छा लेख अथवा कृति प्रकाशित होती, तो आप उसके लेखक को प्रशंसा के दो शब्द अवश्य लिखते थे। यह परम्परा भी आपने आचार्य द्विवेदी जी से ही ग्रहण की थी। आचार्य द्विवेदी जी का नियम था कि जब जहाँ अच्छे विचार या लेख पढ़ने-सुनने का अवसर मिले, आप उसके लेखक को एक कार्ड लिखकर प्रोत्साहित करते थे। यही पद्धति पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल की भी थी।

आप न केवल अपनी ही साहित्य-साधना में संलग्न रहते थे अपितु श्रेष्ठ साहित्य के रचयिताओं से भी सम्पर्क रखकर उन्हें सदा प्रोत्साहित करते रहते थे। हिन्दी-पत्रकारिता में इस प्रकार आपका नाम सदा स्मरणीय बना रहेगा।

शुक्ल जी साहित्य के तो साधक थे ही, आध्यात्मिक साधना भी आपको अत्यन्त प्रिय थी। यही कारण है कि जीवन के उत्तर-काल में आप शक्ति-साधना-विषयक पत्रिका में सम्पादन तथा प्रकाशन में योग देते थे।

शुक्ल जी की शैली श्रेष्ठ गद्य-लेखन का निदर्शन है। आपकी साहित्यिक प्रतिभा बहु-मुखी थी। आपने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों—उपन्यास, कहानी, जीवनी, आत्म-कथा, इतिहास और दर्शन-सम्बन्धी अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया है। सम्पादक के पचीस वर्ष, स्वाधीनता के पुजारी, अवध के गदर का इतिहास, साधक का संवाद, काल-रात्रि, क्रान्तिकारी आदि आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

आपकी साहित्यिक साधना का केन्द्र-विन्दु पत्रकारिता ही रही है, जिसके स्तर तथा स्वरूप का आपने एक मान-दण्ड स्थिर किया।

□

हिन्दी-पत्रकारिता के सौम्य सन्त

● श्री नर्मदाप्रसाद खरे

'आज 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी की इलाहाबाद में मृत्यु हो गई। वे चौरासी वर्ष के थे।' २० मई की रात्रि को आकाशवाणी पर यह दुखद समाचार सुनकर स्तब्ध रह गया। ऐसा लगा, जैसे परिवार के ही किसी बड़े-बूढ़े आत्मीय की स्नेह-छाया से मैं सदा-सर्वदा के लिए वञ्चित हो गया। अनेक धुँधली स्मृतियों के रंग गाढ़े होने लगे। मन अतीत के पृष्ठों पर शुक्ल जी की साधुता, स्नेह-शीलता, सौम्यता, कर्तव्य-परायणता तथा स्पष्ट-वादिता की स्वर्णिम पंक्तियाँ पढ़ने लगा।

गर्मी की उमस-भरी साँझ। सूर्यास्त के बाद भी छतों, मुड़ेरों, छप्परों और वृक्षों की चोटियों पर दूध-धुले कपास-सा उज्ज्वल प्रकाश बिखरा था। कटरे की मुख्य सड़क से लगी, एक चौड़ी पक्की गली में सवा-सौ गज चलने के बाद हम शुक्ल जी के घर पहुँचे। सीढ़ियाँ चढ़ते हुए, पूज्य पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी ने कहा था—शुक्ल जी बहुत पहले से इसी किराए के मकान में रह रहे हैं। मैं यहाँ कई बार आ चुका हूँ।

बख्शी जी का सब कुछ जाना-पहिचाना था, इसलिए हम लोग निःसङ्कोच सीधे उनके कमरे में प्रविष्ट हो गए थे। आहट मिलते ही उन्होंने पूछा था—'कौन? कौन हैं आप....?' यह इसलिए कि उनकी आँखों की ज्योति जा चुकी थी। उन्हें कुछ भी सूझता नहीं था। मैंने चरण स्पर्श करते हुए, उन्हें बताया था—बख्शी जी आए हैं। मैं हूँ नर्मदाप्रसाद खरे।

यह सुनते ही एकबारगी उनका मुख प्रसन्नता से खिल उठा था। हमें देख न पाने की असमर्थता से भीतर-ही-भीतर वे आकुल-व्याकुल भी हो गए थे। वही दबा-दबा-सा गेहुँआ रंग, छोटे-छोटे अधपके बाल, पृथुल देह-यष्टि। आधी बाँह का बनियाननुमा कुर्ता और धोती पहने थे। यदि सिर पर दुपल्ली टोपी और होती, तो उनकी चिर-परिचित वेश-भूषा में फिर कोई खास अन्तर न रह जाता।

लगभग एक घण्टे के वार्तालाप में उन्होंने क्या कुछ नहीं पूछ लिया था। एक-एक शब्द स्नेह और आत्मीयता से भीगा था। बख्शी जी के साथ तो उन्होंने 'सरस्वती' का सात वर्षों तक संयुक्त सम्पादक के रूप में कार्य भी किया था। अतीत जैसे पुनः वर्तमान बन गया था, लेकिन उन्हें किसी से कोई शिकायत नहीं थी। उनकी किसी बात से असन्तोष भी प्रकट नहीं हुआ था। विदा देते समय करुणा-सिक्त कण्ठ से उन्होंने सहज ही कहा—कहीं यह हमारी अन्तिम भेंट न हो! आँखों की

ज्योति चली जाने से मैं अब किसी काम का नहीं रह गया। न पढ़ सकता, न लिख सकता। एक-एक दिन पहाड़-सा भारी लगता है।

शुक्ल जी की भविष्य-वाणी अक्षरशः सत्य निकली। इसके बाद फिर उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

शुक्ल जी ने 'सरस्वती' (नवम्बर १९३१) में मेरी पहली कविता प्रकाशित की थी। उस समय मैं नार्मल स्कूल का छात्र था और मेरी आयु मात्र सत्रह वर्ष थी। एक नए कवि की प्रथम काव्य-कृति का 'सरस्वती'-जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका में प्रकाशन अपने-आपमें एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। मैं आनन्दातिरेक से नाच उठा था। मेरे कोमल मन पर शुक्ल जी की निष्पक्षता की जो अमिट छाप अङ्कित हो गई थी, वह आज भी ज्यों-की-त्यों है।

मैंने साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण ही किया था। पूर्व-प्रकाशित रचना पुनः प्रकाशनार्थ नहीं भेजनी चाहिए। यह मुझे ज्ञात नहीं था। शुक्ल जी ने मेरी जो कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित की थी, वह जबलपुर से प्रकाशित होनेवाले दैनिक 'लोक-मत' में छप चुकी थी। यह मालूम होने पर उन्होंने जो पत्र मुझे लिखा था, उसे पढ़कर मेरे पैरों के नीचे की जमीन खिसक गई। पत्र इस प्रकार था—

२५-११-३१

प्रिय महोदय,

आपकी यह कविता भी सुन्दर है। परन्तु इसे 'सरस्वती' में छापने से डर लगता है। 'तुम' को छापकर आपकी मनोवृत्ति जान ली है। आपने उसे 'सरस्वती' के साथ 'लोक-मत' में भी छपवाया है। एक ही जगह छपना चाहिए। कृपा बनी रहे।

विनीत

देवीदत्त

निष्पक्षता कठोरता से कटकर कैसे रह सकती है! भविष्य में 'सरस्वती' में मेरी कविताएँ न छपेंगी, इससे बहुत आघात पहुँचा। शुक्ल जी को अपनी अनभिज्ञता से अवगत कराना मुझे आवश्यक लगा। मैंने नम्रता-पूर्वक सारी स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्हें पत्र लिखा और पुनः उन्होंने 'सरस्वती' के प्रथम पृष्ठ पर मेरी कविता प्रकाशित की थी।

शुक्ल जी द्विवेदी-युगीन स्वस्थ पत्रकारिता के संस्कार-शील सम्पादक थे। प्रत्येक पत्र का उत्तर देना अपना कर्तव्य मानते थे। आज के तथा-कथित सम्पादकाचार्य नवोदित साहित्यकारों की तो बात छोड़िए, प्रसिद्धि-प्राप्त साहित्यकारों को भी समय पर उत्तर नहीं देते। कभी-कभी तो रचना छप चुकने के बाद स्वीकृति की सूचना आती है। नीचे जो पत्र उद्धृत कर रहा हूँ, ऐसे पत्र की आज के सम्पादक से स्वप्न में भी अपेक्षा नहीं की जा सकती—

१८-१२-३१

प्रिय खरे जी,

आपकी दोनों रचनाएँ मिलीं। और देर से मिलीं। खेद है, मैं इन्हें नव-वर्षाङ्क में नहीं छाप सकूँगा। इस समय उसका अन्तिम अंश कम्पोज में है। क्षमा मांगता हूँ। अब अगले अङ्कों में इनके छापने का प्रयत्न करूँगा। कृपा बनी रहे।

विनीत
देवीदत्त

शुक्ल जी का मेरे साहित्यिक जीवन के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ था। यदि प्रारम्भ में उनसे प्रोत्साहन न मिलता, तो सम्भव है, मैं इतनी जल्दी साहित्य-जगत् में प्रविष्ट न हो पाता। अनेक नवोदित साहित्यकारों की भाँति मेरे सपने भी धूल में मिल जाते। यह भी सम्भव था कि प्रकाशन के अभाव में असमय ही मेरा लेखन बन्द हो जाता। उनसे मुझे प्रोत्साहन के साथ-साथ मार्ग-दर्शन भी प्राप्त होता रहा। उन्होंने 'सरस्वती' में मेरी कभी कोई कहानी प्रकाशित नहीं की। हर बार अपनी निष्पक्ष टिप्पणी के साथ कहानी लौटा दिया करते थे। इस सन्दर्भ में एक पत्र उल्लेखनीय है—

१५-६-३१

प्रिय महोदय,

आपकी कहानी मिली। इसके लिए धन्यवाद। कहानी अच्छी है और इसके लिखने में निस्सन्देह आपने परिश्रम किया है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि इस तरह की कहानियाँ 'सरस्वती' में नहीं छपती हैं। यदि आज्ञा दें, तो इसे मैं बुक-पोस्ट से आपके पास भेज दूँ। कृपा बनी रहे।

विनीत
देवीदत्त

अपनी प्रथम रचना के माध्यम से ही मैं शुक्ल जी के सम्पर्क में आया था। मुझ जैसे एकदम नए साहित्यकार के साथ सम्पादक के रूप में उन्होंने जिस सहृदयता और निष्पक्षता का परिचय दिया था, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। केवल मेरे साथ ही नहीं, मुझ जैसे सभी नवोदित साहित्यकारों के साथ उनका यही व्यवहार रहा होगा। युग-निर्माता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की भी यही रीति-नीति थी।

सन् १६३३ में द्विवेदी-मेले के अवसर पर मैंने प्रथम बार शुक्ल जी के दर्शन किए थे। मुझे देखकर वे आश्चर्य-चकित रह गए थे। उस समय मैं बीस-बाइस वर्ष का तरुण था और मेरी रचनाओं ने उनके मन पर वयस्कता की छाप अङ्कित कर रखी

थी। बाद में अनेक बार उनके दर्शनों का सौभाग्य मिला, और सच्चे अर्थों में उनका स्नेह-पात्र बन गया। मैं उन्हें सदैव सन्त-सम्पादक मानता रहा।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा आयोजित शोक-सभा में स्वर्गीय शुक्ल जी को श्रद्धाञ्जलि समर्पित की गई, उसके निम्नलिखित शब्दों के द्वारा मैं भी अपनी भावाञ्जलि उन्हें अर्पित करता हूँ—

"वर्तमान समय में हिन्दी-भाषा एवं साहित्य का जो उन्नत स्वरूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत है। उसकी पृष्ठ-भूमि में पण्डित शुक्ल जैसे एक-निष्ठ, उत्साही, त्यागी तथा परिश्रमी साहित्यकारों की साधना रही है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी को सँवारने तथा उसे जन-रुचि के अनुकूल बनाने में पण्डित शुक्ल का विशेष योग रहा है। अपने व्यक्तिगत प्रचार और ख्याति से सर्वथा दूर रहकर और सादगी का जीवन व्यतीत करते हुए राष्ट्र-भाषा हिन्दी की उन्होंने जिस लगन से साधना की, उसने उन्हें ऋषियों एवं सन्तों की कोटि में ला दिया था।"

□

"....हिन्दी के दैनिक....समाचार भेजनेवाली एजेंसियों से या अँगरेजी समाचार-पत्रों से ताजा-ताजा समाचार लेकर छापते और विचार-पूर्ण सम्पादकीय स्तम्भ लिखते हैं।....कहानी, कविता तथा हास्य-विनोद भी छापते हैं और उनका यह ढर्रा अँगरेजी पत्रों के अनुकरण पर बना है। इसी अनुकरण-दोष के कारण वे पनप नहीं पाते।....जब तक वे अपने पाठक-समुदाय की क्षमता तथा उनकी रुचि का ध्यान रखकर काम नहीं करेंगे, तब तक उनकी यही दशा बनी रहेगी....।"

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ४७

चोटी के साहित्यकार एवं पत्रकार

● डा० मुकुन्ददेव शर्मा

'सरस्वती' मासिक पत्रिका के भूतपूर्व सम्पादक **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** के निधन से हिन्दी-जगत् का एक चोटी का साहित्यकार एवं पत्रकार हमारे बीच से चल बसा।

सम्पादकाचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के निधन के पश्चात् पण्डित शुक्ल ने 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन का कार्य-भार ग्रहण किया था और अत्यन्त कुशलता के साथ २५ वर्षों से अधिक समय तक उसे सञ्चालित किया।

पण्डित शुक्ल के निर्देशन एवं सम्पादकत्व में 'सरस्वती' पत्रिका का स्तर उत्तरोत्तर उन्नत होता गया और इनके समय में भी पत्रिका की वही ख्याति कायम रही, जो पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल में थी।

वर्तमान समय में हिन्दी-भाषा एवं साहित्य का जो उन्नत स्वरूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत है, उसकी पृष्ठ-भूमि में पण्डित शुक्ल जैसे एक-निष्ठ, उत्साही, त्यागी तथा परिश्रमी साहित्यकारों की साधना रही है। उन दिनों के साहित्यकार अभावों की जिन्दगी व्यतीत करते हुए भी अपनी लगन, आदर्श एवं धुन के पक्के थे और कठिन-से-कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए भी अपनी साधना में जुटे रहते थे। यही कारण है कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य को जो अनमोल कृतियाँ प्रदान कीं, उनका आज की बदलती हुई मान्यताओं एवं परिस्थितियों में भी विशेष महत्त्व है।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी को सँवारने तथा उसे जन-रुचि के अनुकूल बनाने में पण्डित शुक्ल का विशेष योग रहा है। सन् १९४५ तक पण्डित शुक्ल ने बड़े उत्साह के साथ 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य किया। 'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण करने के बाद भी उनकी साहित्यिक साधना समाप्त न हुई, वरन् बराबर जारी रही। उन्होंने 'चण्डी' नामक तन्त्र-शास्त्र की हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया, जिसमें वे बराबर लिखते रहे। इस पत्रिका से उनका सम्बन्ध जीवन के अन्तिम दिनों तक बना रहा।

पण्डित शुक्ल जी की अमूल्य साहित्यिक कृतियों में 'सम्पादक के पचीस वर्ष' का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें उन्होंने अपने पत्रकार-जीवन के पचीस वर्षों का अत्यन्त ही सच्चा एवं हृदय-ग्राही चित्रण प्रस्तुत किया है, जो आज के पत्रकारों के लिए मार्ग-दर्शन के रूप में काम करेगा।

अपने व्यक्तिगत प्रचार एवं ख्याति से सर्वथा दूर रह कर और सादगी का जीवन व्यतीत करते हुए राष्ट्र-भाषा हिन्दी की उन्होंने जिस लगन से साधना की है, उसने उन्हें ऋषियों एवं सन्तों की कोटि में ला दिया था। ८५ वर्ष की आयु में उनके निधन से निस्सन्देह समस्त हिन्दी-संसार दुखित है। हम दिवङ्गत साहित्यकार की आत्मा की शान्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।

जब भिखारी ही दानी बन गया

● प्रोफेसर राजनाथ पाण्डेय

श्रद्धेय शुक्ल जी से मेरा परिचय सन् १९३३ ई० में हुआ था। मैं उन दिनों प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी की एम० ए० फाइनल कक्षा का विद्यार्थी था और हिन्दू बोर्डिङ्ग हाउस में रहा करता था। श्रद्धेय देवीप्रसाद जी शुक्ल, जो हिन्दू बोर्डिङ्ग हाउस के वार्डेन तथा हिन्दी-विभाग में हमारे अध्यापक भी थे, मेरे आर्थिक अभावों के प्रति बहुत सदयता रखते थे। पण्डित उदयनारायण त्रिपाठी, जो उन दिनों दारागंज हाईस्कूल में अध्यापक थे, तथा पण्डित जयचन्द्रजी विद्यालंकार की अनुशंसा पर मुझे हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित हो रही कई पुस्तकों के प्रूफ देखने का काम मिल गया था, जिससे कुछ पैसे मिल रहे थे। श्रद्धेय शुक्ल जी ने 'माया' और 'अभ्युदय' में मेरी कुछ कहानियों और लेख छपने की बात जानने पर मुझसे कहा कि मैं 'सरस्वती' में भी कुछ प्रकाशनार्थ दिया करूँ। उसी अवसर पर मुझे मालूम हुआ कि 'सरस्वती' के सम्पादक शुक्लजी के पूर्व में शुक्लजी (पं० देवीप्रसाद जी) भी 'सरस्वती' का कुछ दिनों सम्पादन कर चुके हैं। उन्होंने पंडित देवीदत्त जी से मेरे सम्बन्ध में कुछ बात की और बाद में मैं श्रद्धेय देवीदत्त शुक्ल जी से मिलने एक दिन इण्डियन प्रेस गया। उसी दिन पहली बार शुक्लजी का दर्शन मिला और मैं उनके पास काफी समय तक रहा। मैं अपनी एक कहानी (सम्भवतः शीर्षक था "बेलदार फाटक") साथ ले गया था। पंडितजी ने यह कहानी ले ली। बाद में वह 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी।

उसके बाद मैं पण्डित जी के पास अक्सर जाता रहा। यद्यपि देखने में वे बहुत देहाती लगते थे किन्तु जब बात करने लगते, तो ऐसा जान पड़ता कि उनके व्यक्तित्व में एक सहज आकर्षण है। वे बड़ी विनम्रता के साथ मुसकराते हुए कड़ी-से-कड़ी बात भी कहते, तो वह आकर्षक लगती थी। उन दिनों की एक बात है। मुझे बहुत अच्छी तरह अब भी याद है। प्रेमचन्द जी की बात चलने पर उन्होंने कहा था कि 'मैं प्रेमचन्द जी को हिन्दी का लेखक ही नहीं मानता। उन्होंने एक वाक्य भी हिन्दी का नहीं लिखा है। सब उर्दू ही है। नागरी अक्षरों में वह छपा भले ही हो।'

यह बात मेरे मन में उतरी नहीं थी, फिर भी जिस सरलता और चित्ताकर्षक मुस्कान के साथ उन्होंने यह बात कही थी, मुझे बुरी नहीं लगी थी। उन दिनों शायद पंडित जी पर आचार्य द्विवेदी जी की हिन्दी-परम्परा का बहुत अधिक प्रभाव था, तभी उन्होंने यह बात कही। बाद में मुझे यह जानकर बहुत सुख मिला कि आदरणीय शुक्लजी के प्रेमचन्द जी के कृतित्व के सम्बन्ध में बहुत ही श्रद्धास्पद विचार हो गए

थे और वे पन्त तथा निराला के साथ प्रेमचन्द की हिन्दी-साहित्य की वृहत्-त्रयी में गणना करने लगे थे।

उन दिनों मैंने चश्मा लगाना आरम्भ किया था। पहले दिन मुझे चश्मा लगाये देखते ही पण्डित जी ने कहा था—हाय, हाय! तुम अभी से चश्मा लगाने लगे? मुझे तो आँख में जब भी तकलीफ हो जाती थी, तो मैं गाँव चला जाता था। वहाँ लगातार कई दिनों तक मांस-सेवन किया, तो सब ठीक हो गया। तुम भी मांस खाया करो।

मैंने कह दिया—"पण्डित जी! यह तो मुझसे नहीं होगा।"

तब बोले—"फिर लगाओ जिन्दगी भर चश्मा।"

और सचमुच मैं जिन्दगी भर चश्मा लगाता ही रहूँगा। पण्डित जी को शायद यह बात याद थी। तभी जब मैं सन् १९३४ के मार्च महीने में श्रद्धेय राहुल जी की प्रेरणा से उनके साथ उनकी दूसरी तिब्बत-यात्रा में जाने के लिए एम०ए० फाइनल की परीक्षा समाप्त होते ही प्रयाग से रवाना होने से पूर्व कटरे वाले निवास में श्रद्धेय शुक्ल जी के पैर छूकर उनका आशीर्वाद लेने गया, तो उन्होंने छूटते ही कहा—"किस चक्कर में पड़ गए हो! वहाँ से जिन्दा कोई लौटता है?"

मैंने कहा—"देखा जाएगा" और उनका चरण स्पर्श करके जब मैंने उन्हें देखा, तो लगा जैसे उनकी आँखों से कोई दिव्य आनन्द मेरी आँखों में प्रवेश कर रहा हो। मैं पण्डित जी की उस दृष्टि का तब मर्म नहीं समझ सका था, किन्तु वह दृष्टि आज भी आँखें मूँदते ही जैसे साकार हो उठती है और मुझे बड़ा अच्छा लगता है।

फिर चार महीने बाद जब मैंने कलकत्ते के कालिमपोंङ और कालिमपोङ से राहुल जी एवं तीन अन्य साथियों के साथ पैदल और खच्चर की पीठ पर ल्हासा तक जाकर फिर ल्हासा से कालिमपोङ और वहाँ कलकत्ते जीवित लौटने पर पण्डित जी को पत्र लिखा कि जीवित तिब्बत से वापस आ गया और शीघ्र गाँव होते आपके दर्शनों के लिए प्रयाग आ रहा हूँ, तो गाँव पहुँचते ही मुझे उनका जो पत्रोत्तर मिला, उसे पढ़कर मुझे क्षण भर को लगा कि सचमुच जैसे मैं एक महान् व्यक्ति हो गया हूँ। पर वास्तव में वे कितने महान् थे। उन्होंने पत्र में बहुत कुछ लिखा था। उसमें का पहला वाक्य था—"आपको मैं तब नहीं जानता था। आप सच्चे ब्राह्मण हैं और परम-पूज्य हैं।"

मैं यह सब याद करके आज भी इस बात का ठीक-ठीक आकलन नहीं कर पा रहा हूँ कि पंडित जी कितने महान् पुरुष थे।

सन् १९३४ या जनवरी १९३५ की घटना है। मेयो हाल में हिन्दुस्तानी अकादमी (उत्तर प्रदेश) का वार्षिकोत्सव हो रहा था। उस समय हाईकोर्ट के प्रधान न्यायाधीश सर शाह सुलेमान जलसे की सदारत कर रहे थे। प्रसिद्ध सितार-वादक इनायत हुसेन खाँ (बंगाली) का सितार-वादन, विशेषतः मधुमक्खियों की गुंजार अब तक कभी-कभी कानों में प्रतिध्वनित हो जाती है। बाबू श्यामसुन्दर दास, बाबू

जगन्नाथदास रत्नाकर, डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, पं० अमरनाथ झा, डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा आदि सभी उपस्थित थे। करीब एक बजे आध घण्टे का अवकाश हुआ था। उस समय मैं पंडित जी के पास ही हाल में बैठा रहा था। तभी देखा कि पंडित अमरनाथ झा ने कान में पंडित देवीप्रसाद जी शुक्ल से कुछ कहा और श्रद्धेय शुक्ल जी लपक कर पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी के पास आकर बोले—भगवन्! बड़े-बड़े भिखारी आपके याचक हो रहे हैं। अपना बटुआ जरा हमें दीजिए।

पंडित जी ने (और तभी मैंने भी) पीछे मुड़कर देखा, तो बाहर लॉन पर पंडित अमरनाथ झा, डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर खड़े सभी इसी तरफ ताक रहे थे। बात यह थी कि "रत्नाकर" जी का पान का डिब्बा और तम्बाकू भी, डाक्टर त्रिपाठी का "गन पाउडर" (चूना-मली सुरती जिस डिबिया में त्रिपाठी जी रखते थे, उसे "गनपाउडर" कहते थे) तथा पंडित अमरनाथ जी का सिगरेट केस सब रिक्त हो चुके थे और वे लोग "खैनी" पर उतर आए थे। पूज्य शुक्ल जी अपना बटुआ लिए स्वयं उन लोगों के पास चले गए और स्वयं अपने हाथों "सुपारी" कतरकर कुछ सुरती में चूना मिलाकर लवंग तथा कत्थे के साथ प्रत्येक को जिस उदारता, नम्रता एवं स्नेह से उन्होंने अपना प्रसाद दिया और जिस स्नेहाकुलता एवं शिष्टता के साथ उन लोगों ने ग्रहण किया, वह दृश्य क्या किसी को जीवन में फिर देखने को मिलेगा! और बाद में जो ठहाका वहाँ से पूज्य शुक्ल जी के यह कहने पर कि "आज भिखारी ही दानी बन गया!" वहाँ उठा था और जिस तरह हाथ जोड़-जोड़ कर वे सभी महानुभाव उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट कर रहे थे, उसकी प्रतिध्वनि कानों में और झलक आँखों में यह सब लिखते-लिखते अभी भी ग्रहीत होती जा रही है।

पूज्य शुक्लजी का बाद में मेरा सम्पर्क क्षीण हो गया। मुझे कभी मालूम ही नहीं हुआ कि वे प्रयाग में ही हैं क्योंकि मैं सन् १९४९ के करीब कटरे वाले मकान पर गया था, तब किसी ने कहा था कि पण्डित जी तो गाँव चले गए। वास्तव में मेरे अज्ञान ने मुझे ही क्षति पहुँचाई, नहीं तो मैं भी उनके स्नेह-सागर से अनेक मोतियों का संग्रह कर सका होता।

मैं उनकी महानता के प्रति विनत हूँ! उनकी स्मृति को मेरे शतशः प्रणाम!

□

"....हिन्दी के साप्ताहिकों में मासिक पत्रिकाओं या अँगरेजी पत्रिकाओं का उड़ाया हुआ पका-पकाया माल सजा दिया जाता है। यह....सम्पादकों की अकर्मण्यता का द्योतक है और यदि उनका यही क्रम जारी रहा, तो भविष्य में दैनिकों और मासिकों के आगे साप्ताहिकों का कोई महत्व न रह जायगा....।"

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ५४

कीर्ति अजर-अमर रहेगी

● पण्डित लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी

गत २० जुलाई, १९७१ को आकाश-वाणी के समाचार-बुलेटिन से यह सुनकर दुःख हुआ कि 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक **पण्डित देवीदत्त शुक्ल,** ८५ वर्ष की आयु में दिवङ्गत हो गए किन्तु आश्चर्य इसलिए नहीं हुआ कि जब मेरे अनुज, श्री रमाकान्त, कुछ मास पूर्व कानपुर आए थे, तो उन्होंने यह बताया था कि शुक्ल जी, जो अपने कटरा-स्थित पुराने निवास-स्थान से हटकर अलोपी-बाग स्थित अपने निजी घर में चले गये हैं, अब विशेष अस्वस्थ और शिथिल हैं। प्रज्ञा-चक्षु तो वे १०-१२ वर्षों से थे।

तीन वर्षों तक (१९२०-२३) इलाहाबाद रहकर मैं शुक्ल जी के अत्यन्त निकटस्थ हो गया था। मैं विश्व-विद्यालय में एम० ए० (इतिहास) का छात्र था, और वहाँ के सी० ए० वी० स्कूल में अध्यापक भी था। मैं स्कूल से लौटकर विश्व-विद्यालय जाता था। मार्ग में 'सरस्वती'-सम्पादक के कमरे में शुक्ल जी तथा श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी से मैं प्रतिदिन मिलता था। बहुधा मैं उन दोनों के निवास-स्थान पर भी जाता रहता था। इस प्रकार दोनों से स्निग्ध सान्निध्य रहा।

प्रथम मिलन का अवसर उन्होंने स्वतः मेरे कटरा-स्थित निवास-स्थान पर पधार कर प्रदान किया, जब उन दोनों महानुभावों ने अकस्मात् दर्शन दिए। उसके पूर्व मैं उनके नामों से तो परिचित था, और वे भी मेरे नाम से। मेरा एक लेख 'सरस्वती' में इसके पूर्व प्रकाशित हो चुका था, तथा कुछ और मासिक पत्रों में भी मेरे लेख छप चुके थे। जब मैंने एक दूसरा लेख 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ इलाहाबाद में प्रवासित होकर भेजा, तो एक रविवार को प्रातः-काल मेरे घर का पता लगा कर उन्होंने मेरे द्वार पर दस्तक दी। मैं बाहर गया, तो **पण्डित देवीदत्त जी** ने अपना और बख्शी जी का परिचय दिया। मुझे अपने भाग्य पर आश्चर्य हुआ।

बख्शी जी ने कहा—हम लोग आपसे परिचय प्राप्त करना चाहते थे, और आज आपसे मिलने का विशेष उद्देश्य यह है कि हम यह जानना चाहते हैं कि जो लेख आपने अभी भेजा है, वह आप ही का मौलिक लेख है, अथवा किसी लेख का अनुवाद तो नहीं है ?

इस प्रथम मिलन के अनन्तर तीन वर्षों के अपने इलाहाबाद-प्रवास में वे दोनों मेरे समादृत सुहृद् हो गये।

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के आमन्त्रण पर शुक्ल जी उनके सहायक सम्पादक होकर इण्डियन प्रेस की सेवा में नियुक्त हुए थे। उनका मूल निवास-स्थान, बकसर (उन्नाव) द्विवेदी जी के गाँव दौलतपुर (रायबरेली) से दूर नहीं है। इस प्रकार

वे ठेठ बैसवारे के निवासी थे, और वहाँ की चण्डिका देवी के अनन्य उपासक यावज्जीवन रहे। यही नहीं, उनकी धार्मिक प्रवृत्ति शाक्त-सम्प्रदाय की ओर प्रबल थी, और मिलने पर वे भगवती के महा-प्रसाद की महिमा का पिष्ट-पेषण बहुधा किया करते थे। उन्होंने शाक्त तथा तन्त्र-साहित्य का मनोयोग से अध्ययन किया था। अपने जीवन के अन्तिम भाग में 'चण्डी' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी करने लगे थे। मिलने पर सदा सुपारी-कत्था-चूना-तमाखू का प्रसाद (माधव-मेवा) अपने हाथ से प्रेमपूर्वक पीस कर दिया करते थे।

शुक्ल जी परिश्रमी गजब के थे। 'बाल-सखा' के सम्पादक और 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक के नाते उन्हें काफी परिश्रम करना पड़ता था। लेखों का चयन, संशोधन, प्रूफ पढ़ना आदि सभी कार्यों में वे बख्शी जी के सहायक थे। अपने लेखादि भी लिखते थे, प्राप्त पुस्तकों की आलोचना करते थे। वे शुद्ध एवं प्राञ्जल भाषा में सिद्ध-हस्त थे। क्या मजाल कि उनकी निरीक्षित एवं संशोधित किसी सामग्री में कहीं भी कोई अशुद्धि छूट जाय। बख्शी जी उनके नैपुण्य से भली-भाँति अवगत थे, और बहुत सा मैटर वे शुक्ल जी के भरोसे पर ही छोड़ देते थे। शुक्ल जी ने संस्कृत-साहित्य का भी सम्यक् अध्ययन किया था, और अंग्रेजी, बँगला आदि से हिन्दी-अनुवाद करने में भी वे पटु थे। ऐसे उच्च कोटि के सहायक कितने सम्पादकों को उपलब्ध होते हैं ?

जब बख्शी जी त्याग-पत्र देकर खैरागढ़ लौट गए, तो **पण्डित देवीदत्त जी** उनके उत्तराधिकारी होने के सर्वथा योग्य थे ही। उनके सहायक पण्डित लल्ली-प्रसाद पाण्डेय तथा ठाकुर श्रीनाथ सिंह हो गए। उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' का स्तर पूर्व-वत् उच्च कोटि का बना रहा। अनेक नई विधाओं का सन्निवेश किया गया।

जमाना बदल गया। त्रिवेणी की धारा अजस्र बहती गई। दुनिया की गति-विधि में कई दिशाओं में परिवर्तन हो गया, किन्तु शुक्ल जी हिमालय की भाँति अपनी मान्यताओं, वेश-भूषा, खान-पान, आचार-व्यवहार में अटल रहे। अन्त तक उनका प्रातःकालीन सन्ध्योपासन, तर्पण, अग्निहोत्र, पूजा-पाठ आदि कई घण्टों तक विधिवत् चलता था।

कुछ वर्ष पूर्व उनके कटरा-वाले निवास-स्थान पर मैंने उनके अन्तिम बार दर्शन किए। वे अपने नित्य-कर्म में ही संलग्न थे। वे उसी स्निग्धता से मिले, जैसे ४० वर्ष पूर्व मिला करते थे। यों तो वे नम्र स्वभाव के थे, किन्तु अपनी धार्मिक, साहित्यिक तथा सामाजिक मान्यताओं के प्रतिपादन एवं प्रचार में वे कभी-कभी उग्र रूप भी धारण कर सकते थे। उनकी साहित्यिक मान्यताएँ द्विवेदी जी की देन थीं।

शुक्ल जी ने अवध तथा बैसवारे में सन् १८५७-५८ में घटित घटनाओं पर अनेक स्रोतों से उपलब्ध इतिहास लिखा। द्विवेदी जी की काव्य-रचनाओं का संग्रह भी प्रकाशित कराया। 'बाल-सखा' में उनकी रचित बालोचित कविताएँ भी प्रकाशित

हुईं। 'बाल-सखा' अपने युग में इस कोटि का प्रमुख एवं प्रतिष्ठित पत्र था। मैंने भी उनके आग्रह से उसके लिए कई लेख लिखे। 'सरस्वती' के निमित्त लिखे गए मेरे लेखों के वे सदा प्रशंसक रहे।

पण्डित देवीदत्त शुक्ल का मेरे प्रति विशिष्ट स्नेह रहा, और मेरे अनुज से मेरी कुशल-क्षेम सदा पूछते रहते थे।

उनके दिवङ्गत होने पर दुःख तो उनके सुहृदों को होना अनिवार्य था, किन्तु 'मरणं प्रकृति शरीरिणाम्।' उनकी कीर्ति तो अजर-अमर रहेगी।

☐

"....हिन्दी के मासिक पत्रों ने प्रारम्भ से ही साहित्यिक सुरुचि के बढ़ाने का कार्य किया है।....इस समय हिन्दी में कई उच्च कोटि के मासिक पत्र निकल रहे हैं। अपनी सज-धज, आकार-प्रकार तथा विषय-वैचित्र्य की दृष्टि से वे उन्नत-से-उन्नत किसी भी प्रान्तीय भाषा के मासिक पत्रों का सामना कर सकते हैं।....अब इस बात की आवश्यकता है कि हिन्दी के मासिक नए युग का नया सन्देश लेकर साहित्य-क्षेत्र में इस रूप में अवतरित हों कि जनता उनसे अधिकाधिक लाभ उठा सके....।"

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ५४, ५९

"हिन्दी के जो साहित्यकार रचनात्मक कार्य में जुटे हुए हैं, वे आक्षेपों की परवाह नहीं करते। यही कारण है कि आज हिन्दी में केवल कहानी, उपन्यास और कविता का ही बोल-बाला नहीं है किन्तु उसके अन्य अङ्ग भी उत्साह के साथ सँवारे जा रहे हैं। इतिहास, कोष, व्याकरण, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि प्रायः सभी विषयों पर लोकोपयोगी एवं पण्डितोपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका है....।"

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ३६

साधकों के लिए कल्प-तरु

• पण्डित लक्ष्मणदत्त शास्त्री चतुर्वेदी 'याज्ञिक'

बड़े-बड़े राजा-महा-राजाओं ने तान्त्रिकों को प्रश्रय दिया एवं उनकी कलाओं से प्रभावित भी हुए, परन्तु तान्त्रिकों ने काल का सदुपयोग न करके निम्न वाक्यों को ही विशेष रूप से अपनाया कि—

'न देयं पर-शिष्याय' ; 'गोप्यं-गोप्यं प्रयत्नतः ।'

इसका यह दुष्परिणाम निकला कि तन्त्र-विद्या लुप्त-प्राय होती चली गई । किन्तु ऐसे भी दो-चार महापुरुष हुए एवं वर्तमान भी हैं, जो जिज्ञासु एवं अधिकारी साधकों के लिए 'कल्प-तरु' ही हैं।

मणिद्वीप-वासी कुल-शिरोमणि **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** इसी कोटि के उदार-प्रकृति महोदय थे । आपने भारतवर्ष की प्रमुख पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन २५ वर्ष तक किया । तत्पश्चात् आप तन्त्र-शास्त्र के उद्धार करने को कटि-बद्ध हो गए । अनेक अप्रकाशित दुर्लभ तन्त्रों का प्रकाशन किया; अनेक पद्धतियों का निर्माण करके साधकों के लिए साधना-मार्ग प्रशस्त कर दिया। साथ ही शाक्त-प्रमुख 'चण्डी'-पत्रिका-रूप स्तम्भ प्रतिष्ठित करके आपने तान्त्रिक जगत् में हलचल मचा दी । आपके इन महान् अनुपम कार्यों के लिए तान्त्रिक-वर्ग आपका चिर-ऋणी रहेगा ।

श्रद्धेय शुक्लजी महाराज की मेरे ऊपर बड़ी कृपा थी। जब कभी मेरी प्रयाग-यात्रा होती थी, तो मैं शुक्ल जी महाराज के दर्शन अवश्य करता था और मैं कहता भी था कि 'आपके दर्शन करके मेरी प्रयाग-यात्रा सफल हो गई ।' केवल दर्शन ही नहीं, घण्टे-दो घण्टे शास्त्र-चर्चा भी होती थी । उसमें अनेक मार्मिक प्रश्नोत्तर भी होते थे ।

शुक्लजी की यह विशेषता थी कि प्रश्न का समाधान बड़ी विनम्रता के साथ किया करते थे। आप सौजन्य-मूर्ति थे । कौल-धर्म के पक्ष-पाती होते हुए भी जिह्वा-लोलुप कारण-सेवियों की निन्दा भी किया करते थे ।

शुक्लजी महाराज विद्वानों का सत्कार करते थे । आप वैसे भगवती बाला त्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे, किन्तु अन्य सभी विद्याओं के ज्ञाता होते हुए भी श्रीविद्या के मार्मिक विद्वान् थे । अतएव ऐसे महा-पुरुष की सेवा में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके मैं अपना परम सौभाग्य मान रहा हूँ ।

□

"....तन्त्र-शास्त्र हिन्दू-धर्म का विश्व-कोश है । उसमें हिन्दू-धर्म की सभी साधनाओं की विधियाँ अङ्कित हैं ।...." —'वाम-मार्ग', परिचय, पृ० १

पाद-पद्म में प्रणाम !

● श्री कुँवर रावत हिम्मत सिंह

समय-चक्र के दुर्विपाक से सबल शाक्त मत था जब सुप्त ।
पड़ा हुआ था साधक-जन के अन्तर में कर विभा-विलुप्त ।।१।।

जिससे बहुधा जन भूले थे उसका वह उज्ज्वल रूप ।
भ्रान्त हुए-से उसे मानने लगे तिमिर का गहरा कूप ।।२।।

पूत प्रकृति की पूजा में पञ्च-मकारों का अमरत्व ।
विडम्बना उसकी करती थे समझ न सकते थे वह तत्व ।।३।।

तिमिर-यवनिका पड़ी हुई थी नहीं दीखता था वह द्वार ।
जिस पथ पर जाने से सारी संसृति का होवे उद्धार ।।४।।

लोल लहर से लहर रहा था अन्धकार-अर्णव सब ओर ।
विवश सभी तिरते थे उसमें कहीं नहीं मिलता था छोर ।।५।।

'चण्डी' का तुम किया प्रकाशन फैली फिर से प्रभा प्रचण्ड ।
वसुन्धरा पर उदित हुए तुम सच्चे सुखद "कौल-मार्तण्ड" ।।६।।

उलझ रश्मि काँटों में फटी तिमिर-यवनिका नितान्त ।
जन-मन शत-दल हुआ प्रफुल्लित बहा समीरण सुखद प्रशान्त ।।७।।

गद-गद् हो प्रेमातिरेक से पुलकित है मेरा हृद्-धाम ।
पाद-पद्म पर देवीदत्त के करता "हिम्मत" नम्र प्रणाम ।।८।।

□

परम पूज्य गुरुदेव श्रद्धेय बप्पा जी

• पण्डित शङ्करसहाय मिश्र

कदाचित् सन् १६४० में श्री रमादत्त शुक्ल के यज्ञोपवीत-संस्कार में सम्मिलित होने के लिए मुझे बक्सर (उन्नाव) से निमन्त्रण मिला। वहाँ पहुँचने पर मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति का जो अपूर्व स्वागत बप्पा जी (पं० **देवीदत्त शुक्ल**) ने किया, वह उनकी गरिमा के सर्वथा अनुकूल था।

अभी तक मैं उन्हें पहचान न सका था। बाद में अन्य लोगों के बतलाने पर सामान्य वेष-भूषा-संयुत उस दिव्य विभूति का दर्शन कर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। दर्शन करते ही मेरा मस्तक श्रद्धावनत हो गया। मैंने चाहा—उस मनीषी के चरणों के संस्पर्श से अपने जीवन को धन्य बना लूँ, किन्तु उस भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान् स्वरूप के प्राचीन विचारों के कारण यह सम्भव न हो सका क्योंकि मैं उनके भतीजे पण्डित वंशीधर शुक्ल का दामाद था।

सबसे बड़ा आश्चर्य मुझे तब हुआ, जब उन्हें मेरे अन्दर कोई अवगुण ही न दिखाई पड़ा। मैंने कई व्यक्तियों से बप्पा जी को यह कहते हुए सुना कि 'पता नहीं, क्या बात है, लोग उससे रुष्ट रहते तथा उसकी बुराई करते हैं। मुझे तो उस लड़के में कोई अवगुण ही नहीं दिखाई देता। मैं तो उससे परम प्रसन्न हूँ।'

उनके ये शब्द सुनकर मैं सोचने लगा—'क्या इस युग में भी ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं, जो गोस्वामी तुलसीदास के कथनानुसार इस जड़-चेतन-गुण-दोषमय विश्व में विकृतियों का सन्धान न कर केवल गुण-ग्रहण को ही अपने जीवन का मूल-मन्त्र स्वीकार करते हों।'

'पर गुन, नहि दोष कहौंगो'—के दृढ़-सङ्कल्पी बप्पा जी के इस व्यवहार का मुझ पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि मेरी यह धारणा कि ससुराल में मेरा कोई अपना है ही नहीं, आमूल परिवर्तित हो गई तथा मैं समय-समय पर प्रयाग आपके पास पहुँचने लगा। यहाँ पर मुझे सदा वही सम्मान प्राप्त हुआ, जो एक जामाता के लिए उपयुक्त था।

जब कभी मैं आपके पास पहुँचता, आप मुझसे भक्ति-कालीन एवं रीति-कालीन कवियों की कविताएँ सुनते। कभी-कभी कृत्तिवासीय रामायण के बाल-काण्ड और लङ्का-काण्ड का हिन्दी-रूपान्तर भी सुनाने का आग्रह करते तथा सुनाने पर आनन्द-विभोर हो उठते। समय-समय पर मुझे गृहस्थ-जीवन के सुचारु सञ्चालन के सन्दर्भ में अपने अनुभव-पुष्ट उपदेश भी देते, जो आज भी मेरे जीवन-पथ को आलोकित करने में प्रकाश-स्तम्भ बने हुए हैं।

जब आपके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' मासिक पत्रिका पढ़ने का सौभाग्य मिला, तो आपकी सम्पादन-कला देखकर मैं मुग्ध हो उठा। निश्चय ही अपने द्वारा वपित बीज को इस प्रकार पल्लवित एवं पुष्पान्वित देखकर द्विवेदी जी की आत्मा कोटिशः आशीर्वाद देती होगी। आपकी पुस्तक 'दुर्गा-सप्तशती' में श्रेष्ठ काव्य-कला के दर्शन होते हैं।

एक बार मैं ग्रीष्मावकाश में घर जाते समय प्रयाग गया। नित्य स्नानादिक क्रियाओं से निवृत्त होकर मैं अपने दैनिक नियमानुसार 'सप्तशती' का पाठ करने लगा। पास में ही पूज्य बप्पा जी भी उपस्थित थे। पाठ समाप्त होने के उपरान्त उन्होंने मुझसे कहा—'तुम बड़ा सुन्दर पाठ करते हो, किन्तु यह तो बताओ—यह पाठ तुम किसे सुना रहे थे?'

मैंने उत्तर दिया - 'माँ को।'

इस पर उन्होंने फिर पूछा—'वह माँ कहाँ है?'

मैंने कहा—'सर्वत्र।'

इस पर वे बोले—'यह तो ठीक नहीं, माँ के रूप अनन्त हैं। अपनी इष्ट-मूर्ति की कल्पना तथा उसकी पूजा के बिना केवल पाठ अनुपयुक्त है। इसके अतिरिक्त पाठ से जप श्रेष्ठ है, अतः नित्य मन्त्र-जाप भी परमावश्यक है।'

मैंने कहा—'मैं नवार्ण-मन्त्र का नित्य जप भी करता हूँ।'

यह सुनकर उन्होंने पूछा—'नवार्ण-मन्त्र किससे प्राप्त किया था?'

मैंने उत्तर दिया—'सप्तशती' में लिखा तो है।

मेरे इस भोले उत्तर को सुनकर ईषत् स्मिति के साथ वे फिर बोले—'मन्त्र गुरु-मुख से सुना जाय, तभी वह मन्त्र होता है, अन्यथा अक्षर-मात्र। साथ ही केवल पूर्णाभिषिक्त व्यक्ति ही मन्त्र देने का अधिकारी है।'

उनके इन शब्दों से मेरे मन को बड़ा धक्का लगा। ऐसा लगा कि जैसे मेरी अब तक की सारी साधना व्यर्थ चली गयी क्योंकि माँ उसे स्वीकार ही न करेगी। चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठा कि अब कैसे उपासना करूँ तथा ऐसा गुरु मुझे कहाँ मिलेगा? मैंने उन्हीं से पूछा, तो वे बोले—"खोजनेवाला सभी कुछ प्राप्त कर लेता है, केवल लगन की दृढ़ता और श्रम की मनोयुक्तता अपेक्षित है।"

उसी समय से मैं सद्गुरु की खोज करने लगा किन्तु मेरी खोज-प्रक्रिया में असफलता ही हाथ लगी। दुबारा पूछने पर उन्होंने लखनऊ में अपने गुरु-भाई पण्डित महादेवप्रसाद जी अवस्थी का पता बताया। मैंने अवस्थी जी के पास पहुँचकर सतृष्ण भाव से अपनी इच्छा व्यक्त की। इस पर वे बोले—"जिन्होंने तुम्हें मेरे पास भेजा है, वे स्वयं ही इस विषय के प्रकाण्ड ज्ञाता तथा अत्यन्त उत्कृष्ट साधक हैं।"

अब मुझे ज्ञात हुआ कि अमूल्य रत्नों का भाण्डार तो मेरे घर में ही है, केवल अपनी अज्ञानता से ही मैं दरिद्री हूँ। अस्तु, मैं पुनः श्री शुक्ल जी के पास गया। मेरे

बहुत आग्रह करने पर उन्होंने मुझे अपने पवित्र चरणों में स्थान देकर कृतार्थ किया। मैं धन्य हो गया।

पूज्यपाद गुरुदेव दया एवं ज्ञान की साकार प्रतिमा थे। पर-दुःख-कातरता तथा सादा जीवन—उच्च विचार से विलसित उनका व्यक्तित्व उनकी महानता का परिचायक था। घुटनों तक मोटी धोती, मोटा तथा लम्बा कुर्त्ता, मस्तक में भस्म तथा नाद-विन्द्वात्मक तिलक एवं मुख-मण्डल पर सहज सारल्य की दिव्य आभा देखकर यह अनुमान लगाना कठिन था कि इस आवरण में ऐसी दिव्य विभूति छिपी है, जो अपनी विशिष्ट साधना, ज्ञान एवं गुणों के कारण वास्तव में बेजोड़ है।

मुझ अकिंचन पर श्री गुरुदेव का पुत्र-वत् स्नेह था। उन्होंने मुझे कृतार्थ किया अपना सर्वस्व देकर। अध्यात्म-मार्ग के अतिरिक्त लौकिक जीवन-यापन की रीति-नीति तथा तदुन्नयन की वे सतत प्रेरणा देते रहे। उनकी उदारता एवं उच्चाशयता की एक बाँकी झाँकी उनके इन शब्दों में द्रष्टव्य है—"मैं केवल पूजा के समय ही तुम्हारा गुरु हूँ। शेष समय में तुम मेरे मान्य हो, अतः सांसारिक नाता ही रहेगा। गुरु तो वास्तव में शिव हैं।"

'पर-शिष्यं न बोधयेत्'—शास्त्र की इस मान्यता के प्रतिकूल उन्होंने अपने-पराये शिष्यों में कभी अन्तर देखा ही नहीं। जो भी उनके पास विनत भाव से गया, अपने ज्ञान-सलिल से उसके अन्तर्मल का प्रक्षालन उन्होंने बड़े मनोयोग से किया।

पूज्य गुरुदेव ने तन्त्र-शास्त्र को रहस्यात्मकता के गर्त से निकालकर प्रकाश में लाने का जो महत्कार्य किया है, वह अतीव श्लाघ्य एवं स्पृहणीय है। 'चण्डी' द्वारा अनेक सामयिक कौलाचार्यों के सहयोग से शाक्त-धर्म के प्रचार का अकथ्य प्रयास उनकी अन्य अनेक सफलताओं में से एक गौरव-पूर्ण सफलता है।

पूज्यपाद श्री शुक्ल जी का पार्थिव शरीर अब संसार में नहीं है, किन्तु उनका आशीष सदैव हमारा मार्ग-दर्शन करता रहेगा। अन्त में मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि शून्य में व्याप्त उनकी आत्मा मेरे जीवन-पथ को सदा प्रशस्त करती रहे। यदि हम उनकी आत्मा की शान्ति के लिए भगवती से प्रार्थना करें, तो यह अत्यन्त अनौचित्य-पूर्ण होगा, क्योंकि वे स्वयं मूर्तिमान् शान्ति थे। अतः इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि हम उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुधावन कर अपने ऐहिक एवं पारलौकिक जीवन को सुधारने के लिए सतत साधना-रत रहें।

नृदेहमाद्यं सुलभं सु-दुर्लभं
प्लवं सु-कल्पं च गुरु-कर्ण-धारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं—
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

श्रीमद्-भागवत-कार के उक्त शब्दों के साथ पूजार्ह मनीषी श्रीगुरुदेव के चरणों में मैं अपनी श्रद्धा-सुमनाञ्जलि समर्पित करता हूँ। ॐ तत्सत्।

☐

ये मूर्तिमान् प्रयाग-राज !

● श्री स्वामी शाश्वतानन्द सरस्वती

[यह संस्मरण, कहना व्यर्थ है कि मात्र अन्तर्प्रेरणा का ही परिणाम है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है और अपने दृष्टि-कोण को व्यक्त करने की सुविधा प्रत्येक को होनी चाहिए। यदि मेरे मस्तिष्क में हुए वे भाव असत्य हैं, तो हुआ करें। मुझे तो मेरे ही मस्तिष्क पर आधारित होना है। मेरे निमित्त तो वे प्रत्यक्ष छोड़कर भिन्न नहीं। मैं किसी से आग्रह नहीं करता—जैसा कि इस लेख में—जहाँ तक मेरी स्मृति है, कहीं नहीं है—कि दूसरे भी मेरे विचारों का अनुसरण करें। जिन्हें यह संस्मरण त्रुटि-पूर्ण दिखाई दे, वे प्रसन्नतापूर्वक उसे विक्षिप्त का प्रलाप कह सकते हैं। मैं उनसे झगड़ने नहीं जाऊँगा। पर किसी की निन्दोक्ति पर अथवा किसी के भय से मैं अपने विचारों को व्यक्त करने में रह जाऊँ, यह तो मुझसे होने से रहा। 'अञ्चल' की दो पंक्तियों के स्वर में ही मेरा स्वर मिला रहा है—**'छिपाने को छिपा लेता विकल चीत्कार सारा, मगर अभिव्यक्ति की मानव-सुलभ तृष्णा नहीं जाती।'** वस्तुतः यह अभिव्यक्ति की मानव-सुलभ तृष्णा उस समय और भी तीव्र हो जाती है, जब उसके व्यक्त होने में कोई व्यवधान आता है।—लेखक*]

प्रतापगढ़ (उत्तर प्रदेश) जाने का कुछ कार्य था। बहुत दिनों से टाल-मटोल कर रहा था। स्वास्थ्य वैसे ही अच्छा नहीं रहता। फिर इन दिनों तो हृद्-रोग के भयानक एक-पर-एक आक्रमणों ने नितान्त ही शय्याश्रयी बना रखा था। प्रतापगढ़—दो दिन, दो रात की रेल-यात्रा ! शरीर की अवस्था देखते नितान्त असम्भव कार्य था। और इसी समय प्रयाग से अपने कृपालु स्नेही बन्धु का पत्र मिला—'पूज्य पिताजी एवं माता जी का शारीरिक अस्वास्थ्य भी पत्र देने में विलम्ब होने के कारणों में से एक है।' पढ़ने के प्रथम क्षण में ही मस्तिष्क ने निर्णय दे दिया—यथाशीघ्र प्रतापगढ़

---

* पूज्य शुक्ल जी से सम्बन्धित यह संस्करण सं० २०१८ की 'चण्डी' पत्रिका के भाद्रपद अङ्क में प्रकाशित हुआ। शुक्लजी ने स्वामी जी को लिखा था कि इसका प्रकाशन उचित नहीं है, जिस पर उन्होंने पुनः संस्मरण के प्रकाशन पर बल दिया था। 'चण्डी' के सञ्चालक पण्डित शिवनाथ जी काटजू ने भी स्वामी जी के उक्त कथन से सहमति प्रकट की। फलतः इस संस्मरण का उक्त अङ्क में प्रकाशन हुआ था।—सम्पादक

को प्रस्थित होना है। मार्ग में उन तपःपूत, गुप्तावधूत, महत्तम युग-पुरुष, महान् कौलाचार्य के पुण्य दर्शन की कल्पना ने ही उक्त निर्णय एवं उसे कार्यान्वित करने के अदम्य उत्साह को प्रेरित किया।

२ मार्च १६६१ को जयपुर से प्रस्थित हो ४ मार्च के प्रारम्भ में महा-निशा-काल में प्रयाग-जंक्शन पर पहुँचा। रात्रि को रेलवे के विश्राम-गृह में ही विश्राम कर प्रातः प्रातःकृत्य से निवृत्त हो रिक्शे द्वारा उन अप्रगट, किन्तु शाक्त-धर्म के महान् स्तम्भ के पुण्य दर्शन को लालायित शहर को प्रस्थित हुआ।

मार्ग में रिक्शा ही गतिशील नहीं, मस्तिष्क उससे अनेक गुणा गति-मान् था।

'क्या वास्तव में वह भव्य मूर्त्ति रुग्ण-शय्या पर दर्शन देगी?'

'अब तक निश्चय स्वास्थ्य लाभ कर लिया होगा'; 'उनका क्या अस्वास्थ्य है एवं क्या स्वास्थ्य!'

और इसके साथ ही विचार-धारा चल पड़ी—'उनके द्वारा प्रवाहित कौल-दर्शन का महान् स्रोत समय-समय पर विकट समस्याओं के पर्वतों से टकराता अपना मार्ग बनाता आज १६ वर्ष से बढ़ा चला जा रहा है। आर्थिक समस्या की अभेद्य पर्वत-माला ने पद-पद पर इस पुण्य प्रवाह को स्तम्भित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु जितना विशाल गिरि-शृङ्ग सम्मुख आया है, उतने ही अदम्य उत्साह से उनका यह ज्ञान-प्रवाह तीव्रता से अपना मार्ग बनाता आगे बढ़ा है। आज उनका जीवन और यह प्रवाहित ज्ञान-स्रोत भिन्न-भिन्न करके देखा जाना ही असम्भव है। उनका अस्वास्थ्य कहीं इस पुण्य प्रवाह की कोई रुकावट तो नहीं है?'

और इसके साथ ही पुनः विचार-धारा ने पलटा खाया—

'किन्तु, उन वीत-राग को राग क्या? जिसके जीवन का प्रत्येक श्वास माँ की इच्छा द्वारा संचालित है, उसका चिन्ता, दुःख, शोक किंवा उद्वेग से सम्बन्ध क्या? जो **'गुणाः गुणेषु वर्तन्त'** की प्रत्यक्ष अनुभूति कर माँ की रहस्य-मयी लीला का द्रष्टा बन, माँ के तरल स्नेह से आप्लावित चिरानन्द के सुधा-सिन्धु का जल-चर बना हुआ है, उसके निमित्त ये बाधाएँ, ये समस्याएँ, ये उलझनें भी तो लीला ही हैं! इनका उसके स्वास्थ्य पर प्रभाव ही क्या?'

और विचार का दूसरा पहलू पुनः सामने आया—'शारीरिक अस्वास्थ्य का देहाध्यास-रहित महा-मानवों से सम्बन्ध ही क्या? रामकृष्ण परम-हंस कण्ठ के नासूर से महीनों पीड़ित रहे। मिथ्या अथवा केवल विग्रह का स्वास्थ्यास्वास्थ्य भी तो इन दिव्यात्माओं की लीला का ही एक अङ्ग होता है। वह नाटक का पात्र ही क्या, जो शराबी का नाट्य करते हुए सावधानी से पद-क्षेप करे! वह तो लड़खड़ाएगा भी, मुँह से झाग भी देगा, बेतहाशा गिरेगा भी और असंयत भाषा का भी प्रयोग करेगा। मानव शरीर का नाट्य करते हुए दिव्य पुरुष का वह विग्रह अस्वस्थ भी होगा, रुग्ण भी होगा, पारिवारिक, सांसारिक, लौकिक चिन्ता-ग्रस्त भी होगा, क्षुब्ध भी होगा—

सब कुछ होगा। यदि वे महान् आत्माएँ राग, द्वेष, हर्ष, शोक, रोग, स्वास्थ्य का अभिनय न करें, तब तो कहना होगा कि वे सम्यक्-रूप से मानव-विग्रह का अभिनय ही नहीं कर सके। वे असफल अभिनेता ही तो ठहरेंगे। किन्तु, असफलता और उनका सम्बन्ध क्या ?' सोचते हुए स्वयं हँसी फूट पड़ी –'खूब अभिनय है ! सफल अभिनेता वह है, जो असफलता का अभिनय सफलता-पूर्वक कर ले।'

और साथ ही एक प्रश्न मस्तिष्क में जागृत हो उठा —'किन्तु, क्या यह कपटाचार नहीं ? आत्म-गोपन के निमित्त ही तो ये असफलता का आडम्बर करते हैं। **'न गुप्तिमनृतं विना।'** तो क्या ये असत्य-भाषी हैं ? असत्य—और—महापुरुषत्व; उत्तर—और—दक्षिण ! फिर सत्य क्या है ?.......

विचार-धारा में एक अवरोध-सा आ गया। किन्तु, 'मनीराम जी' चुप बैठनेवाले कब थे ! 'माँ ने ही यह सब इतना आडम्बर फैलाया और कहते हैं—अनुभूति भी होती है कि वह कण-कण में अनुस्यूत ही नहीं, प्रत्येक पल के सहस्रांश की अवधि का भी सम्पूर्ण विश्व का कार्य-सञ्चालन भी वही कर रही है, फिर भी उसने अपने आपको ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति से परे ही बना रखा है। क्या यह उसका भी कपटाचार है ? यदि नहीं, तो अपने लड़ैते लालों के निमित्त वह इन्द्रियानुभव की सीमा के अन्तर्गत आ क्यों जाती है और दूसरों की इन्द्रिय-ज्ञान की परधि से बाहर क्यों रहती है ?'

और बुद्धि ने उत्तर दे ही दिया—'निश्चय ही मां के लड़ैतों की इन्द्रिय-अनुभव की परिधि परिवर्द्धित हो जाती है। उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ इतने सूक्ष्म को ग्रहण करने में समर्थ हो जाती हैं कि परम सूक्ष्मा मातृ-विग्रह भी उन्हें स्थूल पदार्थ की तरह दृष्टि-गत होने लग जाता है। माँ न छिपती है, न प्रगट होती है।'

और साथ ही विचार-प्रवाह मूल-धारा पर लौट आया—'तो महा-पुरुष भी इसी प्रकार न छिपते, न प्रगट होते हैं क्या ? अवश्य ही ऐसा ही कुछ है। माँ के लड़ैते माँ की तरह ही रहस्य-मय नहीं होंगे, तो होंगे क्या ? उनके आचरणों को देखने को भी दिव्य दृष्टि की ही आवश्यकता होगी। निश्चय ही उनकी आत्म-गोपन की क्रिया आत्म-गोपन है ही नहीं। उनके वास्तविक रूप को देख पाने की हमारी असमर्थता ही उन पर आत्म-गोपन का आरोप लगाती है।'........

'किन्तु, वे नितान्त संसारी व्यक्ति की तरह व्यवहार करके भी साथ में यह भी तो करते हैं कि यदि कोई उन्हें प्रकाश में लाने का साहस करे, तो विरत ही नहीं होते, उनके असन्तुष्ट हो जाने की भी आशङ्का बनी ही रहती है।'

यदि मन क्रम-बद्ध विचार ही करने लग जाए, तो वह मन ही क्या हुआ। मनीराम जी ने एकदम पलटा खाया—'यह प्रयाग है—तीर्थ-राज !' और साथ ही गोस्वामी तुलसीदास की कुछ चौपाइयाँ याद आ गईं।

मुद मङ्गल-मय सन्त-समाजू। जो जग जङ्गम तीरथ-राजू॥
राम-भक्ति जहँ सुर-सरि-धारा। सरसइ ब्रह्म-विचार प्रचारा॥

विधि-निषेध-मय कलि-मल-हरनी । करम-कथा रवि-नन्दनि बरनी ॥
हरि-हर-कथा विराजति बेनी । सुनत सकल मुद-मङ्गल देनी ॥
वटु-विश्वास अचल निज धर्मा । तीरथ-राज-समाज सुकरमा ॥
अकथ अलौकिक तीरथ-राऊ । देह सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग ।
लहहिं चारि फल अछत-तनु, साधु-समाज प्रयाग ॥
मज्जन-फल पेखिअ ततकाला । काक होहिं पिक बकउ मराला ॥
सुनि आचरज करै जनि कोई । सत-सङ्गति-महिमा नहिं गोई ॥

इत्यादि मन-ही-मन गुनगुनाना शुरू कर दिया । गुनगुनाते हुए ही फिर विचार-धारा चल पड़ी—'लाखों यात्री नित्य प्रयाग आते हैं किन्तु कितने सौभाग्य-शाली 'तीर्थराज' के वास्तविक दर्शन कर कृत-कृत्य हो पाते हैं ? क्या मात्र यह गङ्गा और यमुना की स्थूल धाराओं का सङ्गम ही प्रयाग है ? यदि यही है तो परम श्रद्धा से सम्पन्न असंख्य यात्री नित्य आकर इस सङ्गम में अवगाहन करते हैं, उनमें से किसी का भी किञ्चित् मात्र भी पाप-नाश क्यों नहीं होता ?

यह नहीं कहा जा सकता कि जितने यात्री आते हैं, वे सबके सब ही उस श्रद्धा से हीन हैं, जिसके बल पर त्रिवेणी-स्नान का पुण्य फल प्राप्त होता है । फिर भी उनके पापों का नाश क्यों नहीं हो पाता ?

पाप-नाश का अर्थ होता है कर्म-साम्य । और कर्म-साम्य एवं परम-हंसत्व की उपलब्धि दो भिन्न पदार्थ नहीं । हमारी मान्यताओं के अनुसार सम्पूर्ण लघु-दीर्घ-लौकिक कष्टों का कारण हमारे पूर्व-कृत अशुभ कर्म ही तो हैं । और यदि प्रयाग के इस स्थूल सङ्गम में स्नान करने से ही सब अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब तो सम्पूर्ण स्नान-कर्ताओं को प्रयाग-स्नान के उपरान्त सभी लौकिक दुःख-चिन्तादि से मुक्त हो जाना चाहिए । पर ऐसा होता तो नहीं । तब स्वाभाविक है कि जिन 'तीर्थ-राज' की प्रशंसा में हमारे शास्त्र थकते नहीं, निश्चय ही वे 'तीर्थ-राज' यह स्थूल गङ्गा-यमुना का सङ्गम तो नहीं है । फिर यही स्थान क्यों इस प्रकार इङ्गित किया गया है ?

निश्चय ही इस स्थल पर गोस्वामी जी के कथित 'तीर्थ-राज' सर्वदा निवास करते हैं और इसीलिए इसी स्थान को 'तीर्थराज' कहे जाने का श्रेय प्राप्त है । प्रत्येक युग में कोई-न-कोई जङ्गम 'तीर्थ-राज' प्रयाग में अवश्य निवास करते ही हैं । सौभाग्य-शाली ही उनके दर्शन करके कृत-कृत्य हो पाते हैं ।

और इसी समय विचार पुनः अपने लक्ष्य पर आ टिका—गुप्तावतार श्रीबाबा मोतीलाल जी महाराज ने जिन्हें **'कौलादित्य'** और **'कौल-कल्पतरु'** की उपाधि से विभूषित किया, क्या वे ही वास्तव में **'जङ्गम तीर्थ-राज'** इस युग के नहीं हैं ? न....न....**'तीर्थ-राज'** में गङ्गा, यमुना एवं सरस्वती का सङ्गम है । गोस्वामी जी ने 'भक्ति' को गङ्गा–**'सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा'** को सरस्वती और 'कर्म-योग' को यमुना कहा है । भक्ति-

योग, ज्ञान-योग एवं कर्म-योग का जहाँ सुन्दर सङ्गम हो, उस स्थल को प्रयाग-राज के नाम से अभिव्यक्त किया है।'

और हृदय एकदम आनन्दातिरेक से गद्गद् हो उठा। कितना सुन्दर सङ्गम ! वास्तव में पावन प्रयाग-राज !! एक ही घर में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म का मधुर सङ्गम !! महा-मानव '**कौलादित्य**' मातृ-भक्ति के मूर्ति-मान् प्रतीक हैं ही। मेरे स्नेही बन्धु को छोड़ कर और सफल कर्म-योगी मुझे तो दृष्टि-गत होता नहीं और प्रातः-स्मरणीया बहिन सरसई (सरस्वती) ही तो हैं। सरस्वती की धारा गुप्त ही तो रहती है। ठीक सङ्गम-स्थल पर ही उसके व्यक्त होने की सम्भावना रहती है। प्रातः-स्मरणीया बहिन को इस ज्ञान-प्रवाह से लाभान्वित होनेवाले अनेकानेक सौभाग्य-शालियों में भी, कौन-कौन और कितने जानते हैं ? इस प्रवाह में पीछे रह कर गुप्त रूप से वे कितना सहयोग दे रही हैं, कोई नहीं जान पाता। निश्चय वे सरस्वती ही तो हैं। और ये माता-श्री—निश्चय गङ्गा, यमुना एवं सरस्वती का सङ्गम-स्थल तो ये ही हैं—'हरिहर कथा विराजत वेनी।' इस प्रत्यक्ष जीवित जङ्गम प्रयाग-राज में माँ ललिता का सिद्ध-पीठ-स्थल भी तो विद्यमान है। अपने वटुक, गणेश के साथ त्रिपुर-सुन्दरी भी जङ्गम प्रयाग को कृत-कृत्य कर ही रही हैं।'........

और इसी समय रिक्शा-चालक ने टोंक कर विचार-प्रवाह को विराम दे दिया—'यही गली है न, महाराज ?'

आँख उठी तो देखा, मैं मूर्त्ति-मान् प्रयाग-राज के द्वार पर खड़ा था। 'हाँ, आगे बढ़ो।' मैंने कहा। दो पेडिल मार कर वह आगे बढ़ गया। जीवित तीर्थ-राज का मन्दिर सम्मुख था। मैंने रिक्शा रोका। नीचे उतरा। रिक्शा-चालक ने सामान उठा कर दालान में रखा।

रिक्शेवाले को पैसे देकर ज्यों ही मैं दालान में चढ़ा, सम्मुख द्वार पर ही अन्तर्मुख वे महा-पुरुष बैठे हुए थे। सम्भवतः मेरे इस प्रकार एकदम पहुँच कर आहट करने से उनकी अन्तरानन्दानुभूति में व्यवधान पड़ा। फिर भी स्निग्ध मधुर स्वर में उन्होंने पूछा—'कौन है ?'

मैंने प्रणाम-पूर्वक अपना नामोच्चारण किया। नम्रता, शील और सौजन्य के वे मूर्त्ति-मान् विग्रह अत्यन्त ही प्रसन्न मुद्रा में उठ कर खड़े हो गए। मैं अत्यन्त संकुचित हो उठा। मेरे अनेकानेक आग्रह के उपरान्त भी वे पुनः न बैठे। शौच को जाने को आवास से नीचे आये थे एवं अन्तरानन्द में मुग्ध सम्भवतः मार्ग में ही शौच को भूल कर द्वार पर ही आसीन हो गये थे। जब मुझे यह ज्ञात हुआ तो शौच जाने को मैंने आग्रह किया। किन्तु, वे तो प्रसन्नता की मूर्ति बने खड़े थे। वृद्ध शरीर—यथेष्ट विलम्ब हो गया उन्हें खड़े-खड़े। मेरे स्नेही बन्धु सम्भवतः आह्निक में थे। उन्हें आने में विलम्ब हो रहा था और मैं संकुचित हुआ जाता था।

'भय्या के पत्र से ज्ञात हुआ था कि इधर आपका शरीर कुछ अस्वस्थ हो गया था ?' मैंने जिज्ञासा-निवृत्ति को प्रश्न किया।

'वृद्ध शरीर है। चलता ही रहता है। मैं वात-रोग से पीड़ित हूँ।' उन्होंने उपेक्षा-मिश्रित सरलता से कहा। मन-ही-मन मुझे हँसी आई। मैं जानता था—माँ के इस लड़ैते लाल का स्मरण ही वात-रोग से मुक्ति पाने की सिद्धौषधि है—यह अति-शयोक्ति नहीं। इन गुप्तावधूतों की—जो प्रत्यक्ष में गृहस्थी के जञ्जाल में फँसे हुए साधारण गृहस्थ दृष्टि-गत होते हैं किन्तु अन्तर में अच्छे-अच्छे वीत-रागों के पुण्य-स्मरणीय होते हैं—वास्तविक स्थिति मानवीय अनुमान से परे की ही वस्तु होती है।

उनके इस प्रकार खड़े रहने पर मैं नितान्त संकुचित हुआ जा रहा था कि स्नेही बन्धु ने आकर जैसे उस सङ्कोच-समुद्र में डूबते हुए मुझे उबार लिया। तुरन्त उन्होंने मेरा सामान रखवाने की व्यवस्था की एवं उन मूर्त्ति-मान् प्रयाग-पुरुष को प्रणाम कर सङ्कोच की परिधि तोड़ मैं ऐसे भगा कि गोस्वामी जी का वह पद स्वयं याद आ गया—

बागुरि विषम तोराइ, भाग मृगी जनु भाग-बस।

उसी दिन प्रतापगढ़ जाना था। किन्तु, स्नेही बन्धु एवं प्रयाग-पुरुष के स्नेहा-ग्रह से दूसरे दिन प्रस्थित होने का निर्णय रहा। ये चौबीस घण्टे किस महान् पुण्य के फल थे, यह तो नहीं जानता, किन्तु यह दृढ़ता-पूर्वक कह सकता हूँ कि गोस्वामी-पाद के—

मज्जन फल पेखिय तत्काला। काक होहिं पिक, बकउ मराला॥

की प्रत्यक्ष सत्यानुभूति करने का सौभाग्य प्राप्त कर कृत-कृत्य इसी पुण्य काल में हुआ। आज मैं दृढ़ता-पूर्वक गोस्वामी-पाद के शब्दों में शब्द मिलाकर कह सकता हूँ—

सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत - तनु साधु-समाज प्रयाग।

और—

सुनि आचरज करै जनि कोई। सत सङ्गति महिमा नहिं गोई॥

अनुमान है, मेरे स्नेही पाठक-बन्धु इन मूर्त्ति-मान् प्रयाग-राज से अवश्य परि-चित हो गए होंगे। ये हैं अर्वाचीन हिन्दी-साहित्य के जन्म-दाता आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के उत्तराधिकारी—२५ वर्ष 'सरस्वती' का सम्पादन कर श्रद्धेय द्विवेदी जी के लगाये पौधे को वृक्ष का रूप प्रदान कर अचानक साहित्य-जगत् से अदृश्य हो शाक्त-धर्म की डूबती नाव को उबारने को निःसम्बल महा-सागर में कूद कर उसे उठा कर अपने निर्बल वृद्ध कन्धों पर पार ले जानेवाले **'कौलादित्य श्री पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल'**, एवं मेरे स्नेही बन्धु हैं इन्हीं गुप्तावधूत के सुयोग्य उत्तराधिकारी पुत्र-रत्न पं० रमादत्त जी शुक्ल—

माँ इन पिता-पुत्र को दीर्घजीवी स्वस्थ रखें कि तमावृत्त शाक्त दीर्घकाल तक इनसे प्रकाश पा कृत-कृत्य हो सकें। शन्नः कौलिकाः।

□

श्रद्धा की एक पाँखुड़ी

● श्री हरकिशन झवेरी/श्रीमती अजब झवेरी

हमारे पूज्य गुरुदेव बाबाश्री के एक प्रेमी भक्त पूज्य **श्री देवीदत्त जी** का शरीरान्त हुआ, यह समाचार जानकर हम दोनों को बहुत ही दुःख हुआ। उनके कुछ संस्मरणों की याद आ गई, जो इतने सालों के बाद भी ऐसी ही है, जैसे आज की बात हो।

सबसे पहले प्रयाग में श्री हनुमानप्रसाद जी माथुर के यहाँ पूज्य शुक्ल जी से हमारी मुलाकात हुई थी। फिर बनारस में हुई। इतने बड़े होते हुए भी वे मुझे 'भाभी जी' कहते थे। मैंने कई बार मना भी किया, पर जो स्वयं बड़े होते हैं, वे सबको बड़ा ही मानते हैं।

फिर तो परिचय बढ़ता ही गया। उसके बाद हमारे पूज्य बाबाश्री कई बार इलाहाबाद जाकर गुजराती धर्मशाला में महीनों तक रहने लगे। वहाँ पूज्य **श्री देवीदत्त जी** समय मिलते ही आते थे और पूज्य श्री से कोई प्रश्न किये बिना शान्त बैठकर सुना करते थे। कभी कोई प्रश्न पूछते थे, तो खास बात पर ही पूछते थे। अगर उनके साथ आने-वाले कोई ऐसा-वैसा प्रश्न पूछते थे, तो वे चिढ़ जाते और कहते कि 'काम की बात करो। फ़ालतू प्रश्न क्या कर रहे हो!'

ऐसे ही एक दिन पूज्य श्री शुक्ल जी सबेरे आ गये थे। पूज्य श्री के अपने कार्य में होने से हम सभी बैठ कर बातचीत कर रहे थे। जो कोई मिलने आते थे, वे सब रात को सात बजे के बाद ही आते थे, पर शुक्ल जी के लिए कोई रोक-टोक नहीं थी। तो हम सब बैठे थे। इतने में गुरुजी जाग्रत् हुए और सुना कि शुक्ल जी आए हैं, तो उन्होंने बुलाने को कहा। वहाँ हम बैठे ही थे कि एक आदमी, जो वहीं का रहनेवाला था, दरवाजा खुला देखकर अन्दर आकर बैठ गया। आने का कारण पूछने पर उसने यह बताया कि 'मेरी जमीन है। उसमें कुआँ बनाना है, तो महाराज आकर बताएँ कि पानी कहाँ निकलेगा।'

यह सुनकर हम लोगों को हँसी आ गई, पर पूज्य शुक्ल जी तो एकदम बोल पड़े—भाई, इसमें महाराज को क्यों परेशान करते हो! यह तो किसी भू-स्तर शास्त्री (जिसको जमीन में पानी का ज्ञान हो) से पूछो। एक मच्छर मारने को मशीनगन का क्या काम?

सुनकर हम सभी स्तब्ध हो गये कि यह कितनी बड़ी बात उन्होंने कह दी। हमारे पूज्य बाबा जी को वे कितने ऊँचे भाव से देख रहे हैं! ऐसे प्रसङ्ग कितनी ही बार आए, क्या लिखूं और क्या न लिखूं। जब हम सब पूज्यश्री के साथ बनारस में

थे, तब पूज्य शुक्ल जी ने पूज्यश्री के बारे में एक पुष्पाञ्जलि लिखी थी। यह पुष्पाञ्जलि हम कई बार गाते थे, परन्तु पूज्य श्री शुक्ल जी के सामने गाने का अवसर नहीं आया था। एक बार प्रयाग में उनके सामने इसे गाने का प्रसङ्ग आ गया। सुनकर इतने प्रसन्न हो गये कि पुष्पाञ्जलि के पूरा होते ही भावावेश में आकर मेरे दोनों हाथ पकड़ कर कहने लगे—भाभीजी, आज आपने मेरा जीवन सफल कर दिया। मैं कृतार्थ हो गया। आज मेरा लिखने का उद्देश्य सफल हुआ।

और बोलते-बोलते उनकी आँखों से आँसू गिरने लगे।

आखिरी बार १९६५ के एप्रिल में मिले थे, तो कहते थे—'पता नहीं, फिर मुलाकात होगी या नहीं।'

ऐसा ही हुआ। फिर न मिल सके। हमें तो पूज्य अम्माजी और शुक्ल जी को देखकर (बड़े हैं, इसलिये नहीं) अन्तर से ही पूज्य भाव उत्पन्न होता था। आज यह सब लिख कर अपना मन मना रहे हैं। बाकी उनके जैसे पण्डित और माँ के परम भक्त के लिए, जो माँ की कृपा से बहुत ही ऊँचे बढ़ चुके थे, मैं क्या लिख सकती हूँ? यह तो फूल भी नहीं, खाली एक पंखुड़ी ही दे रही हूँ!

□

"....ब्रह्म-वादी लोग जिस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके अपने लक्ष्य का साक्षात्कार करते हैं, साधक उसी तत्त्व को पञ्च-शुद्धयात्मक 'चक्र-पूजा' द्वारा उपलब्ध करता है...."

"....यही वह रहस्य-मयी पूजा है, जिसको पूरे छः महीने तक अनवरत रूप से करने से साधक बिना किसी प्रकार की विघ्न-बाधा के चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति कर लेता है....।'

—'चक्र-पूजा', भूमिका, पृ० ४

शुक्ल शुक्ल-पूर्णिमा के थे पूरण चन्द

● श्री स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती

जब मैं अपने पूर्व आश्रम में था, तब से ही मैं 'चण्डी' पत्रिका का सदस्य रहा हूँ। 'चण्डी' का जब पहले-पहल प्रकाशन हुआ, तब उसके वास्तविक सम्पादक स्वर्गीय **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ही थे, यद्यपि नाम दूसरों का छपता था। आपके सम्पादकीय लेखों को पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैंने भी अपने लेख व कविताएँ भेजीं। आपने मेरे लेखों की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कुछ ही समय के बाद आपने मुझे 'वीर-मणि' की उपाधि प्रदान कर मुझे सम्मानित किया। मेरा आपके साथ पत्र-व्यवहार चलता रहा और इस प्रकार आपके प्रति मेरा प्रेम-भाव व श्रद्धा बढ़ती गई। प्रत्यक्ष दर्शन व वार्तालाप की इच्छा भी प्रबल होती गई।

अंततोगत्वा अपनी सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त कर मैंने अपने चौथे आश्रम में प्रवेश किया और ऋषिकेश में जाकर ब्रह्म-लीन श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज से संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। यह सम्वत् २०१० की बात है। इसके बाद मैंने अपने परिव्राजक जीवन-काल में तीर्थ-यात्राएँ प्रारम्भ कीं। इसी सन्दर्भ में सम्वत् २०१४ या १५ में मैंने श्रीजगन्नाथपुरी की यात्रा की। लौटते समय प्रयाग-राज जाकर त्रिवेणी-स्नान करना भी आवश्यक था। इस समय मेरे साथ भक्त-प्रवर स्वर्गीय श्रीमेहताबचन्द जी माथुर भी थे।

त्रिवेणी-स्नान कर हम दोनों 'चण्डी'-सम्पादक जी से भेंट करने के निमित्त रिक्शे द्वारा 'चण्डी'-कार्यालय (जो उस वक्त कटरा, प्रयाग में था) पहुँचे। बाहर से हमने श्री रमादत्त जी शुक्ल को पुकारा क्योंकि इस वक्त **श्री पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** के सुपुत्र 'कुल-भूषण' श्री रमादत्त जी शुक्ल ही 'चण्डी' के सम्पादक थे। हमारी आवाज सुनकर एक बाला ने ऊपर से झाँका और कहा कि 'वे नहीं हैं, बाजार गए हुए हैं।' उसने हमारा नाम-पता पूछा। जब हमने अपना परिचय दिया, तो भीतर बैठे हुए हमारे चरित-नायक शुक्ल जी ने सुन लिया और उस बाला को आज्ञा दी कि 'इन महाशयों को भीतर ले आ।'

जब हम ऊपर गए, तो हमें सर्व-प्रथम आपके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपकी नेत्र-ज्योति चली जाने के समाचार पाकर हमें बड़ा दुःख हुआ, पर इस दुःख की स्थिति तुरन्त ही अनुपम आनन्द में बदल गई, जब आपसे प्रेम-वार्तालाप हुआ। आपके सौजन्य, निरभिमानता व प्रेम-भाव ने हमें मोहित कर लिया।

'चण्डी' व धर्म-सम्बन्धी चर्चा चली। चर्चा करते-करते दोपहर के बारह बज गए। हमने जाना चाहा, पर वृद्ध महा-पुरुष ने हमें इतना प्रेमाभिभूत किया कि हमको

उनके यहाँ भोजन करने का निमन्त्रण स्वीकार करना ही पड़ा। भोजन तैयार ही था और आपने हम दोनों को पास बैठकर बड़े आदर व प्रेम से भोजन कराया।

इतने में रमादत्तजी शुक्ल भी बाजार-कार्य समाप्त कर घर लौट आए। हमें वहाँ अपने अतिथि के रूप में पाकर वे भी आनन्दित हुए। पुनः धर्म-चर्चा चली। इस प्रकार कुछ समय और आपके सत्सङ्ग में बीता। हमने बिदा ली।

इस सत्सङ्ग-काल में हमने अनुभव किया कि स्वर्गीय शुक्ल जी एक महान् आत्मा थे। उनका शास्त्र-ज्ञान और पाण्डित्य अद्वितीय था। आप वेद, पुराण, इतिहास, साहित्य के ही जानकार नहीं थे, वरन् तन्त्र-शास्त्र व शाक्त-धर्म के भी निष्णात् आचार्य थे। इतना पाण्डित्य होते हुए भी आप में अभिमान व अहङ्कार का लेश-मात्र भी न था। नेत्र-हीन होते हुए भी आप सदा आनन्द में विभोर रहते थे। ज्ञानानन्द ही आपका स्वरूप था। आप भक्ति, ज्ञान एवं त्याग की मूर्ति थे।

हमें तभी यह भी ज्ञात हुआ कि 'चण्डी' पत्रिका के प्रकाशन से पूर्व आपने २५ वर्ष पर्यन्त 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का भी सम्पादन किया था। यह पत्रिका अपने समय की श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका समझी जाती थी। आपने 'सरस्वती' के इस सम्पादकीय जीवन के अनुभव पर एक पुस्तक—'सम्पादक के पचीस वर्ष' द्वारा प्रकाश डाला है। वह पुस्तक एक अनुपम उपहार है।

आपने प्रायः ६० वर्ष की आयु प्राप्त कर अपना भौतिक कलेवर त्याग किया। इसमें सन्देह नहीं कि आपके निधन से शाक्त-संसार में एक प्रमुख शाक्ताचार्य का अभाव हो गया, जिसकी पूर्ति असम्भव-सी है। अन्त में आपके प्रति अपनी प्रेम-श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हुआ अपने को कृतार्थ मानता हूँ—

शुक्ल शुक्ल-पूर्णिमा के, थे पूरण चन्द।
देते निज यश से सदा, सबको अति आनन्द।
जग-लीला को पूर्ण कर, करन हेतु विश्राम।
वास किया जिन जाय के, मणि-द्वीप निज धाम॥

□

"....ऋग्वेद में कई मन्त्र हैं, जिनमें परमात्म-तत्त्व का सुन्दर ढंग से निदर्शन किया गया है। हिन्दू-धर्म की विचार-धारा तो प्रारम्भ से यही रही है कि 'एक' का 'अनेक' में दर्शन करे। यही कारण है कि वेद में भिन्न-भिन्न अलौकिक वस्तुओं में परमात्मा-तत्त्व का अधिष्ठान कर उनके भिन्न-भिन्न नामों द्वारा परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार करने का उपक्रम किया गया है....।"

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ६४

पूज्यवर सुकुल जी

● **पण्डित कालीचरण पन्त**

सर्व-प्रथम १९२५ में जुलाई मास में प्रयाग विश्व-विद्यालय में प्रविष्ट होने के लिए प्रयाग के लिए चला और यह पहला ही अवसर था, जब नगाधिराज हिमालय के शीतल-मय अङ्क को छोड़कर प्रयाग-जैसे उष्ण स्थान में जाना पड़ा हो। प्रस्थान करने के अनन्तर मार्ग ही में यह निर्णय हो गया कि प्रयाग पहुँचने के दूसरे ही दिन कल-कल-नादिनी जाह्नवी की त्रिवेणी में स्नान किया जाय।

बड़े प्रातःकाल ही त्रिवेणी में जाकर मज्जन-क्रिया की। स्नानानन्तर लौटते समय अलोपीबाग के समीप रेल पुल के नीचे सहसा समयाचार का वन्दन-श्लोक उच्च स्वर से कहा हुआ कर्ण-गोचर हुआ और **'जय बाले'** ध्वनि कर्ण में गुञ्जारित हो गई। दृष्टि उस ओर गई और देखा कि सामने से आती हुई सुवासिनी को हाथ जोड़े हुए आनन्दातिरेक-दशा में एक भव्य मूर्ति ने ये शब्द उच्चारित किए थे—भाल में विशाल रक्त इंगूर की बिन्दी, कन्धे पर लाल गमछा, धोती, पानों से भरा हुआ मुँह तथा प्रकृत मुस्कान से भरा हुआ गौर रक्तिम स्मित मुख-मण्डल !

बड़ी ही आह्लाद-मयी मूर्ति वह थी। प्रतीत होता था, मानो कैलाश-स्थित देवाधि-देव महा-देव का प्रिय (अनुचर) पार्षद-सा हो। मन में बड़ी इच्छा हुई कि इन महात्मा का परिचय ज्ञात किया जाय, पर साथ के छात्रों का पशु-सङ्कट था। एतदर्थ मानसिक नमस्कार-पूर्वक अपने-अपने स्थान को चले गए और मन ने परितोष कर दिया कि इस तीर्थ-राज में अनेक शाम्भव विहरते होंगे—**"बहु-रत्ना वसुन्धरा।"** और कभी तो उनके दर्शन-लाभ होंगे ही।

दूसरे ही दिन मुझे कवि-वर डाक्टर सुमित्रानन्दन पन्त जी के आवास में उनके दर्शनों के लिए जाना था। वहाँ पहुँचने पर देखा कि वे कहीं जाने की जल्दी में हैं। उन्होंने स्वतः ही कहा कि 'चलो, तुम्हें इण्डियन प्रेस दिखा लाएँ।'

उनकी सुखद सङ्गति का लोभ सम्वरण न कर सका और उनके साथ हो लिया। वहाँ सम्पादक के कमरे में जाने पर आश्चर्य-चकित हो गया कि पूर्वोक्त भव्य-मूर्ति स्वयं सम्पादक जी ही थे।

डाक्टर पन्त साहब ने परिचय दिया कि 'ये **पण्डित श्री देवीदत्त जी शुक्ल** हैं।'

थोड़ी देर के लिए भाई साहब श्री सुमित्रानन्दन पन्त जी प्रेस के अन्यान्य कमरों में चले गए और सम्पादक जी के कमरे में मेरे अतिरिक्त कोई न रहा। मैंने धृष्टता से पूछा कि 'आप शाक्त हैं ?'

पान चबाते, मधुर अट्टहास करते श्री शुक्ल जी ने पूछा कि 'आपने कैसे पूछा कि मैं शाक्त हूँ ?'

तब मैंने कल की घटना, जिससे मैं आकृष्ट हुआ था, सुनाई तो उन्होंने कहा कि 'इसमें क्या विशेष बात थी ?'

मैंने उनसे निवेदन किया कि 'और तो नवीनता कुछ नहीं थी, केवल समयाचार का त्रिपुरा-वन्दन पशु के लिए ज्ञातव्य नहीं है। अतः मैंने विचारा कि आप शाक्त हैं।'

पूज्य-वर पण्डित जी ने मधुर हास-पूर्वक बताया कि वे निश्चय ही घोर शाक्त हैं। तब मैंने उनके आवास का पता लिख लिया। इतने में ही कमरा अन्य व्यक्तियों से भर गया और कोई बातें न हो सकीं।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को सभी जानते होंगे। उन्हीं के अथक परिश्रम से हिन्दी सर्वाङ्ग, परिमार्जित रूप से निखर सकी और उनके द्वारा स्वयं चुने हुए उत्तराधिकारी **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** ने उसको सर्व-शृङ्गारों से आभूषित कर राष्ट्र-भाषा सिंहासन पर आसीन कराने का सौभाग्य प्राप्त किया। अपने घोर परिश्रम से उन्होंने अनेक लेखकों तथा कवियों को प्रोत्साहित कर तथा अपने प्रेस के अध्यक्ष की रुचि के अनुकूल सरल से सरल-तम शब्दों में गहरी-से-गहरी विचार-धारा व्यक्त करने का नवीन-तम उदाहरण जनता के समक्ष प्रस्तुत किया।

प्रयाग पहुँचने के चौथे दिन छुट्टी के कारण कालेज बन्द था, सन्ध्या-समय सुकुल जी के आवास को ढूँढ़ने गया। कटरे में स्थित वह आवास ढूँढ़ने पर बड़ी सरलता-पूर्वक मिल गया। वहाँ पहुँचने पर देखा कि पूज्यवर सुकुल जी अपने आवास स्थान में अपने उसी पूर्व रूप में काष्ठ के तख्त पर आसीन "विजया-शोधन" में लगे हैं। उन्होंने ध्यान-वन्दन-पूर्वक सम्विदा ग्रहण की और स-हास्य मधुर शब्दों में मेरा पूरा-पूरा परिचय पूछा और मेरा नाम सुनते ही सारा स्थान उनके अट्टहास से गूँज उठा।

उनके सौजन्य तथा आत्मीयता-प्रदर्शन से हृदय गद्गद हो गया। उन्होंने पर्वतीय प्रान्त में शाक्त-धर्म की स्थिति के विषय में कई प्रश्न किए। वास्तव में उस समय कूर्माञ्चल तथा गढ़वाल में अतिशय उच्च कोटि के शाक्तों की प्रचुरता थी और भाग्य-वश मैं भी इनमें से अधिकांश साधकों के सम्पर्क में आया हुआ था। मैंने उन्हें विस्तार-पूर्वक स्थिति समझाई और वे परम प्रसन्न हुए।

मैंने देखा कि सरल वार्तालाप में भी वे अनेक सङ्केतों द्वारा मेरी परीक्षा भी करते जा रहे थे। थोड़ी देर में उनके सन्ध्योपासन का समय निकट-सा प्रतीत हुआ। अतः मैं भी किसी दूसरे दिन आने की प्रार्थना करके लौटने लगा। उन्होंने मेरे छात्रा-

वास का पता पूछा और जाने की आज्ञा दी। उनका सौजन्यता का व्यवहार तथा आत्मीयता-प्रदर्शन, मधुर हँसी आदि हर किसी को आजन्म वशीभूत करने के लिए पर्याप्त थी।

प्रयाग की गर्मी तथा सर्व-प्रथम हिमालय का विछोह मन को खल रहा था। यद्यपि छात्रावास में नए-नए छात्रों से परिचय होता जाता था और छात्रावास के कार्य-क्रम रोचक-से हो रहे थे, फिर भी शान्ति और शीतल-शून्यता, जो पर्वत-राज की निराली विभूति है, उसका अभाव खटक-सा रहा था।

अचानक एक दिन प्रातःकाल ६। बजे श्री सुकुल जी कमरे में पधारे। उनको प्रणाम-आसनादि देकर चाय मँगवाई, जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया, केवल मात्र छोटा टुकड़ा मिष्ठान्न तथा जल ही ग्रहण किया। स्वस्थ हो जाने पर उन्होंने रात्रि को आयोजित चक्रार्चन में भाग लेने का आमन्त्रण दिया। चक्र किन्हीं दूसरे सज्जन के घर था और उनकी ओर से प्रतिनिधि-स्वरूप श्री पूज्य पण्डित जी ने भाग लेने का अनुरोध किया। पूज्य पण्डित जी के आज्ञानुसार नियत समय पर मैं वहाँ पहुँच गया और सानन्द पूजन-अर्चन सम्पादित हुआ।

इसके अनन्तर तो पूज्यवर पण्डित जी इतने अधिक प्रसन्न हो गए कि प्रयाग के अनेक स्थानों में अनेक साधकों के यहाँ अर्चन में बुलवाने लगे। उनके द्वारा अनेकानेक विभिन्न स्थानों के साधकों के भी दर्शन हुए, जिनमें से पीलीभीत के पण्डित दुर्गाशङ्कर शुक्ल बहुत अधिक समय तक मेरे सम्पर्क में रहे।

स्वर्गीय सुकुल जी का चरम ध्येय शाक्त-धर्म का विस्तार करना तथा उसकी रहस्य-मयी साधना को परिमार्जित रूप से सरल हिन्दी में रूपान्तरित करना था, जिससे सर्व-साधारण जनता उसको हृदयङ्गम कर सके तथा वह वेद की क्लिष्टता की तरह सर्व-त्याज्य न हो जाय। इसी कारण वे सभी मार्गानुयायियों को सभी प्रकार से उत्साहित कर साधना-मार्ग में अग्रसर करते थे।

पूज्य-वर पण्डित जी अपने को 'सुकुल' कहते थे तथा उनका कथन था कि वे 'बाला' कवि के, जिनको श्री बाला त्रिपुरा का साक्षात्कार होता था, वंशज हैं। उनके श्री-मुख की अर्धाली निम्न थी—

"बाला पियें प्याला, फिर भी बाला के बाला!"

जिन दिनों पूज्य-वर पण्डित जी से मेरा साक्षात्कार हुआ, मैंने उनसे अत्यन्त अनुरोध किया कि अल्मोड़ा चलकर तत्कालीन शाक्त साधकों का, विशेष कर अल्मोड़े के परम साधक भक्त-प्रवर पू० राजा श्री आनन्दसिंह का दर्शन करें, पर वे इतने कार्य-व्यस्त थे कि उन्हें यह समय कभी नहीं मिला। नहीं तो अवश्यम्भावी था कि वे अत्यन्त उल्लास से आपूरित होते।

पूज्य पण्डित जी में विचित्र क्षमता थी कि वे किसी भी मनुष्य का अङ्कन

कुशलता-पूर्वक कर सकते थे और अक्षरशः उनका विचार सत्य होता था। कई बार उन्होंने साधकों के लिए भविष्य-वाणी की थी और वह अक्षरशः ठीक उतरी।

नितान्त सादा सरल जीवन; कार्य-भार से व्यस्त होने पर भी पूज्य-वर पण्डित जी ने शाक्त-धर्म की जो सेवाएँ की हैं, वे अमूल्य हैं। यदि उक्त सेवाओं को चार भागों में विभाजित किया जाय, तो देखा जायगा कि उन्होंने कितने साहसपूर्ण ठोस कार्य कर सु-गुप्त शाक्त-धर्म को प्रकाश के क्षेत्र में रखा तथा अनेक योजनाएँ उसके प्रचार के लिए बनाईं, जो उनके द्वारा रचित सरस-सरल उपन्यास "धर्म-मार्ग पर," "साधक का सम्वाद" आदि में सरल भाषा में गहरे शाक्त तथ्यों सहित प्रकाशित कर दी गई हैं। ये चार विभाग निम्न प्रकार हैं—

सर्व-प्रथम खुले तौर पर शाक्त-धर्म के प्रति व्यक्तियों को आकर्षित कर लखनऊ अपने श्री गुरु-स्थान में तथा अन्य जगहों में दीक्षित कराना;—

दूसरा प्रकट रूप से लेख आदि द्वारा शाक्त-धर्म का समर्थन;—

तीसरा शाक्त-धर्म के लिए व्यापक रूप से प्रचार-हेतु उक्त "धर्म मार्ग पर" आदि उपन्यासों की रचना, जिनमें प्रचार-योजना आदि हैं; और—

चौथा प्रगट (खुले) रूप से प्रयाग में "शाक्त-सम्मेलन" की स्थापना, उसकी मुख-पत्रिका "चण्डी" का प्रकाशन एवं नाना प्रकार के लेख एवं तन्त्र-माला आदि के सम्पादन द्वारा विस्तार-रूप से जनता में तन्त्र के आचार्यों तथा ग्रन्थों का सुलभी-करण।

यह उन्हीं के प्रयत्न का फल था कि भारत के विभिन्न प्रान्तों के शाक्त-गण एक दूसरे को जान सके तथा परस्पर सम्पर्क में आ सके।

पूज्य-वर पण्डित जी से प्रायः हर दूसरे-तीसरे साल सन् १९६६ तक मेरा समागम प्रायः होता रहा और उन्होंने कृपा-पूर्वक अपनी दीक्षा-शिक्षा-सम्बन्धी सभी बातें प्रकट रूप से समझाईं। दृढ़ नैष्ठिक पूर्णाभिषिक्त होते हुए भी पूज्य-वर पण्डित जी को अभिमान छू तक नहीं गया था और वे किसी भी कक्षा के शाक्त का हृदय से स्वागत करते थे। उनके घर के द्वार हर शाक्त के लिए उन्मुक्त थे। कई बार उन्होंने अपने सुपुत्र को आदेश किया कि मेरे लिए उनका द्वार सदा-सर्वदा खुला रहे, आदि-आदि।

पूज्य-वर सुकुल जी की वेश-भूषा अत्यन्त साधारण प्रकार की थी। खद्दर के वस्त्र के लिए वे निरन्तर पक्ष-पाती रहे और स्वयं नित्य खद्दर ही धारण करते थे। अपने सभी लेखों, क्रिया-कलापों में वे कट्टर स्वातन्त्र्य-प्रेमी थे। महामना मालवीय आदि के सम्पर्क में रहे हुए थे।

शाक्त-धर्म की अपनी जिज्ञासा के कारण बँगला तथा गुजराती में छपे तन्त्रों का एवं आर्थर एवेलन सिरीज का, जो कलकत्ते के हाईकोर्ट के विख्यात जज सर जान वुडरफ़ महोदय द्वारा सङ्कलित थी, पूज्य सुकुल जी ने विवेचन-पूर्वक सूक्ष्म अध्ययन किया था। दरभङ्गा के महाराज और काशी के तन्त्र के धुरन्धर साधकों से प्रायः

भली प्रकार परिचत थे। इस सम्बन्ध में उनकी निर्भीकता इतनी थी कि इण्डियन प्रेस के स्वामी स्वर्गीय चिन्तामणि घोष के, जो कट्टर चैतन्य-सम्प्रदाय के वैष्णव थे, पूछने पर स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि 'हम कट्टर शाक्त हैं और अपनी पूजा में पशु-बलि करते हैं।'

सबसे विचित्र बात पूज्य सुकुल जी में यह थी कि जिस बात का उन्हें तन्त्र में ज्ञान नहीं था, उसके लिए स्पष्ट रूप से कह देते थे कि 'हम नहीं जानते।' धर्म के विषय में इस सत्य का पालन मैंने विशेष रूप से उन्हीं में पाया।

उनके अनुरोध से कई समय लखनऊ में उनके पूज्य गुरुदेव का दर्शन किया और मन में बड़ी प्रसन्नता हुई कि वे भी सभी गुणों से अलंकृत थे। प्रति-वर्ष अनेकानेक रात्रियाँ उन्हीं के आवास में व्यतीत कीं। अनेक व्यक्तियों को भी मैं उनके श्रीचरणों में लाया और इस प्रकार उनका जीवन भी सफल हुआ। ये महोदय भी बड़े दानी थे। मुक्त हस्त से विद्या—दीक्षा-दान देते थे।

प्रयाग में आने-जाने के समय जब कोई तन्त्र-दीक्षा के लिए उत्सुक प्राणी मिलता था, उसको लाकर श्री पूज्य 'सुकुल जी' के द्वारा दीक्षा-संस्कार सम्पन्न होता था। पीछे चक्षु-हीन होने के कारण जब भी वे नकारात्मक उत्तर देते, तो फिर-फिर चेष्टा करने तथा प्रार्थना-युक्त उपालम्भों द्वारा हामीं भर लेते थे। उनका साथ सदा-सर्वदा ही परम मधुर तथा आनन्द-दायक होता था। प्रायः कभी भी उन्हें उदास मुद्रा में मैंने नहीं देखा।

बाद को जब पूज्य सुकुल जी अलोपीबाग में मकान बन जाने पर कटरे से उठ आये, तो भी मैं कई बार मैंने उनके दर्शन किए और अनेक दिनों तक उन्हीं के परिवार के व्यक्ति के समान वहाँ रहा। उनके अलौकिक शिष्टता-पूर्वक दीर्घ-कालीन अनुभवों के नित्य नए-नए प्रसङ्ग सुनकर, जो विशेष रूप से शाक्त-समाज-सम्बन्धी होते थे, मन बड़ा ही मुग्ध हो जाता था। यदि चक्षु-हीन न होते, तो शाक्त-समाज का जो अनुपम उपकार होता, उसका मूल्याङ्कन प्रायः असम्भव है।

धर्म-प्रचार के विषय में पूज्यवर सुकुल जी ने जो रूप-रेखा अपने उपन्यास 'धर्म-मार्ग' में प्रस्तुत की है, वह बड़ी ही उत्तम तथा वाञ्छनीय है। उसमें स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार मुट्ठी भर साधकों ने आचार्यत्व का अधिकार प्राप्त किया तथा उंन्होंने अपने विभिन्न स्थानों में किस प्रकार सद्-गृहस्थ होते हुए भी अपने आदर्श व्यवहारों से जनता को मुग्ध कर शाक्त-मार्ग की ओर आकर्षित किया और अनेकानेक शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा मार्ग की उन्नति कराई। पूज्य सुकुल जी की अनेक और भी योजनाएँ थीं, पर उनके चक्षु-विहीन होने से कई योजनाएँ प्रकाश में न आ सकीं।

पूज्य पण्डित जी ने दो-चार समय बहुत अधिक आग्रह करने पर अपने जीवन के आध्यात्मिक क्षेत्र के अनुभवों का यत्किञ्चित् वर्णन किया, पर साथ ही स्पष्ट रूप से यह भी कहा कि उनको प्रकट न किया जाय।

सभी प्रकार से देखा जाता था कि पूज्य-वर पण्डित जी अनन्य भक्त, ज्ञानी तथा कट्टर शाक्त-धर्मावलम्बी थे। अपने समस्त जीवन में उन्होंने, जहाँ तक मुझे ज्ञान है, नित्य-कर्म का कभी लोप नहीं किया।

पूज्य सुकुल जी के विषय में यदि सभी प्रसङ्गों का उल्लेख किया जाय, तो बहुत बड़ा पोथा तैयार हो जाएगा। इस कारण इन परम भक्ति-सम्पन्न साधक को बार-बार प्रणिपात करते हुए लेखनी को विश्राम देता हूँ और साक्षात् महेश्वर-स्वरूप कौलिकेन्द्र के इस लेख रूपी स्तुति-स्वरूप पूजन से अपने को कृतार्थ समझता हूँ, जैसा कि तन्त्र वर्णन करते हैं—

अश्वमेध-सहस्राणि वाजपेय-शतानि च।
कृत्वा यत्-फलमाप्नोति तत्-फलं कौलिकार्चनात्॥
मेदिनी यस्तु पूर्णां च ब्रह्मणे वेद-पारगे।
दत्वा यत्-फलमाप्नोति तत्-फलं कौलिकार्चने॥

□

"....जब किसी देवता का नाम-मात्र जप करने से भक्त लोग अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, तब मन्त्र-श्लोकों के भाषानुवाद के श्रद्धा-पूर्वक जप करने से भी उसका फल साधक को अवश्य प्राप्त होगा....।"

"....वास्तव में मूल वस्तु है श्रद्धा। भाषा गौण है। किसी भी भाषा के द्वारा साधक, यदि उसमें सच्ची श्रद्धा हो, तो अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकता है....।"

—'दुर्गा सप्तशती', शब्दशः पद्यानुवाद : भूमिका, पृ० २-३

स्नेही सुहृद् पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल

□ पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र

मेरे स्नेही सुहृद् स्वर्गीय **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** एक असाधारण प्रकार के कर्तव्य-निष्ठ व्यक्ति थे। अपने युग की हिन्दी की अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी की मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का सुदीर्घ-काल तक योग्यता-पूर्वक सम्पादन करके तथा कई उपयोगी पुस्तकें लिखकर उन्होंने मातृ-भाषा हिन्दी के साहित्य की अभिवृद्धि में पर्याप्त योग-दान किया था। सम्पादक के प्रतिष्ठा-पूर्ण पद पर कार्य करते हुए भी श्री शुक्ल जी ने कभी मान-प्रतिष्ठा की कामना नहीं की थी।

स्वर्गीय शुक्ल जी से मेरा सम्पर्क सन् १९२६ ई० के जून मास के अन्तिम सप्ताह में स्थापित हुआ था और यह सम्पर्क सुदीर्घकाल तक रहा। इण्डियन प्रेस के साहित्य-विभाग में एक अनुवादक के रूप में जो मुझे स्थान प्राप्त हुआ था, वह भी एक प्रकार से श्री शुक्ल जी की ही कृपा का फल था।

नवम्बर, सन् १९२५ ई० में मैंने अँगरेजी भाषा के एक लेख का अनुवाद किया था। वह लेख 'यंग ईस्ट' नामक किसी पत्र से 'लीडर' में उद्धृत हुआ था और उसका शीर्षक था—What Buddhists Are doing In Japan. उससे पहले बंगला से अनुवादित मेरे कई लेख कुछ पत्रों में प्रकाशित हुए थे। अँगरेजी का वह पहला लेख था, जिसका मैंने अनुवाद किया था और उसे श्री शुक्ल जी ने कृपा-पूर्वक जनवरी, सन् १९२६ ई० के 'सरस्वती' के अङ्क में प्रकाशित कर दिया था। उन दिनों 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य में श्री शुक्ल जी की सहायता के लिए बाबू आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव नामक एक सज्जन नियुक्त किए गए थे। उन्होंने उसी वर्ष जून के अन्तिम सप्ताह में प्रेस के मालिक बाबू हरिकेशव घोष (पटल बाबू) से मेरा परिचय कराया था और मेरा वही लेख दिखाकर कहा था कि ये 'सरस्वती' के लेखक हैं। उसी दिन प्रेस में मेरी नियुक्ति हो गई थी।

उन दिनों साहित्य-विभाग में पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' जी भी कार्य करते थे, जो 'बाल-सखा' के सम्पादक थे। विश्व-विद्यालय के एम० ए० तथा एल-एल० बी० कक्षा के दो-तीन छात्र भी कार्य करते थे, जो अल्प समय के लिए आया करते थे।

श्रीवास्तव जी नाम-मात्र के लिए 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक थे। वे परिश्रम-शील नहीं थे। केवल एक कविता लिखकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर देते थे, समस्त कार्य शुक्ल जी को अकेले ही करना पड़ता था। श्रीवास्तव जी जमकर कार्यालय में बैठते भी नहीं थे। इससे अल्पकाल के पश्चात् ही उन्हें प्रेस से पृथक् हो जाना पड़ा था, यद्यपि शुक्ल जी ने कभी उनकी शिकायत नहीं की थी।

साहित्य-विभाग के हम सभी कर्मचारी एक स्थान पर ही बैठा करते थे। शुक्ल जी की मेज से मिली हुई एक दूसरी मेज के पास, उनके प्रायः सामने ही मैं भी बैठा करता था और उनकी आज्ञा से यदा-कदा पुस्तक-परिचय लिख दिया करता था। जनवरी, १९२७ के अङ्क के लिए उन्होंने बङ्गाल के उस युग के सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सर प्रफुल्लचन्द्र राय के एक लेख का अनुवाद मुझसे कराया था। वह लेख 'सरस्वती' के जिस अङ्क में प्रकाशित हुआ, मैंने उसे प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की थी। शुक्ल जी ने उत्तर दिया—आप कोई बाहरी लेखक नहीं हैं। प्रेस के एक कर्मचारी हैं, और प्रेस में बैठ कर आपने लिखा भी है। इससे आप 'सरस्वती' का अङ्क मैनेजर साहब से माँगिए, मैं आपको नहीं दे सकता।

शुक्ल जी की इस बात से मैं क्रुद्ध हो उठा था, और यह कहा था—'अच्छा, अब मैं मैनेजर साहब के कहने से ही आपके लिए लिखा करूँगा।' तीन-चार पुस्तकों का परिचय लिख रक्खा था, उसे फाड़कर उन्हीं के सामने फेंक दिया था। शुक्ल जी कुछ बोले नहीं, मुस्करा कर रह गए।

'सरस्वती' के अङ्क देने के विषय में श्री शुक्ल जी अत्यन्त ही अनुदार थे। उन दिनों पद्मधर अवस्थी नामक एक कवि थे। कहाँ के रहनेवाले थे, मुझे स्मरण नहीं है। एक दिन वे 'सरस्वती'-सम्पादक के कार्यालय में आए थे और यह इच्छा प्रकट की थी कि 'सरस्वती' उनके पास भेजी जाया करे। शुक्ल जी ने उन्हें टाल दिया था। इससे अप्रसन्न होकर उन्होंने किसी पत्र में एक निन्दात्मक कविता छपाई थी। उस कविता के केवल दो चरणों के अन्तिम अंश मुझे स्मरण हैं—

पहने रहें कुरती, फांक जायें सुरती।

श्री शुक्ल जी ने उस निन्दात्मक कविता को पढ़ा अवश्य था, किन्तु उन्होंने उसके विषय में अपनी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की थी। किसी व्यक्ति विशेष की अप्रसन्नता या प्रसन्नता के विचार से 'सरस्वती' में लेख छापने या 'सरस्वती' के अङ्क देने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी।

मुझे जहाँ तक स्मरण है, श्री शुक्ल जी के ज्येष्ठ भ्राता का नाम पण्डित शिवाधार शुक्ल था। वे अपने वास-स्थान पुराना बक्सर, जिला उन्नाव में रहा करते थे। उनके पास वे 'सरस्वती' प्रति मास भेजा करते थे। किन्तु 'सरस्वती'-विभाग के लिपिक श्री पुरुषोत्तम पौराणिक को बुलाकर प्रति मास मूल्य के रूप में आठ आने दे दिया करते थे और नियमित रूप से रसीद प्राप्त कर लेते थे। बाद में अप्रैल, १९२७ ई० में श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी ने जब पुनः सम्पादन का कार्य-भार ग्रहण किया था, तब उन्होंने आग्रहपूर्वक शुक्ल जी को मूल्य देने से रोक दिया और जिन स्थायी लेखकों तथा कुछ सम्मानित व्यक्तियों के पास 'सरस्वती' नियमित रूप से बिना मूल्य भेजी जाती थी,—उन्हीं की नामावली में उन्होंने इनके भाई साहब का नाम भी लिख दिया था।

आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने सन् १९२० ई० में जब 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य से अवकाश ग्रहण किया था, तब श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी उनके स्थान पर सम्पादक नियुक्त किए गए थे। शुक्ल जी सहायक सम्पादक के रूप में कार्य करते थे। साथ ही 'बाल-सखा' के सम्पादन का कार्य इन्हें दिया गया था। बाद को सन् १९२५ ई० के अन्त में जब बख्शी जी ने अवकाश ग्रहण किया, तब ये प्रधान सम्पादक हो गये और 'बाल-सखा' के सम्पादन का कार्य पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' को सौंपा गया। अप्रैल, १९२७ ई० में श्री बख्शी जी पुनः अपने पद पर वापस आ गए और शुक्ल जी के सहयोग से 'सरस्वती' का सम्पादन करने लगे।

एक दिन श्री शुक्ल जी और बख्शी जी में कुछ लेखकों के सम्बन्ध में वार्तालाप हो रहा था। मैं भी उपस्थित था। उस प्रसङ्ग में शुक्ल जी ने उस घटना की भी चर्चा की थी, जब मैं 'सरस्वती' के अङ्क के लिए उनसे अप्रसन्न हो गया था। सुनकर बख्शी जी मुस्कराने लगे थे। बाद को उन्होंने मुझसे कहा था—पण्डित जी, अब आप लिखा कीजिये। मैं आपके लेख छापा करूँगा और 'सरस्वती' भी आपको मिला करेगी।

श्री बख्शी जी को बँगला-भाषा की 'प्रवासी' नामक पत्रिका बहुत प्रिय थी। उसके कुछ पुराने अङ्कों में विश्व-विख्यात साहित्यकार कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के ज्येष्ठ भ्राता स्वर्गीय द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने फ्रांसीसी के अतिरिक्त दो-एक अन्य विदेशी भाषाओं की लघु कथाओं के अनुवाद प्रकाशित करवाए थे। उनमें से कुछ का अनुवाद मुझसे करवा कर बख्शी जी ने 'सरस्वती' के कई अङ्कों में प्रकाशित किया था, किन्तु अनुवादक के रूप में प्रभुदत्त नामक एक कल्पित व्यक्ति का नाम छापा था।

श्री बख्शी जी को दूसरी भाषाओं की रचनाओं को रूपान्तरित तथा परिवर्तित करके उन्हें नवीन और प्रायः मौलिक-सा रूप देने का अच्छा कौशल प्राप्त था। 'प्रवासी' के किसी अङ्क में किसी महिला का लिखा हुआ एक लेख छपा था—'पुरी की डायरी'। मुझसे उसका अनुवाद करवाकर आवश्यक परिवर्तन के बाद उन्होंने उसी वर्ष के अगस्त या सितम्बर के अङ्क में उसे मौलिक रूप में प्रकाशित किया था। उसका शीर्षक था—'एक डायरी के कुछ पृष्ठ' और लेखक के रूप में किसी कल्पित व्यक्ति का नाम छपा था। बख्शी जी ने उसे बहुत कौतूहल-वर्द्धक बना दिया था। वह अङ्क छपने के बाद एक दिन प्रेस के स्वामी पटल बाबू उस डायरी के विषय में जानकारी प्राप्त करने के विचार से हमारे कार्यालय में आए थे। और रहस्य मालूम होने पर मुस्कराकर लौट गए थे।

नवम्बर के अन्तिम सप्ताह में बख्शी जी ने मुझसे प्रस्ताव किया कि मैं 'सरस्वती' में उनके साथ सहायक सम्पादक के रूप में कार्य करूँ। प्रेस में मैं चालीस रुपए मासिक वेतन पाता था। बख्शी जी ने मुझे आश्वासन दिया कि वे मेरा वेतन पचास रुपया मासिक करवा देंगे, साथ ही 'सरस्वती' पर सहायक सम्पादक के रूप में

मेरा नाम छपा करेगा। मेरे लिए यह प्रसन्नता का ही विषय था, अतः इसे अस्वीकार करने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक के पद पर नियुक्त किए जाने से पहले दिसम्बर, १९२५ तक श्री शुक्ल जी पचहत्तर रुपए मासिक वेतन पाते थे—पचास रुपए 'सरस्वती' के खाते से, पचीस रुपए 'बालसखा' के खाते से। श्री बख्शी जी का वेतन एक सौ पचास रुपए मासिक था। अप्रैल, १९२७ ई० में उन्होंने जब पुनः 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य करना आरम्भ किया, तब स्वभावतः उनका मासिक वेतन वही रहा। शुक्ल जी के वेतन में कटौती करने का कोई औचित्य नहीं था। इधर श्री पटल बाबू 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य के लिए दो सौ रुपए मासिक से अधिक व्यय करने को तैयार नहीं थे। इसलिए उन्होंने बख्शी जी से प्रस्ताव किया था कि वे 'सरस्वती' के कार्य के लिए शुक्ल जी का केवल आधा समय लें, उनके आधे समय का उपयोग वे किसी अन्य प्रकार के साहित्यिक कार्य के लिए करेंगे, जिससे उनका हिसाब बराबर हो सके। पटल बाबू ने उसी प्रकार की व्यवस्था भी कर दी थी।

उपर्युक्त प्रकार के प्रबन्ध के कारण बख्शी जी को कुछ असुविधा का अनुभव हुआ। अतः नवम्बर के अन्त में मुझसे वार्तालाप करने से पहले या बाद को उन्होंने पटल बाबू से यह प्रस्ताव किया था, कि वे शुक्ल जी को या तो एक-मात्र 'सरस्वती' के कार्य के लिए छोड़ दें, उनसे अन्य प्रकार का कार्य न लें, या उन्हें 'सरस्वती' के कार्य से मुक्त करके केवल अपनी रुचि का साहित्यिक कार्य लें। 'सरस्वती' के लिए केवल पचास रुपए मासिक वेतन पानेवाला ही ऐसा सहायक दें, जो पूर्ण रूप से 'सरस्वती' का ही कार्य करे। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि यदि मैं 'सरस्वती' का सहायक सम्पादक बना दिया जाऊँ, तो काम चल जाएगा। पटल बाबू ने इस सुझाव को मान लिया। इसके परिणाम-स्वरूप पहली दिसम्बर, १९२७ ई० को मैं 'सरस्वती' का सहायक सम्पादक बनाया गया, शुक्ल जी को पुस्तक लिखने तथा प्रेस में छपने के लिए पहले से रक्खी हुई पुस्तकों के संशोधन और सम्पादन का कार्य सौंपा गया। किन्तु दैवयोग से यह परिवर्तन न तो मेरे लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ और न बख्शी जी के लिए।

शुक्ल जी गम्भीर स्वभाव के व्यक्ति थे। उनमें, जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, पद-लिप्सा या अधिकार-लिप्सा का अभाव था। अतः उन्होंने किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की, किन्तु प्रेस में पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', ठाकुर श्रीनाथ सिंह तथा बाबू शम्भूदयाल सक्सेना 'साहित्यरत्न' आदि कई ऐसे व्यक्ति थे, जो मेरी अपेक्षा अधिक योग्य थे। उन सब को मेरा सहायक-सम्पादक बनाया जाना यदि असन्तोष-प्रद सिद्ध हुआ हो, तो कोई वैसी अस्वाभाविक बात नहीं थी।

ठाकुर श्रीनाथ सिंह, जहाँ तक मुझे स्मरण है, १९२७ ई० के ही किसी महीने में प्रेस में आए थे और 'बाल-सखा' के सम्पादक बनाए गए थे। उससे पहले वे प्रयाग से प्रकाशित होनेवाली 'गृह-लक्ष्मी' तथा 'शिशु' नामक मासिक पत्रिका में कार्य करते

थे। एक अन्य नवीन व्यक्ति आए थे पण्डित हरदत्त पन्त, जो सुप्रसिद्ध कवि पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त के गोत्रज थे। वे प्रकाशन-विभाग के अधीक्षक के रूप में नियुक्त किए गए थे। उनके कार्य-कलाप से ऐसा प्रतीत होता था कि वे सम्पादकीय विभाग पर भी अपना आधिपत्य रखना चाहते हैं। सम्पादक के नाम जितने भी पत्र आया करते थे, उनको वे पहले पढ़ लेते थे और हर एक पत्र पर अपनी टिप्पणी लिखते थे। पन्त जी का यह कार्य बख्शी जी को अप्रीतिकर होता था, किन्तु कभी खुलकर उन्होंने इसका प्रतिवाद नहीं किया था, केवल कुड़मुड़ाकर रह जाते थे।

जनवरी, १९२८ ई० में 'सरस्वती' का एक अतिरिक्त अङ्क निकालने का आयोजन था। वह वार्षिकाङ्क के रूप में प्रकाशित हुआ था, और एक प्रकार से देश-विदेश के कहनी-लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संग्रह था। जनवरी का नियमित अङ्क भी प्रकाशित किया गया था। संयोग से दिसम्बर में ही बख्शी जी रुग्ण हो गए थे। वे प्रेस में आने के योग्य नहीं रह गए थे। इससे आवश्यक परामर्श के लिए प्रतिदिन मुझे उनके वास-स्थान पर जाना पड़ता था। उसी महीने में 'सरस्वती' के दो अङ्क छपने थे, अतः श्री शुक्ल जी का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक हो गया।

जनवरी मास में बख्शी जी आरोग्य हो गए और प्रेस आने लगे। इससे श्री शुक्ल जी 'सरस्वती' के कार्य से मुक्त हो गए और वे श्री पटल बाबू के निर्देश के अनुसार नियमित रूप से पुस्तकें लिखने लगे, किन्तु अगस्त मास में पुनः 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य के लिए उनका सहयोग प्राप्त करना आवश्यक हो गया। जुलाई में बख्शी जी के एक पुत्र की मृत्यु हो गई थी। उस दुःखद घटना का समाचार तार द्वारा प्राप्त होते ही पाँच मास का अवकाश लेकर वे अपने घर खैरागढ़ (रायपुर) चले गए।

बख्शी जी ने जो दीर्घकालीन अवकाश ग्रहण किया था, उसका विशेष कारण था पन्त जी के माध्यम से उनके विरुद्ध प्रेस के भीतर प्रचारित होनेवाला मृदु विद्रोह। 'सरस्वती' की सम्पादकीय नीति के विरुद्ध बीच-बीच में कुछ ऐसी बातें आ जाती थीं, जिनसे उनका मन खिन्न हो जाता था। सम्पादक के नाम आए हुए पत्रों पर पन्त जी जो अनावश्यक टिप्पणियाँ लिख देते थे, उनके कारण वे अपने आपको प्रायः अपमानित-सा अनुभव करते थे।

ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने एक बार मैनेजर साहब को एक प्रार्थना-पत्र देकर 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य में योगदान करने की इच्छा प्रकट की थी। अपने प्रार्थना-पत्र में उन्होंने लिखा था—'बाल-सखा' के लिए आवश्यक लेख आदि तैयार करने के प्रसङ्ग में मेरा बहुत-से ऐसे विषयों पर ध्यान जाता है, जिनका उपयोग 'सरस्वती' के लिए भी उत्तमतापूर्वक किया जा सकता है। इसलिए मुझे प्रतिदिन दो घण्टे 'सरस्वती' के सम्पादकीय विभाग में भी कार्य करने का अवसर दिया जाए, तो 'बाल-सखा' के सम्पादन का कार्य सुचारु रूप से चलता रहेगा, साथ ही 'सरस्वती' के सम्पादन में सुधार लाने में मैं सहायक सिद्ध होऊँगा।

ठाकुर साहब के इस प्रार्थना-पत्र पर पन्त जी ने एक टिप्पणी लिखी थी—

ठाकुर श्रीनाथ सिंह को वर्तमान युग की राजनीति का अच्छा ज्ञान है। इनका सहयोग 'सरस्वती' के इस विषय के अंश को उन्नत बनाने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगा।

मैनेजर साहब ने उस पत्र के साथ ठाकुर साहब को बख्शी जी के पास भेज दिया था। बख्शी जी ने केवल एक लेख लिखा कर उन्हें टाल दिया था।

मैं बख्शी जी के साथ कार्य करता रहा, किन्तु न तो मेरे वेतन में वृद्धि हुई और न 'सरस्वती' में मेरा नाम ही आया, शुक्ल जी का नाम बराबर छपता रहा। बख्शी जी मुझसे जो कुछ लिखवाते थे, कल्पित नाम से छापते थे। प्रेस के प्रकाशन-सम्बन्धी अनेक प्रकार के फुटकर कार्य जो पहले मैं करता था, वे भी मेरे पास आते ही रहे। एक बार जब बख्शी जी की रुग्णता के कारण 'सरस्वती' के कार्य में मैं बहुत अधिक व्यस्त था, दस बजे कार्यालय में आने पर मुझे मेज पर रक्खा हुआ एक पुस्तक का प्रूफ मिला। प्रथम पृष्ठ के कोने में श्रीपटल बाबू के सुन्दर और महीन अक्षरों में लिखा था—Misraji, Please see it for me. H. H. मुस्कराते-मुस्कराते मैंने सोचा, समस्त दिन जो कुछ करता हूँ, क्या दूसरे के लिए करता हूँ! किन्तु उस प्रूफ को तुरन्त पढ़कर भेज दिया, उसके बाद दूसरे काम में हाथ लगाया।

अगस्त मास की 'सरस्वती' छप रही थी। सितम्बर के अङ्क के लिए भी लेखों का चयन करके तथा उसके तथा आगामी अङ्कों के प्रकाशन के विषय में आवश्यक परामर्श मुझे देकर बख्शी जी घर चले गए थे। तो भी उनके जाने के बाद ही शुक्ल जी ने फिर 'सरस्वती' का कार्य देखना आरम्भ किया।

अगस्त के दूसरे सप्ताह में प्रेस के स्वामी बाबू चिन्तामणि का स्वर्ग-वास हो गया। तब निश्चित हुआ कि 'सरस्वती' का अक्टूबर का अङ्क दिवङ्गत बाबू साहब की स्मृति में 'श्राद्धाङ्क' के रूप में निकाला जाय और उसमें विभिन्न विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा लिखे गए, उनके सम्बन्ध में संस्मरण आदि छापे जायँ।

श्री शुक्ल जी तत्परता-पूर्वक उस अङ्क के सम्पादन के लिए सामग्री सञ्चित करने तथा प्राप्त सामग्री का सदुपयोग करने में संलग्न हो गए। बहुत से लेख बँगला और अँगरेजी में आए थे। उनका अनुवाद करने का काम मुझे सौंपा गया। शुक्ल जी ने स्वर्गीय चिन्तामणि बाबू के विषय में स्वयं तीन-चार लेख लिखे थे। किन्तु बाहर से इतने अधिक लेख आए थे कि 'सरस्वती' के तीन सौ पृष्ठ भर गए, उनके लेखों को स्थान नहीं मिल सका। तब केवल एक लेख रखकर अपने अन्य लेख उन्होंने अन्य पत्रों में छपने के लिए भेज दिए थे। अपना एक लेख जो बहुत उत्तम था, वे 'सरस्वती' के नवम्बर के अङ्क में छापना चाहते थे। वह कम्पोज भी हो चुका था।

'श्राद्धाङ्क' के सम्पादन का कार्य समाप्त होने से पहले ही शुक्ल जी के ज्येष्ठ पुत्र की मृत्यु ही गई थी। किन्तु वह दुःखद समाचार प्राप्त करके भी वे तनिक भी विचलित नहीं हुए, अत्यन्त ही धैर्य के साथ अपने कार्य में संलग्न रहे, एक साथ कार्य करते रहने पर भी उनकी इस शोक-मय स्थिति का मुझे आभास तक नहीं हो पाया

था। बाद को अङ्क प्रकाशित हो जाने के बाद जब वे प्रेस से अवकाश लेकर घर गए, तब प्रूफ रीडिंग विभाग के प्रधान पण्डित सुन्दरलाल द्विवेदी से वह दुःखद समाचार मुझे ज्ञात हुआ था।

सितम्बर मास में बख्शी जी घर से लौट आए थे। 'श्राद्धाङ्क' की योजना उन्हें पसन्द नहीं आई। उनका मत था कि बाबू चिन्तामणि के परिचय के रूप में अधिक-से-अधिक तीन-चार लेख प्रकाशित कर देना पर्याप्त होता। इस चाटुकारिता से 'सरस्वती' के पाठकों का कोई मतलब नहीं, किन्तु वे मौन रहे, उस अङ्क के सम्पादन में योग-दान नहीं दिया। नवम्बर और दिसम्बर के अङ्कों के लिए लेख आदि का चयन करके वे पुनः घर लौट गए।

नवम्बर का अङ्क बख्शी जी के निर्देश के अनुसार मैंने ही सम्पादित किया। उसमें श्री शुक्ल जी के लेख को स्थान नहीं दे सका। मेरे मन में आया—'तीन सौ पृष्ठों में चिन्तामणि बाबू का गुण-गान किया जा चुका है, 'हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता' की कहावत के अनुसार दूसरे अङ्क में उनका गुण-गान करना स्वभावतः 'सरस्वती' के पाठकों के लिए रुचिकर न सिद्ध होगा।' किन्तु लौटकर आने पर शुक्ल जी को मेरा यह निर्णय अत्यन्त ही असन्तोष-प्रद सिद्ध हुआ। उन्होंने प्रेस के मालिक धुनी बाबू से, जो पटल बाबू के छोटे भाई थे और डिपुटी मैनेजर के रूप में कार्य करते थे, मेरी शिकायत की। उस समय मुझे एक बहाना मिला कि शुक्ल जी ने कम्पोजिंग विभाग के फोरमैन से कहा था कि उस लेख का प्रूफ एक बार वे फिर पढ़ेंगे। इससे धुनी बाबू शान्त हो गये थे।

बख्शी जी फिर लौटकर नहीं आए। उन्होंने रायपुर के आस-पास के किसी अँगरेजी विद्यालय में अध्यापन-कार्य स्वीकार कर लिया था। इससे शुक्ल जी ने पुनः नियमित रूप से 'सरस्वती' का सम्पादन करना आरम्भ किया। मैं उनके सहायक के रूप में कार्य करता रहा। दिसम्बर मास में प्रेस के स्वामी श्री पटल बाबू की अध्यक्षता में 'सरस्वती' के सम्पादन के विषय में विचार-विनिमय के निमित्त एक बैठक हुई, जिसमें हम दो व्यक्तियों के अतिरिक्त प्रकाशन-विभाग के अध्यक्ष श्री पन्त जी तथा ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने भी भाग लिया। उस बैठक में पन्त जी की आलोचनात्मक बातों का श्री शुक्ल जी ने बहुत ही उपयुक्त और तर्क-सङ्गत उतर दिया था। अन्त में 'सरस्वती' में कुछ नए स्तम्भ जोड़े गए और हम दोनों व्यक्ति पूर्व-वत् अपना कार्य करते रहे।

जनवरी, १९२६ ई० का 'सरस्वती' का अङ्क नवीन परिवर्तित रूप में प्रका-हुआ। नवीन स्तम्भ थे—मातृमण्डल, विज्ञान की प्रगति और सामयिक साहित्य। 'मातृ-मण्डल' के लिए मैं अँगरेजी, बँगला तथा हिन्दी के पत्रों में प्रकाशित महिलाओं की प्रगति-सम्बन्धी विचारों का सारांश तथा कुछ विशेष प्रगतिशील महिलाओं का परिचय संग्रह किया करता था। इस स्तम्भ में छापने के लिए चित्र मैं लीडर प्रेस से प्राप्त किया करता था। लेखक के रूप में गङ्गाप्रसाद वर्मा नामक एक कल्पित व्यक्ति

का नाम छपता था। 'सामयिक साहित्य' के लिए बँगला के मासिक पत्रों से दो-तीन लेखों के सारांश के साथ उनके मुख्य अंशों का अनुवाद दे दिया करता था।

इसके अतिरिक्त बँगला के एक उपन्यास के अनुवाद का प्रकाशन आरम्भ किया गया था। बँगला के मासिक पत्रों में से छाँट कर कोई एक कहानी भी रूपान्तरित करके देना मेरे लिए आवश्यक था। उपन्यास के अनुवादक के रूप में मेरा नाम प्रकाशित होता था, कहानी आदि पर कल्पित नाम प्रकाशित हुआ करते थे।

जनवरी मास से ठाकुर श्रीनाथ सिंह हमारे कमरे में बैठने लगे और 'सरस्वती' के लिए प्रायः प्रति मास कुछ-न-कुछ लिखने लगे। उससे पहले वे पन्त जी के कमरे में बैठते थे। 'सामयिक साहित्य' के लिए वे किसी अँगरेजी-भाषा के या हिन्दी भाषा के किसी लेख का सारांश उसके किसी महत्त्वपूर्ण अंश के उद्धरण के साथ सङ्कलित कर दिया करते थे और उस पर अपना नाम अवश्य लिख दिया करते थे। मेरे सम्बन्ध में यथावसर वे यह प्रचारित करने का प्रयास किया करते थे कि मैं प्रतिक्रियावादी हूँ और प्रगतिशील पत्र या पत्रिका में कार्य करने के उपयुक्त नहीं हूँ। 'सामयिक साहित्य' नामक स्तम्भ में बँगला के जो लेख मैं उद्धृत किया करता था, यदा-कदा उनमें भी ठाकुर साहब को प्रतिक्रियावाद का आभास मिला करता था और वे यथा-साध्य उसके विषय में प्रचार भी किया करते थे।

ठाकुर साहब उन दिनों कांग्रेस के कामों में प्रायः रुचि लिया करते थे। कांग्रेस के विशिष्ट कार्यकर्ताओं—विशेषतः नेहरू-परिवार के लोगों से उनका सम्पर्क था। कांग्रेस के अधिवेशनों में भी सम्मिलित होते थे। इसके विपरीत मैं ब्राह्मण-मनोवृत्ति का होने के कारण कांग्रेस के द्वारा प्रचारित किए जानेवाले बहुत-से विचारों का विरोधी था, यदा-कदा 'भारत' में अपनी विचार-धारा के अनुकूल लेख भी लिखा करता था। किन्तु 'सरस्वती' से मेरी इस विचार-धारा से कोई मतलब नहीं था। मुझे अधिकतर अनुवाद ही करना पड़ता था। तो भी ठाकुर साहब को मेरे कार्यों में प्राचीनतावाद का आभास मिल ही जाता था और वे उसका प्रचार प्रेस के कर्मचारियों में अवश्य किया करते थे।

एक दिन मेरी उपस्थिति में ही ठाकुर साहब ने 'सरस्वती' के विषय में हुए अपने और पटल बाबू के वार्तालाप की चर्चा शुक्ल जी से की थी। पटल बाबू ने उनसे पूछा था कि 'सरस्वती' की उन्नति क्यों नहीं हो रही है? इस पर ठाकुर साहब ने कहा कि शुक्ल जी अकेले कितना काम करें! उनके सहायक मिश्र जी एक प्रतिक्रियावादी व्यक्ति हैं। उनसे यदि कोई प्रगतिशीलता की बात लिखने को कहा जाता है, तो कुड़मुड़ाते हैं। उनकी रुचि के लेख छापने से 'सरस्वती' के ग्राहक टूटने की आशङ्का है। उनकी यह बात सुनकर शुक्ल जी ने कहा—'आपने मिश्र जी की शिकायत कर दी!' इस पर ठाकुर साहब ने कहा—'जो सही बात है, वह मैंने बताई। हो सकता है, पटल बाबू मिश्र जी को उनकी रुचि के अनुकूल कोई और काम दें।'

मुझे जहाँ तक स्मरण है, जनवरी १९३० का अङ्क 'स्वराज्याङ्क' के नाम से

प्रकाशित हुआ था। उस अङ्क में देशभक्ति-सम्बन्धी, विशेषत: देशोत्थान से सम्बन्धित विषयों के लेख प्रकाशित किए गए थे। मैंने तीन लेख लिखे थे—(१) 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित नगेन्द्रनाथ गुप्त की तथा (२) किसी बँगला-पत्र में प्रकाशित गोर्की नामक विदेशी कहानी-लेखक की कहानी का अनुवाद और (३) महात्मा गोखले के द्वारा स्थापित 'सर्वेण्ट आफ इण्डिया सोसाइटी' का परिचय। इन तीनों ही को कल्पित नामों से छपना था, किन्तु तीसरे लेख पर ठाकुर साहब ने आग्रहपूर्वक कल्पित नाम काटकर मेरा नाम लिख दिया। उसे देखकर कुछ असन्तोष का-सा भाव व्यक्त करते हुए शुक्ल जी ने कहा था—'इससे आपका गौरव तो बढ़ेगा, किन्तु लेख का नहीं।'

'सरस्वती' में कल्पित नाम से लिखने की एक परम्परा-सी थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा स्वयं शुक्ल जी ने आवश्यकतानुसार अनेक लेख कल्पित नामों से लिखे थे। आचार्य द्विवेदी जी के दो या तीन लेख प्रति मास छपते थे और वे प्राय: कल्पित नामों से ही छपते थे।

सम्पादकीय विभाग के सभी फुटकर काम—चित्रों के ब्लाक बनवाना, लेखकों को पुरस्कार भिजवाना, अस्वीकृत लेखों को वापस भेजना तथा प्रेस की पुस्तकों का विज्ञापन तैयार करके 'सरस्वती' में छपवाना आदि कार्य मुझे करने पड़ते थे। ये सभी काम झंझट के थे और किसी-न-किसी काम में यदा-कदा शिकायत हो ही जाती थी। जब कभी कोई ऐसी बात आती, तो शुक्ल जी कह देते—'ई हम का जानी। ई तौ मिसिर जी करत हैं।'

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक उन दिनों जर्मनी में थे और वहाँ से वे 'सरस्वती' के लिए प्राय: लेख भेजा करते थे। प्रत्येक लेख के लिए दो पौण्ड उनको पुरस्कार मिलता था। शुक्ल जी ने कहा—'ये झगड़ालू आदमी हैं। इनसे पत्र-व्यवहार आप ही किया कीजिए।' एक बार पत्र लिखकर श्री स्वामी जी ने राजनीति-विज्ञान की कोई प्रामाणिक पुस्तक प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की थी। श्री पटल बाबू की आज्ञा से आवश्यक मूल्य प्रेस के खजाने से लेकर अँगरेजी भाषा की एक पुस्तक मैंने मँगवा ली थी और 'सरस्वती'-विभाग के लिपिक से रजिस्ट्री से उसे भेजने को कहा। उन दिनों पण्डित हरदत्त पन्त ने अपने ही एक गोत्रज को लिपिक के पद पर नियुक्त करवा दिया था। उससे पहले ही स्वामी जी को लेख का पुरस्कार भी भेजा गया था। उन पन्त जी ने पुस्तक भेजना स्वीकार नहीं किया और मेरे ऊपर यह आरोप लगाया कि 'मैं प्रेस का धन लुटा रहा हूँ।' उन्होंने बड़े पन्त जी के पास जाकर इस आशय की शिकायत भी की। अन्त में बड़े वाद-विवाद के बाद मैं वह पुस्तक भिजवा पाया। पन्त जी की मेरे ऊपर अकृपा रही, वे यदा-कदा मेरी शिकायत कर ही देते थे। मैंने भी कभी अपने आपको उनका अधीनस्थ कर्मचारी नहीं समझा।

अगस्त, सन् १९३२ तक मैंने 'सरस्वती' के सहायक के रूप में कार्य किया, किन्तु मेरा यह पद केवल प्रेस के रजिस्टर में लिखा रहा, कभी प्रकाश में नहीं आया। श्री शुक्ल जी ने कृपापूर्वक मेरे इस कार्य का उल्लेख अपनी पुस्तक **'सम्पादक के पचीस**

वर्ष' तथा 'सरस्वती' के हीरक जयन्ती अङ्क में, जो १९६१ ई० में प्रकाशित हुआ था, सम्मानपूर्वक किया है, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

श्री शुक्ल जी ने अपनी पुस्तक में मेरे विषय में दो बातें लिखी हैं—(१) मेरे धार्मिक विचारों के कारण कभी-कभी सम्पादकीय कार्य में बाधा पड़ती थी और (२) आवश्यक योग्यता होते हुए भी मैं इस क्षेत्र में उन्नति नहीं कर पाया, इसका कारण मेरी धार्मिक कट्टरता है।

जैसा कि मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ, 'सरस्वती' में मेरे लिए जो कार्य निर्धारित किये गए थे, उनसे मेरे धार्मिक विचारों का कोई सम्बन्ध नहीं था। जहाँ तक मेरी उन्नति का प्रश्न है, विश्व के नियन्ता के द्वारा निर्धारित की गई सीमा-रेखा को मैं कैसे पार कर सकता था! इसके अतिरिक्त प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करने के लिए मनुष्य को प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है किन्तु 'सरस्वती' के सम्पादकीय विभाग में आकर मुझे केवल उपहास, निन्दा और विरोध का पात्र बनना पड़ा। जैसा कि बख्शी जी ने प्रलोभन दिया था, न तो मेरे वेतन में एक पाई की वृद्धि हुई और न मुझे किसी प्रकार का यश मिला, किन्तु वह भी विधि का विधान ही था। मेरा हटना 'सरस्वती' के लिए शुभ-सूचक अवश्य हुआ। मेरे प्रेस से हटते ही ठाकुर श्रीनाथ सिंह उसके संयुक्त सम्पादक बनाए गए। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ कार्य किया। उनके प्रयास से कई उच्च कोटि के नेताओं के लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए।

अल्प काल के पश्चात् ही प्रेस को पुनः मेरे सहयोग की आवश्यकता का अनुहुआ। इससे जनवरी, १९३३ में फिर बुलाया गया। 'सरस्वती' में ठाकुर श्रीनाथ सिंह आ गए थे, अतः मेरी स्थिति फिर १९२७ के नवम्बर मास की-सी हो गई। 'सरस्वती' के लिए बँगला के उपन्यासों का अनुवाद मैं बराबर करता रहा, मेरे द्वारा अनुवादित कई उपन्यास कई वर्ष तक क्रमशः छपते रहे। जहाँ तक शुक्ल जी का सम्बन्ध है, सद्भावना तथा सौहार्द मुझे बराबर प्राप्त रहा। निस्सन्देह वे चाहते, तो मेरे वेतन में वृद्धि करने के विषय में तथा 'सरस्वती' पर मेरा नाम छापने के विषय में मैनेजर साहब से कह सकते थे और विभाग के प्रधान होने के कारण उनका दायित्व भी था किन्तु वह उनके स्वभाव के विपरीत था। वैसे एक आस्तिक ब्राह्मण होने के नाते वे मुझे सम्मान की ही दृष्टि से देखते थे और मेरा आदर करते थे।

मैंने जिस वर्ष इण्डियन प्रेस में कार्य करना आरम्भ किया था, तब से बराबर शुक्ल जी को श्रावणी ऋषि-पूजन के प्रसाद-रूप में यज्ञोपवीत दिया करता था। श्रावण की पूर्णिमा में संस्कृत के विद्वान् तथा कर्मकाण्डी ब्राह्मण गङ्गा-तट पर श्रावणी-कर्म करते हैं, बाद को ऋषि-पूजन करते हैं। मेरा भी प्रतिवर्ष का यह नियम था। गङ्गा-तट से लौट कर कार्यालय आता और शुक्ल जी को प्रसाद के रूप में यज्ञोपवीत दिया करता था। मेरा वह यज्ञोपवीत वे बड़े प्रेम से ग्रहण किया करते थे। मेरा और उनका यह स्नेह-पूर्ण व्यवहार प्रेस से पृथक् होने के बाद भी चालू रहा।

श्री शुक्ल जी ने प्रयाग उच्चतम न्यायालय के न्याय-मूर्ति श्री पण्डित शिवनाथ

काटजू के सहयोग से जब 'चण्डी'-नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया था, तब मुझे उसका सम्पादक बनाया था। किन्तु धार्मिक मतभेद के कारण आठ-दस मास के बाद मुझे उससे पृथक् होने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

श्री शुक्ल जी 'सरस्वती' के सम्पादकीय नोट बहुत पढ़कर लिखते थे। उनके अनेक नोट किसी भी सामयिक इतिहास के लेखक के लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं। उनकी **'हिन्दुओं की पोथी'** नित्य-नैमित्तक कर्म-काण्ड का एक अच्छा संग्रह है। मुझे जहाँ तक स्मरण है, छपते समय श्री शुक्ल जी ने उसे मुझे दिखाया था। उनकी **'कुछ खरी-खरी'** नामक पुस्तक भी तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों तथा लेखकों की अपने ढंग की अनूठी आलोचना है। जैसा कि उन्होंने उक्त पुस्तक की भूमिका में लिखा है, वे लेख उन्होंने कर्तव्य की प्रेरणा से ही लिखे थे, द्वेष या निन्दा की भावना से नहीं।

सुख का विषय है कि मेरे उन स्नेही सुहृद् के आयुष्मान् पुत्र-पौत्र अपने उच्च कुल की गौरवपूर्ण मर्यादा की रक्षा करते हुए सुख का जीवन बिता रहे हैं, और अपने दिवङ्गत पूर्वज के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए यथा-साध्य साहित्य-सेवा भी कर रहे हैं। अतः श्री शुक्ल जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उनके सुयोग्य उत्तराधिकारियों को हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ।

☐

> "....हिन्दी का वह युग बीत गया, जब लोग दूसरों की आँखों से देखते थे। आज लोग इतने जानकार हो गए हैं कि वे 'सत्' और 'असत्' का भेद जान सकें। यही नहीं, ऐसे भी लोग अस्तित्व में आ गए हैं, जो जानते ही नहीं, 'सत्' और 'असत्' के विवेचन में निरन्तर लगे भी रहते हैं। उनकी विवेचनाओं से लोगों की साहित्यिक अभिरुचि का भी अब काफी विकास तथा परिष्कार हो चुका है....।"
>
> —'कुछ खरी-खरी', पृ० ६८

सम्पादकाचार्य गुरुदेव पं० देवीदत्त शुक्ल : जिनके सिवाय मैंने...किसी को न जाना, न माना

□ ठाकुर श्रीनाथ सिंह

जिसने हिमालय को उसकी बर्फीली चोटियों की ऊँचाई तक देखा है, उसे सभी पर्वत-राज प्रतिष्ठा में पिछड़े प्रतीत होंगे। इसी प्रकार जो भी कभी स्व-नाम-धन्य पत्रकार **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** के सम्पर्क में आया है, उसे अन्य सभी पत्रकार विचार-वीथी में बहुत बढ़ जाने पर भी पिछड़े हुए ही प्रतीत होंगे। सच तो यह है कि जैसे हिमालय-दर्शन के बिना किसी के मानस पटल पर भव्य भारत की सही छवि अङ्कित नहीं हो सकती, वैसे ही **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** को अलग करके हिन्दी-पत्रकारिता की परम्परा और क्रम-विकास को आँका और समझा नहीं जा सकता।

सन् १९२७ के अन्त में, जब द्विवेदी-युग समाप्त हो रहा था और हिन्दी पत्रकारिता एक नया मोड़ ले रही थी, मैं इण्डियन प्रेस से प्रकाशित होनेवाले बालोपयोगी पत्र 'बाल-सखा' का सम्पादक नियुक्त हुआ और इस प्रकार **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** के निकट सम्पर्क में आया। उन्हीं के कमरे में, उनसे कुछ दूर एक कोने में एक छोटी-सी मेज कुर्सी-सहित मेरे लिए रखवा दी गई और मैंने काम शुरू किया।

कमरे के बीचों-बीच एक बड़ी मेज के सामने, जिसके चारों तरफ आगन्तुकों के बैठने के लिए कुर्सियाँ रखी थीं, **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** बैठते थे। खद्दर की स्वच्छ धोती, कुर्ता, उसी की मोटी दुपलिया लखनौआ टोपी, स्वस्थ शरीर, गौर वर्ण, चौड़ा मस्तक, लाल चन्दन, बड़ी-बड़ी आँखें, गम्भीर मुख-मुद्रा—जैसे ध्यान-मग्न गौतम बुद्ध की मूर्ति हों। कवि, लेखक, अध्यापक, नेता, सरकारी कर्मचारी, महिलाएँ—आनेवालों का दिन भर ताँता लगा रहता था। शुक्ल जी स्वयं तो बहुत कम बोलते थे और आगन्तुकों की बातें बड़े ध्यान से सुनते थे, संक्षेप में उत्तर देते थे। प्रेस के मालिकों का आदेश था कि शुक्ल जी से जो मिलने आए, उसके सामने एक प्याला गर्म चाय जरूर रखी जाय और इसी चाय-पान के दौरान प्रेस के मालिक स्वयं भी पधारते थे और आगन्तुकों से हिन्दी के लेखन-प्रकाशन की बात करते थे। शुक्ल जी से कुछ कहना होता था, तो स्वयं उनके पास आते थे, उन्हें अपने कमरे में कभी नहीं बुलाते थे। हिन्दी के सम्पादक का इतना सम्मान किसी प्रकाशक को मैंने कभी करते नहीं देखा, जितना इण्डियन प्रेस के मालिक शुक्ल जी का करते थे।

'बाल-सखा' बच्चों का मासिक पत्र था, इसका सम्पादन मेरे लिए एक सप्ताह से अधिक का काम नहीं था। मुझे आदेश हुआ कि शेष समय शुक्ल जी को दूँ। यह मेरे लिए अति प्रिय कार्य था। कहना चाहिए कि इसी कार्य से मैंने विधि-वत् पत्र-

कारिता का प्रशिक्षण प्राप्त करना प्रारम्भ किया । शुक्ल जी का पहला आदेश था, "....'सरस्वती' के लिए प्रति मास एक ऐसा लेख तैयार करो, जिसमें विश्व के राष्ट्रों के उदय, उत्थान, पतन से सम्बन्धित नवीनतम घटना-चक्र का लेखा-जोखा हो । लेख रोचक हो, साथ ही ऐसा हो कि उसके बारे में पाठकों को कुछ जानना शेष न रह जाए । ऐसा लेख तो तुम एक-आध घण्टे में ही लिख डालोगे, पर उसके पीछे सामग्री की खोज में तुम्हें महीनों श्रम करना पड़ सकता है....।"

उसी क्षण से मैं इस कार्य में लग गया । इण्डियन प्रेस में, मैनेजर के कक्ष से लगी, एक सम्पादकीय लाइब्रेरी थी । उसमें दुनिया भर की अप-टू-डेट जानकारी देनेवाली पुस्तकें व्यवस्थित ढँग से सज्जित थीं । इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, लैण्ड्स एण्ड पीपुल, बुक ऑफ नॉवेल आदि कितनी ही पुस्तकें दर्जनों खण्डों में अपनी-अपनी ओर बुला-सी रही थीं । उसकी चाभी, शुक्ल जी ने मुझे सौंप दी, केवल इतना कहा—"अपने सिवाय किसी अन्य को उस कक्ष में न ले जाना, न किसी से इस बारे में कुछ कहना ।"

मेरा काम बड़ा आसान हो गया । जैसे भृगु-संहिता से किसी भी मानव की जन्म-पत्री बनाई जा सकती है, वैसे ही उन पुस्तकों के सहारे किसी भी विषय पर लेख लिखा जा सकता था । दो तीन वर्षों में मैं देश-विदेश की सभी समस्याओं से परिचित ही नहीं हो गया, अधिकार के साथ उन पर लेखनी चलाने लगा । बहुत से लेख तो मैंने ऐसे लिखे, जो आज भी उतने ही नए लगेंगे । उदाहरण के लिए, 'इसराइल'-रूपी खूँटा अरबों की छाती में कैसे ठोंका गया; दलाई लामा के मरने पर उसका उत्तराधिकारी कौन हो सकता है; तत्त्वों का अन्वेषण कैसे हुआ; वस्तुओं के आविष्कार कैसे हुए; रेल, टेलीफोन की तरह भाषाओं, लिपियों, धर्मों और भगवान् के आविष्कार कैसे हुए ? उन्हीं पुस्तकों के सहारे मैंने जाना कि भगवान् ने मनुष्य को नहीं, मनुष्य ने ही भगवान् की कल्पना की है । 'ऑटम बम' तो अमरीका ने जापान पर सन् १९४४ में छोड़ा था, पर उसके बताने की कला जर्मनों ने सन् १९२२ में ही जान ली थी ।

शुक्ल जी के सम्पादकीय कक्ष में पधारनेवाले किसी भी जिज्ञासु को, उनकी आज्ञा से, मैं तत्काल उत्तर दे सकता था और इस तरह मैं 'जैक ऑफ आल' कहा जाने लगा था और अन्त में अपने काम को अधिक सुविधा-जनक बनाने के लिए शुक्ल जी ने 'सरस्वती' पर अपने साथ, मेरा भी नाम छापे जाने का प्रस्ताव किया । मुझे कांग्रेस की सभाओं में ही नहीं, सरकारी अमन-सभाओं में, मुसलिम लीग की—हिन्दू महा-सभा की बैठकों में भी भेजना प्रारम्भ किया और 'सरस्वती' में सब प्रकार के वक्तव्य तथा विचार छपने लगे । उन दिनों 'सरस्वती' का स्तर कुछ इतना ऊँचा हो गया था कि शुक्ल जी ने स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी के लेख, प्रेमचन्द की कहानियाँ, मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध की कविताएँ वापस करनी शुरू कीं और भाई परमानन्द, जवाहरलाल नेहरू जैसे लोगों के लेख; सुदर्शन, अश्क जैसे लोगों की

कहानियाँ तथा पन्त, महादेवी, बच्चन आदि की कविताएँ छापनी शुरू कीं। इन सभी से मुझे सीधे सम्पर्क करने की सलाह दी और कहा जाने लगा कि 'सरस्वती' ने रूढ़िवादियों को छोड़कर जो नया रास्ता अपनाया है, उसका श्रेय श्रीनाथ सिंह को है।

शुक्ल जी के कमरे के बाहर सर्वत्र मैं ही 'सरस्वती' का सम्पादक जाना-माना जाता था, परन्तु इण्डियन प्रेस के भीतर, जहाँ 'सरस्वती' छपती थी, शुक्ल जी ही सम्पादक थे। ऐसा कोई लेख या कविता नहीं होती थी, जो उनकी नजर से न गुजरी हो और जिस पर उनकी लेखनी न चले। 'सरस्वती' आदि से अन्त तक भाषा की एक-रूपता के लिए विख्यात थी। पढ़ने से जान पड़ता था, जैसे एक ही व्यक्ति ने सब कुछ लिखा हो। एक-एक शब्द की शुद्धता का वे ध्यान रखते थे। किसी-किसी लेख का सम्पादन तो वे इस तरह करते थे कि लेख का शीर्षक और लेखक का नाम छोड़कर सभी कुछ बदल देते थे। लेखों का चयन वे विचार और सामयिकता की दृष्टि से करते थे। उनकी कसौटी पर खरा न उतरने पर दिग्गजों के लेख वापस हो जाते थे और नगण्य लेखकों तक की रचनाएँ स्थान पा जाती थीं।

उन दिनों कोई ऐसा नहीं था, जिससे मैंने, उनके आदेश से, सीधे सम्पर्क न किया हो और उसके विचार 'सरस्वती' में न छपे हों। वेतन तो मुझे कम ही मिलता था, पर 'सरस्वती'-सम्पादक के रूप में मेरा ठाठ-बाट किसी अंग्रेजी दैनिक के सम्पादक से कम नहीं होता था। कहीं जाने के लिए मालिकों की 'कार' मुझे उपलब्ध थी और मैं अपने साथ प्रेस का फोटोग्राफर ले जाता था। महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, टण्डन जी, सम्पूर्णानन्द जी, डाक्टर काटजू, सी० आर० दास, सुभाषचन्द्र बोस, सर तेजबहादुर सप्रू, बादशाह खान, अली ब्रदर्स, डॉ० जिन्ना, सेठ घनश्यामदास के, खास समस्या पर, खास तौर से प्रकाश डालनेवाले लेखों के लिए मुझे कितनी दौड़-धूप करनी पड़ती थी, मैं ही जानता था। आज तो सोचता हूँ कि वह सब मैं कैसे करता था!

अपने व्यक्ति-गत जीवन में शुक्ल जी बहुत ही कट्टर और कर्म-काण्डी ब्राह्मण थे, पर 'सरस्वती'-सम्पादक के रूप में उनका व्यक्तित्व सर्वथा मानव-वादी था। मानवों के बीच में वे कोई भेद-भाव नहीं मानते थे। वे कहते थे—"तुम्हारा घर किला है, उसके अन्दर चाहे जैसे रहो, पर सड़क पर आओ, तो सब भेद भूल जाओ। हिन्दू-मुसलमान, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, छूत-अछूत—सबके प्रति सम्मान रखो।" वे किसी को अपने से छोटा नहीं मानते थे, पर बड़ा—प्रत्येक व्यक्ति को, जो उनसे मिलने आता था, बड़ा मानकर आदर करते थे।

'सरस्वती' में जो लेख आदि छपते रहते थे, उनके औचित्य आदि पर बराबर विवाद होते रहते थे। इस सम्बन्ध में कहीं कुछ यश की प्राप्ति होती थी, तो उसका श्रेय मुझे देते थे और यदि कोई अपयश मिलता था, कोई गम्भीर जिम्मेदारी उठानी पड़ती थी, तो उसे स्वयं वहन करते थे। मेरे दोषों को उन्होंने अपने ऊपर इस हद

तक ओढ़ लिया था कि सारा हिन्दी-संसार उनसे कुपित हो उठा, परन्तु शुक्ल जी ने उसकी कोई परवाह नहीं की। ऐसे थे, **गुरुदेव पण्डित देवीदत्त शुक्ल**—अद्भुत, अनुपमेय, अडिग, अजेय। उन्हीं का सहयोग पाकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-जगत् में विख्यात हुए और पत्रिका के रूप में 'सरस्वती' उस समय हिन्दी-साहित्याकाश में सूर्य के समान उदित हो उठी।

शुक्ल जी की सम्पादन-कला, प्रभुप्रत्न थी। उस समय के सम्पादक बाबूराव विष्णु पराड़कर, गणेशशङ्कर विद्यार्थी, कृष्णकान्त मालवीय—सभी उनका लोहा मानते थे। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी उन्हें अपना सच्चा उत्तराधिकारी मानते थे और अपनी सभी साहित्यिक गोष्ठियों में उनको साथ लिए बिना नहीं जाते थे तथा अपने प्रत्येक वक्तव्य में उनकी सलाह लेते थे।

शुक्ल जी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अत्यन्त मृदु-भाषी थे, परन्तु इसके साथ ही वे अत्यन्त स्पष्ट-वादी भी थे। बड़ी-से-बड़ी बात को कोमल-से-कोमल शब्दों में व्यक्त कर देने की उनमें अद्भुत क्षमता थी और विपक्षी लोगों पर उनके इस मृदु स्वभाव का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता था।

महामना मालवीय जी वैष्णव थे, परन्तु शुक्ल जी थे देवी के उपासक और तान्त्रिक। एक बार मांसाहार के प्रश्न पर दोनों में विवाद छिड़ गया। शुक्ल जी ने मालवीय जी के समक्ष हाथ जोड़कर नत-मस्तक होकर कहा—"महाराज, विष्णु भगवान् को मांस का भोग तो मेरे ही घर में लग सकता है; आपके चौके से वह भूखे ही उठ जायेंगे।" इस सम्बन्ध में शुक्ल जी शास्त्रों के प्रमाण-पर-प्रमाण प्रस्तुत करने लगे थे। मालवीय जी आश्चर्य-चकित होकर उनकी ओर देखते ही रह गए।

महात्मा गांधी ने जब मद्य-निषेध को अपने सत्याग्रह-आन्दोलन का एक अङ्ग बनाया और शराब की दूकानों की पिकेटिंग शुरू हुई, तब शुक्ल जी ने उन्हें एक लम्बा पत्र लिखा, जिसका तात्पर्य यह था कि "यह तो धर्म में हस्तक्षेप है क्योंकि जो लोग पूजा में मद्य का प्रयोग करते हैं, वे क्या करेंगे ? साधक लोग देवी के पूजन के लिए सुरा कैसे प्राप्त कर सकेंगे ?" गांधी जी ने शुक्ल जी के तर्क की कद्र की और उन्हें लिखा कि "मद्य-निषेध कानून लागू होने पर भी साधकों को सुरा बनाने की छूट रहेगी। मैंने आदेश दिए हैं कि पूजा के लिए जो शराब खरीदें, उन्हें न रोका जाए।"

बड़े-से-बड़े लेख में एक-दो शब्द बदल कर, कहीं से हटा कर, लघु विराम लगाकर शुक्ल जी अर्थ का अनर्थ पैदा कर देते थे। इसका एक उदाहरण मैं यहाँ देता हूँ। वे चाहते थे कि भारत का औद्योगिक विकास हो। इस दृष्टि से मुझे उन्होंने कलकत्ते भेजा, महीनों रहकर वहाँ के उद्योपगतियों से मिलकर उनकी कठिनाइयाँ जानने, समझने और 'सरस्वती' के पृष्ठों में उन्हें सलाह देने के लिए; उस समय के उद्योगपति, विशाल व्यापारी कैसे छोटे पैमाने पर काम शुरू करके महान् बने और आगे और क्या सम्भावनाएँ हैं। मैंने शुक्ल जी की मर्जी के मुताबिक बड़े-बड़े 'व्यापारिक

घरानों के चित्र प्रस्तुत किए। कोई तीन महीने बाद कलकत्ते से लौटने पर 'विशाल भारत' के सम्पादक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रशंसा में एक लम्बा, कोई छः सफ़्हों का लेख लिखा। उसकी प्रतिलिपि चतुर्वेदी जी के अवलोकनार्थ भेजी। लेख उन्होंने पसन्द किया परन्तु उसे इस आशय के पत्र के साथ वापस किया कि '.... सम्पादक की निन्दा ही उसकी प्रशंसा है और आपने इसमें मेरी कहीं निन्दा नहीं की। अगर किसी पत्रकार की निन्दा नहीं हुई, तो मैं उसे पत्रकार ही नहीं मानता....।'

यह पत्र जब मैंने श्रद्धेय पण्डित देवीदत्त शुक्ल को दिखलाया, तब 'सरस्वती' के वे पृष्ठ, जिनमें चतुर्वेदी जी के सम्बन्ध में मेरा उक्त लेख अङ्कित था, मशीन पर चढ़ने जा रहे थे। शुक्ल जी ने तत्काल ही उस लेख के मशीन प्रूफ को मँगवाया, उस लेख को आदि से अन्त तक पढ़ा और कहा—"ठाकुर, इसमें तो ऐसा संशोधन हो कि कुछ निन्दा भी झलके, किन्तु लेख ऐसा है कि उसकी कतई गुंजाइश नहीं है।" और फिर वे ध्यानावस्थित हो गए। अन्त में थोड़ा मुस्कराए और कहा कि "एक तरकीब निकल आई है। इधर देखो।"

जहाँ मैंने लिखा था कि वे यानी चतुर्वेदी जी हिन्दी और बङ्गाली के बीच हावड़ा के पुल की तरह डटे हुए हैं, वहाँ शुक्ल जी ने 'वे' की जगह पर 'मैं' कर दिया और 'डटे हुए' की जगह 'डटा हूँ' और यह वाक्य अब इस प्रकार पढ़ा गया—'मैं हिन्दी और बङ्गाली के बीच में हावड़ा पुल की तरह डटा हुआ हूँ।' इस प्रकार समूचे लेख में उन्होंने 'वे' को निकालकर इनवर्टेड कामाओं के अन्दर 'मैं' कर दिया। जो लेख क्षण भर पहले चतुर्वेदी जी की भूरि-भूरि प्रशंसाओं से भरपूर था, ऐसा लगने लगा कि श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी एक अहङ्कारी और बड़े ही मिथ्याभिमानी पत्रकार हैं। समूची प्रशंसा निन्दा में बदल गई थी। कहना न होगा, जब यह लेख प्रकाशित हुआ, निन्दा को प्रशंसा माननेवाले चतुर्वेदी जी तिलमिला उठे। चतुर्वेदी जी की बड़ी बदनामी हुई। पत्रों में उनके विरुद्ध टिप्पणियाँ छपने लगीं। उन्होंने तत्कालीन सम्पादकों से रोना रोया, रक्षा की प्रार्थना की। प्रेमचन्द जी ने अपने पत्र में मुझे बहुत-कुछ बुरा-भला कहा, गालियाँ दीं। प्रेमचन्द की टिप्पणी पढ़कर शुक्ल जी ने कहा—"हैं तो ये प्रेमचन्द परन्तु इनकी रचना पढ़कर मन में घृणा का उदय होता है।" और उनके आदेश से मैंने 'सरस्वती' में एक लेख लिखा—'घृणा के प्रचारक प्रेमचन्द', जो बहुत पढ़ा गया और 'सरस्वती' की चौतरफा धाक जम गई।

पुरानी पीढ़ी के लोगों से अपना कार-बार समेटने के लिए शुक्ल जी ने कवि-वर सुमित्रानन्दन पन्त से एक कविता लिखवाई—

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र
तुम त्रस्त ध्वस्त तुम शुष्क क्षीण
हिम-ताप पीत तुम वीत-रस जड़ पुरा चीन

और उसी सिलसिले में 'हरिऔध का बुढ़भस' तथा गुप्त जी के 'साकेत' की व्यर्थता पर लेख छपे।

'साकेत' के बारे में गांधी जी से सम्मति माँगी गई थी; उनसे कहा गया था, यह तुलसीदास की रामायण से आगे निकल गया है। इस पर गांधी जी ने शुक्ल जी से पूछा कि क्या सम्मति दें ? शुक्ल जी का संक्षिप्त उत्तर था—"रामायण में कवि का हृदय नायक राम के साथ वन को जाता है। 'साकेत' में कवि विरहणी उर्मिला के साथ बैठकर रोता है।" यह सम्मति गांधी जी को पसन्द आई, लिखा—'साकेत में मैं वही कला देखना चाहता हूँ, जो तुलसी-कृत रामायण में मिलती है।'

हरिऔध की तरह गुप्त जी की भी बड़ी बदनामी हुई। इन दोनों के हिन्दी के प्रतिनिधि कवि होने में प्रश्न-चिह्न लग गए और निराला, पन्त, महादेवी आदि का मान बढ़ा।

शुक्ल जी के जीवन में एक ऐसा भी समय आया, जब 'सरस्वती' का सम्पादन उनके हाथ से निकल गया और 'सरस्वती' का सम्पादन सर्वथा श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की जिम्मेदारी हो गई। बख्शी जी के साथ नाम तो शुक्ल जी का छपता रहा, पर काम सब बख्शी जी स्वयं देखते थे। पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र उनके सहयोगी नियुक्त हुए। मिश्र जी बँगला, संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और चाहते थे कि 'सरस्वती' के पृष्ठों पर उनका भी नाम सम्पादक के रूप में छपे। उनकी इस कमजोरी का काफी मजाक उड़ता रहा और लोग उनसे दावतें भी लेते रहे और यह क्रम तब तक चलता रहा, जब तक पदुमलाल बख्शी स्वयं ही 'सरस्वती' छोड़कर नहीं चले गए।

उन दिनों 'सरस्वती' हिन्दी की सर्वोपरि सम्मानित पत्रिका थी। बड़े-बड़े लोग उसमें किसी-न-किसी रूप में अपना नाम छप जाने की इच्छा रखते थे। इस दृष्टि से 'सरस्वती' की पाठ्य सामग्री को शुक्ल जी ने चार भागों में बाँटा था। पहला भाग देश-विदेश के नामी पुरुषों के लेखों के लिए रिज़र्व था। ऐसे सब लेख अंग्रेजी में आते थे, जिनका हिन्दी अनुवाद मैं स्वयं करता था। शुक्ल जी का कहना था कि यह पत्रिका की गुरुता के लिए आवश्यक है। दूसरा भाग हिन्दी के उन महान् लेखकों, कवियों आदि की रचनाओं के लिए रिज़र्व रहता था, जो 'सरस्वती' के सिवाय अन्य किसी पत्रिका में नहीं लिखते थे। तीसरे भाग में सामयिक प्रसङ्गों पर अधिकारी विद्वानों के लेख छपते थे। चौथा भाग नवोदित लेखकों के प्रोत्साहन के लिए होता था। इसी प्रकार सामयिक साहित्य, विवाद-ग्रस्त और संसार भर के विचार-प्रवाह के लिए पृष्ठ बँटे थे। इस तरह 'सरस्वती' एक ऐसे दर्पण के समान थी, जिसमें समाज के सभी वर्ग और सभी व्यक्ति अपनी छवि देख और समझ सकते थे।

शुक्ल जी की बदौलत ही मैं संसार के महा-पुरुषों के निकट सम्पर्क में आ सका। रूस के नेता ख्रूश्चेव, बुलगानिन, अमरीका के राष्ट्रपति आइसन हूवर, चीन के प्रधान मन्त्री चाऊ-इन-लाइ की गोष्ठियाँ मुझे आज तक नहीं भूली हैं। देश के

अली ब्रदर्स आदि के लिए तो मैं मँडराता ही रहता था। मुसलिम लीग की सभा में पढ़ी गई एक कविता तो 'सरस्वती' में छपी भी। कविता थी—

लीग है तैयार मिलने के लिए,
कांग्रेस है हाथ कानों पर धरे,
हों जवाहरलाल या आजाद बोस,
ये कहो वारो सितम के हैं........
और क्या गांधी की है कर कौल में
दूध बकरी का, नमक या सन्तरे।

तात्पर्य यह है कि सभी राजनैतिक, साम्प्रदायिक, परस्पर-विरोधी दलों के समाचार-विचार 'सरस्वती' में छपते थे।

लेखों में संशोधन की कला पूज्य **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने स्वनाम-धन्य सम्पादक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्राप्त की थी। वे इस तरह का संशोधन करते थे कि लेखक का मत तो ज्यों-का-त्यों बना रहता था, परन्तु भाषा में एक अद्भुत परिमार्जन और प्रवाह आ जाता था और एक ऐसी शैली का निर्माण हो उठता था, जो 'सरस्वती' की अपनी शैली कहलाती थी। इस प्रकार प्रत्येक लेख के पीछे वे कितना श्रम करते थे, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

वे माया-मोह से परे थे। किसी प्रकार का भय और प्रलोभन उनको डिगा नहीं सकता था। प्रत्येक अवस्था में वे अपने कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ रहते थे। इसका एक उदाहरण मैं यहाँ देता हूँ—एक बार एक लेख-संशोधन में शुक्ल जी रत थे। तभी उनके घर से, जो उन्नाव जिले के बक्सर ग्राम में था, एक पत्र आया। पत्र में उनके ज्येष्ठ पुत्र के स्वर्गवासी हो जाने का संवाद था। कार्य के बीच में शुक्ल जी ने उस पत्र को पढ़ा और फिर उसे रख दिया और पूर्व-वत् अपने कार्य में लग गए। जब पाँच बजे और सभी लोग अपने घरों को जाने लगे, तब शुक्ल जी ने भी अत्यन्त उदास मुद्रा से उस पत्र को उठाया और दफ्तर से बाहर निकल गए। दूसरे दिन जब मैंने दफ्तर से निकलते समय उनके विचित्र व्यवहार का कारण पूछा, तब मुझे उन्होंने वही पत्र दिखाया। कितने कठोर अनुशासन में वह अपने को रखते थे, यह इसका नमूना है।

सार्वजनिक सम्मेलनों, समारोहों से वे अपने को सर्वथा दूर रखते थे। यश अथवा धन की लिप्सा उनके मन में तनिक भी नहीं थी। अनेक सुन्दर लेख, 'सरस्वती' में छपे, वे वास्तव में उन्हीं के लिखे हुए हैं परन्तु वे सब उन्होंने अनेक छद्म नामों से लिखे हैं। अपने आपको सर्वथा पीछे रखकर काम करने की उनकी आदत थी। यदि किसी वृक्ष के मूल और फूल पर दृष्टि डाली जाय, तो शुक्ल जी मूल-स्वरूप थे। जिस प्रकार मूल पृथ्वी के अन्दर गड़ा रहता है और उसे कोई नहीं जानता, तथापि वहाँ से रस खींचकर सम्पूर्ण वृक्ष में बिखरे पुष्पों को सिञ्चित करता है। वही दशा **पण्डित**

देवीदत्त शुक्ल की थी। साहित्य-जगत् में सर्वथा ओट में रहकर वे इस तरह के कार्य करते थे कि उनके कार्यों का यश देखने को मिलता रहता था और यह बात उनके निकट सम्पर्क में रहनेवाले ही जानते थे।

एक बार लखनऊ-कांग्रेस के साथ एक वृहद् कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उसकी मनोनीत सभा-नेत्री श्रीमती महादेवी वर्मा थीं, जिनके आने में काफी देर हो गई थी और हजारों की भीड़ में उपस्थित जनता अकुला गई थी। तभी मंच के पास थोड़ी दूर पर बैठे **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** को देखकर आयोजकों के नेता पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने उठकर कहा—"सभा-नेत्री जी के आने में अभी देर है, परन्तु 'सरस्वती' के सम्पादक **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** यहाँ उपस्थित हैं। हम क्यों न इन्हें सभापति बनाकर कवि-सम्लेलन का कार्य आरम्भ करें।"

चारों ओर से करतल-ध्वनि और हर्ष की लहरें सभा-मञ्च तक आती हुई सी प्रतीत हुईं और आयोजकों ने बल-पूर्वक श्री शुक्ल जी को उठाकर सभापति के आसन पर ले जाकर बैठा दिया। श्री शुक्ल जी अत्यन्त संकुचित भाव से बैठे रहे और जब महादेवी जी आयीं, तब शुक्ल जी ने उनसे कहा कि 'आइये, अपना आसन ग्रहण कीजिए', परन्तु स्वयं महादेवी वर्मा जी ने भी यही उपयुक्त समझा कि शुक्ल जी आसन पर विराजे रहें और कवि-सम्मेलन का कार्य चलता रहा।

पण्डित देवीदत्त शुक्ल तन्त्रोक्त शाक्त-धर्म के साधक पुरुष थे। गांधी जी की अहिंसा की नीति उन्हें पसन्द नहीं थी। वे बलि-दान की प्रथा में विश्वास करते थे और स्वयं भी नवरात्रि में पूजन-अर्चन करते थे। वे चाहते थे कि भारतीय लोग तन्त्र-मन्त्र-विद्या को, जिसे वाम-मार्ग कहा जाता है, समझें और अपने धार्मिक साधनों में उसको अपनायें।

उन दिनों, पहले से भी शाक्त-धर्म की चर्चा सार्वजनिक रूप से नहीं होती थी। इसकी साधनाओं और पूजन-पद्धतियों के बारे में जनता में काफी भ्रम फैला था। शुक्ल जी ने इस बारे में जनता को सही बात बताने के लिए 'चण्डी' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। उन दिनों उनके पुत्र पं० रमादत्त शुक्ल निरे विद्यार्थी थे परन्तु उन्होंने पिता की इच्छा के प्रचार-प्रसार में हाथ बँटाया। क्रमशः उन्होंने 'चण्डी' का प्रकाशन अपने हाथ में ले लिया और उसे इस निषय की अभूतपूर्व पत्रिका बना दिया।

'चण्डी' का जब प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तब अनेक वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी और महा-पुरुष उससे बहुत कुपित हुए। अनेक लोग तो शुक्ल जी से इस बात का उलाहना भी देने आते थे, परन्तु शुक्ल जी माधुर्य के साथ उत्तर देते थे।

तान्त्रिक साधक लोग अपने को बहुत छिपाकर रखते हैं। उनकी इस छिपाने की प्रवृत्ति पर सम्भवतः उनके विरोधियों में एक श्लोक भी प्रचलित है, जो इस प्रकार है :

अन्तः शाक्ता बहि शैवा सभा-मध्ये च वैष्णवाः ।
नाना-रूप-धरा कौलाः विचरन्ति मही-तले ॥

अर्थात् 'अन्तर से तो वे शाक्त होते हैं, बाहर से शैव प्रतीत होते हैं और जब सभा के बीच में पहुँचते हैं, तब वैष्णव बन जाते हैं । इस तरह कौल लोग नाना रूप धारण करके पृथ्वी पर विचरण करते हैं ।' यह असल में शाक्त तान्त्रिकों का एक प्रकार से मजाक है, जो उनके विरोधी उनके बारे में कहकर अपना विनोद करते हैं । शाक्त कौलों के इस प्रकार के विरोधियों में 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र भी थे, जो परम वैष्णव थे । किन्तु पत्र-पत्रिकाओं पर सम्पादक के रूप में अपना नाम छपा देखना उन्हें अच्छा लगता था । इधर शुक्ल जी विनोद-प्रिय भी थे । क्योंकि पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र शाक्तों का यह श्लोक पढ़कर मजाक उड़ाया करते थे, अतएव शुक्ल जी ने अपनी विनोद-प्रियता में पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र को इस श्लोक का शिकार बनाया । शुक्ल जी ने उनसे प्रस्ताव किया कि "आप 'चण्डी' के सम्पादक बन जाइये ?"

"मुझे करना क्या होगा ?" मिश्र जी ने पूछा ।

"कुछ नहीं, काम तो दूसरे लोग करेंगे । आप नामी साहित्यकार हैं, अतएय आपका नाम होगा और उनका काम बनेगा ।'

बिना मेहनत, बिना कुछ काम किए पत्र के सम्पादक बन जाने का मोह पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र संवरण न कर सके । उन्होंने 'चण्डी' पर अपना नाम प्रकाशित होने की अनुमति दे दी ।

अब 'चण्डी' पर सम्पादक के स्थान पर पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र का नाम छपने लगा और उसमें वाम-मार्ग के भी प्रचार और प्रसार में लेख आदि प्रकाशित होने लगे । उन सबके लिए पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र जिम्मेदार ठहराए जाने लगे । अन्त में एक लेख छपा, जिसकी बड़ी चर्चा हुई । वह लेख यह था कि बकरे का बलिदान किस प्रकार करना चाहिए; कैसे उसको खिलाना-पिलाना चाहिए; कैसे उसे नहलाना चाहिए और फिर कैसे मन्त्रों के उच्चार के साथ किस प्रकार उसका वध करना चाहिए, आदि आदि ।

पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र जी परम वैष्णव थे । उनके सम्पादकत्व में 'चण्डी' में ऐसा लेख प्रकाशित हो, बेशक यह उनके मुख पर एक अच्छा तमाचा था । पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र तिलमिला उठे । जहाँ जाते, वहाँ लोग उनको उपर्युक्त श्लोक पढ़कर सुनाते और पण्डित ठाकुरदत्त लेख की सफाई देते कि वे वाम-मार्गी नहीं, वैष्णव हैं, परन्तु 'चण्डी' में प्रकाशित उक्त लेख के इस प्रकाश में उनकी बात मानने को कोई तैयार न होता । 'चण्डी' की सम्पादकी पण्डित ठाकुरदत्त मिश्र को बड़ी मँहगी पड़ी और जब उन्होंने अपना त्याग-पत्र देते हुए बड़ा बावेला मचाया, तब शुक्ल जी ने उक्त श्लोक को उनके समक्ष दुहराया और कहा कि 'बताइये, जब इस श्लोक से आपको इतनी तकलीफ होती है, तब ऐसी ही तकलीफ दूसरों को क्यों न होती होगी, परन्तु इससे क्या ! आप लाख इस्तीफा दें, अब तो आप वाम-मार्गियों की बिरादरी में

शामिल माने ही जायँगे', और शुक्ल जी ने अपने एक दीर्घ अट्टहास के साथ उनका त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया।

'सरस्वती' की इन दिनों लोक-प्रियता का सबसे बड़ा कारण यह था कि सम्यक् विषयों पर ज्ञातव्य लेख वे बड़े श्रम से एकत्रित करके लोगों से लिखवाते थे अथवा स्वयं लिखते थे। सन् १९३७ के आस-पास तिब्बत में दलाई लामा की मृत्यु के बाद जब दूसरा दलाई लामा अर्थात् ४, ६ दिन का शिशु ढूँढ़ कर सिंहासनारूढ़ किया गया, तब शुक्ल जी ने दलाई लामा के पीछे जो शासन-व्यवस्था और लोक-रीति है, उसका विशद् वर्णन किया। इसी प्रकार जब इज़राइल बना, तब इज़राइल के जन्म की पूरी कहानी—किस प्रकार महान् यहूदी वीज़मैन ने प्रथम विश्व-युद्ध में बृटिश प्रधान मन्त्री लायड जार्ज से लम्बी मार की तोप बनाकर देने के वादे के बदले में यह वादा करा लिया था कि बृटिश सरकार जीतेगी, तो यहूदियों का होम-लैण्ड बना देगी।

भारत-पाक-विभाजन का समय सन् १९४७ में आया, परन्तु शुक्ल जी ने सन् १९२८ में ही 'सरस्वती' में अपनी एक टिप्पणी प्रकाशित की, जिसमें यह लिखा था कि भारतीय मुसलमान बृटिश प्रोत्साहन से अपने लिए एक नये देश की माँग कर रहे हैं और उसका नाम पाकिस्तान रक्खेंगे। इस प्रकार पाकिस्तान नाम पहले पहल हिन्दी-पाठकों को शुक्ल जी की इस टिप्पणी से ही ज्ञात हुआ था।

विश्व की सामयिक घटनाओं पर वे ऐसी पैनी दूर-दृष्टि रखते थे और 'सरस्वती' के पृष्ठों में उसका वर्णन कर देते थे। शुक्ल जी का 'सरस्वती' से सम्बन्ध-विच्छेद होने के बाद ऐसा कोई सम्पादक नहीं रह गया, जो शुक्ल जी की ढाली हुई इस परम्परा को 'सरस्वती' में चालू रखता और यही कारण है कि उनके हटते ही 'सरस्वती' में गिरावट आ गई।

जहाँ शुक्ल जी वैदेशिक राजनीति के पण्डित थे और हिन्दी पाठकों—भाषियों को उससे अवगत कराते रहना चाहते थे, वहीं वह हिन्दी-क्षेत्र में भी स्वतन्त्र रचना चाहते थे और उसको प्रोत्साहन देते थे। खुशामदियों को रचनाओं को वे 'सरस्वती' में बिलकुल प्रश्रय नहीं देते थे और नवोदित लेखकों की रचनाओं को उनके चित्रों के साथ प्रकाशित करके उनको प्रोत्साहन देते थे। पन्त, महादेवी, बच्चन, नरेन्द्र आदि कवि देखा जाय, तो उन्हीं के बनाये हुए हैं। इसके कुछ उदाहरण मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

श्री बच्चन जी ने 'मधु-शाला' नामक अपने सुप्रसिद्ध छन्दों को 'विशाल भारत' में प्रकाशन के लिए भेजा था, परन्तु वहाँ से वे अस्वीकृत होकर लौट आये थे। मैंने बच्चन जी की वह रचना पढ़ी, तो मुझे अच्छी लगी। मैंने शुक्ल जी से सिफारिश की कि बच्चन को हिन्दी में प्रोत्साहन मिलना चाहिए। शुक्ल जी ने वह रचना देखने की इच्छा प्रकट की और मैं बच्चन जी से उसे माँग कर शुक्ल जी के पास ले गया। शुक्ल जी ने आदेश दिया कि "बच्चन जी से कहो कि इसमें से २०, २२ छन्द छाँटकर दे दें" और बच्चन जी ने यह अधिकार मुझे ही दे दिया। मैंने उस

पुस्तक में से कोई २०, २२ छन्द छाँटे और शुक्ल जी ने उस पर एक टिप्पणी लगाकर उस कविता को बच्चन जी के चित्र के साथ 'सरस्वती' में प्रकाशित किया और हिन्दी-जगत् में बच्चन जी की 'मधु-शाला' की धूम बँध गई।

इसी तरह श्री उपेन्द्रनाथ अश्क की भी एक कहानी है। ये उर्दू के अच्छे लेखक थे, परन्तु हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में जो भी रचना भेजते थे, वापस कर दी जाती थी और अश्क जी ने अन्त में निराश होकर अपनी एक रचना 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी। शुक्ल जी को वह रचना पसन्द आयी और उसे भी उन्होंने अपनी टिप्पणी के साथ 'सरस्वती' में प्रकाशित किया और अश्क जी का चित्र भी छापा। उसमें शुक्ल जी ने लिखा कि 'अश्क जी की यह रचना हिन्दी के अनेक पत्र-सम्पादकों ने वापस कर दी थी, तथापि हम इसे गर्व के साथ 'सरस्वती' में प्रकाशित कर रहे हैं क्योंकि यह उत्तम रचना है।'

इस तरह शुक्ल जी ने कितने ही अच्छे लेखकों को, जो अन्यथा उपेक्षा के भँवर-जाल में पड़े ही रहते, निकाल कर हिन्दी-जगत् में बड़े गौरव के आसनों पर ला बिठाया है। शुक्ल जी व्यक्ति नहीं, वस्तु को प्रश्रय देते थे। नामी-से-नामी लेखकों की रचनाओं के पुलिन्दे वह वापस कर देते थे और सर्वथा अज्ञात लेखकों की रचनाओं को, यदि उनमें कुछ चमक होती थी, तो वे 'सरस्वती' में बड़े आदर के साथ प्रकाशित करते थे।

एक वार स्वयं पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने एक साथ बीस-बाइस लेख भेजे और चाहा कि सभी 'सरस्वती' के एक ही अङ्क में प्रकाशित कर दिए जाएँ। मैंने भी आग्रह किया कि ऐसा किया जाय, परन्तु शुक्ल जी नहीं माने। पण्डित जवाहरलाल जी के इन बीसों लेखों में से उन्होंने केवल एक पसन्द किया और उसे दो रंगों में अत्यन्त सजावट के साथ 'सरस्वती' में प्रकाशित किया और शेष लेख वापस कर दिये, जो बाद को, 'विशाल भारत' में पण्डित जी की इच्छानुसार एक साथ प्रकाशित हुए, परन्तु 'सरस्वती' में जो पण्डित जी की रचना छपी, उसकी बड़ी चर्चा हुई और 'विशाल भारत' के लेख उसके पृष्ठों के बीच ही रह गए।

आज हिन्दी में ऐसा कोई सम्पादक नहीं है, जो रचना के गुणों के कारण उन्हें प्रकाशित करे। प्रायः लोग प्रसिद्ध व्यक्तियों का नाम देखकर ही उनकी रचनाएँ प्रकाशित करते हैं। आधुनिक हिन्दी सम्पादक यदि स्वर्गीय शुक्ल जी के इस एक गुण को ही अपना लें, तो हिन्दी का अभ्युदय बहुत सहज हो जाय।

शुक्ल जी यों व्यवहार में तो पुरानी पीढ़ी के कट्टर ब्राह्मण प्रतीत होते थे, परन्तु वास्तव में वे बहुत ही प्रगतिवादी थे। हिन्दू-समाज की रूढ़ियों पर प्रहार करने में वे तनिक भी सङ्कोच नहीं करते थे। बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, तिलक-दहेज, छुआछूत, विदेश-गमन आदि समस्याओं पर बहुत ही प्रगतिशील विचार व्यक्त करते थे। जितने वे प्रगतिवादी थे, उतने ही बड़े राष्ट्रवादी भी थे। 'सरस्वती' राष्ट्र की प्रगति के साथ आगे बढ़े, इसका वे बराबर ध्यान रखते थे। प्रान्तीय शिक्षा-विभागों का

'सरस्वती' के स्वामियों पर बड़ा प्रभाव होता था और वे अपने उस प्रभाव का प्रयोग कर 'सरस्वती' में राष्ट्र-विरोधी भावनाओं से भरे लेख छपवाना चाहते थे। शुक्ल जी इसका भरसक विरोध करते थे।

शुक्ल जी ने अपने सम्पादकीय काल की अपनी कठिनाइयों, असफलताओं, और सफलताओं का वर्णन अपने **"सम्पादक के २५ वर्ष"** नामक पुस्तक में बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। प्रादेशिक सरकार ने इस पुस्तक पर शुक्ल जी को अपना ८०० रुपये का सर्वोच्च पुरस्कार देकर सम्मानित किया है। यह पुस्तक अपने विषय की अप्रतिम है। इसे पढ़कर उस युग की स्पष्ट झाँकी पाठक के समक्ष प्रस्फुटित हो उठती है।

धार्मिक स्वतन्त्रता के शुक्ल जी बड़े हामी थे। सुन्नी मुसलमान मदहे सहाबा पढ़ते थे, तो शुक्ल जी चाहते थे कि शियों को भी तबर्रा पढ़ने की छूट होनी चाहिए। आर्य-समाजियों, सनातन-धर्मियों, वैष्णवों, शैवों, ईसाइयों सभी के समारोहों का चित्रण 'सरस्वती' में छपता था।

अपने व्यक्ति-गत जीवन में इतना कट्टर, पर सार्वजनिक जीवन में इतना उदार उनके सिवाय मैंने दूसरा व्यक्ति नहीं देखा। हिन्दी-वाटिका जो चारों तरफ पुष्पित, पल्लवित दिखाई पड़ती है और आज उसमें विविध रङ्ग-रूप के फूल खिले दिखते हैं, उन सबके मूल में **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** जी और उनकी परम्परा के लोगों ने अपने को खपाया है। उनका स्थान लेनेवाला आज कोई नहीं है। उनके स्वर्गारोहण के बाद मुझे तो लगने लगा था कि उनके बिना मैं असहाय और अकेला पड़ा हूँ। मात्र इतनी इच्छा है कि आज के पत्रकार उन्हें जानें, मानें और उनके जैसा बनने का प्रयास करें।

'....मनुष्य जहाँ क्षुद्र प्राणी है, वहाँ वह महान् भी है। क्षुद्रता और महत्ता —ये उसकी दो वास्तविक विशेषताएँ हैं। इन्हीं दोनों की परिसीमा में वह अपने जीवन का ताना-बाना फैलाए हुए है और निन्दा तथा प्रशंसा का अधिकारी बनता है। क्षुद्रता से वह निन्द्य ठहरता है और महत्ता से प्रशंसनीय।....'

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ७८

सम्पादक की जन्म-शताब्दी

□ पण्डित अमृतलाल नागर

पण्डित देवीदत्त शुक्ल का नाम हमारी नई पीढ़ियों के लेखक और पाठक, दोनों ही, अब भूल चुके हैं मगर मैं भला क्योंकर भुला सकता हूँ, मेरी नौजवानी के दिनों में यह नाम सलामी तोप के गोले की तरह गूँजता था, **देवीदत्त शुक्ल** सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक थे।

हिन्दी में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक आदि नियत-कालीन पत्रों की खेती इस समय खूब लहलहा रही है। हिन्दी-पत्र का सम्पादक बनने के लिए आज हिन्दी-वाला होना जरूरी नहीं है; यह भी जरूरी नहीं है कि हिन्दी पत्र-पत्रिका का नाम किसी भारतीय भाषा के शब्द में रखा जाय, नाम अंग्रेजी में भी हो सकता है। केवल पत्र की भाषा और लिपि हिन्दी एवं देवनागरी ही होनी चाहिए क्योंकि हिन्दी-देवनागरी बिक्री और प्रसार की दृष्टि से अब अधिक महत्व-पूर्ण हो गई है और अंग्रेजी कम। लेकिन सब होते हुए सम्मान अब भी अंग्रेजी का ही है। हिन्दी आज भी स्वतन्त्र भारत के राज-महलों में 'कौआ हँकनी' रानी बनी हुई है।

विजित जाति की भाषा और संस्कृति विजेताओं के द्वारा किस तरह से कुचली जाकर अपने ही घर में तिरस्कृत हो जाती है, इसका प्रमाण हिन्दी और हिन्दू-संस्कृति है। खैर। जैसा कि अब सब जान गये हैं कि अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और आधुनिक राष्ट्र-बोध के पूर्वार्द्ध-काल में राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी का महत्व बङ्गालियों, गुजराती, मराठी आदि हिन्दी-भाषियों ने माना, लेकिन अपने ही प्रदेश में हिन्दी या हिन्दवी अपनी ही फारसी-शब्द-बहुल 'मणि-प्रवाल' शैली से बराबर हिकारत की नजर से देखी जाती रही और उसका दर्जा ओछा ही बनाए रखा गया। इसलिए हिन्दी की लड़ाई आम-तौर से हिन्दी-वाले को ही लड़नी पड़ी।

अगर बारीकी से देखा जाए, तो इन हिन्दी के उन्नायकों में अध्यापक-पेशा हिन्दू या छापे-खाने के शक्ति-शाली आविष्कार से अपनी विचार-शक्ति को जोड़नेवाले दीवाने लोग ही पत्रकार बनकर हिन्दी की अस्तित्व-रक्षा के लिए जूझते थे। इन आदिम हिन्दी-भक्तों ने अपने पेट काट-काटकर पत्र निकाले हैं। ऐसे दृष्टान्त भी हैं कि स्वयं ही कलम-कर्मी और स्वयं ही उसे प्रेस में कम्पोज करके मशीन पर छाप के स्वयं ही उसके हॉकर भी बनते थे। तब लेखक, पत्रकार बनना वास्तव में तप और कर्म-योग का साधन था।

ऐसे ही एक जुनूनी हिन्दी-सेवक ने आज से लगभग ९९ वर्ष पूर्व उन्नाव जिले के बकसर ग्राम में जन्म पाया था। विधि ने कुछ ऐसा विधान बनाया कि भविष्य

में 'सरस्वती'-सम्पादक होनेवाले इस तपो-निष्ठ ब्राह्मण-कुल के युवक का गाँव 'सरस्वती' के वरद पुत्र और तत्कालीन सम्पादकाचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के ग्राम दौलतपुर से कुल जमा डेढ़ कोस दूर था। गाँवों में यह दूरी कोई दूरी ही नहीं मानी जाती, बक्सर से दौलतपुर पैदल आने या जाने में कुल-जमा ५३ मिनट लगते थे। नियति ने यह संयोग भी बना रखा था कि द्विवेदी जी शुक्ल जी के वैद्य काका के मरीज भी रह चुके थे। दौलतपुर से कानपुर जाने के मार्ग में ही शुक्ल जी का घर भी पड़ता था, इसलिए वे जब-तब वहाँ पधारने की कृपा भी किया करते थे।

देवीदत्त शुक्ल भी पढ़-लिखकर मुदर्रिस ही बने क्योंकि अपनी छात्रावस्था में ही उन्हें हिन्दी की आरम्भिक पत्र-पत्रिकाओं और उगते हुए नए साहित्य को पढ़ने का चस्का लग गया था। लेकिन यह दूर गाँव की अध्यापकी शुक्ल जी के घरवालों को रास न आई। इसलिए इन्हें उसे छोड़ना पड़ा किन्तु गाँव में इनका मन न लगा और ये फिर अलवर रियासत के किसी स्थान में अध्यापक हो गए। घरवालों को यह दूरी भी अच्छी न लगी। उस नौकरी को भी छोड़कर गाँव लौट आना पड़ा। भाई चाहते थे कि **देवीदत्त** गाँव में ही रहकर घर के काम-काज सम्हालें मगर इनको पढ़ने-लिखने का चस्का लग गया था।

संयोग से उन दिनों आचार्य द्विवेदी अपनी अस्वस्थता के कारण इण्डियन प्रेस से छुट्टी लेकर अपने गाँव में ही रहने लगे थे, इसलिए शुक्ल जी प्रायः उनके यहाँ जाते और पढ़ने के लिए पत्र-पत्रिकाएँ भी ले आते थे। इस तरह घर के काम-काज में मजबूरन फँसाया गया शुक्ल जी का साहित्यिक मन कुछ बहला तो अवश्य रहता था लेकिन शायद कोई ऐसा कारण उत्पन्न हो गया कि शुक्ल जी फिर बाहर जाने की सोचने लगे। बड़े भाई ने सोचा कि ये द्विवेदी जी को बहुत मानते हैं, इसलिए उन्हीं से समझाने के लिए कहूँ। उन्होंने ऐसा ही किया भी और घर आकर देवीदत्त जी से कहा कि 'तुम्हें दुबे जी ने बुलाया है, जाओ, उनसे मिल आओ।'

शुक्ल जी द्विवेदी जी के घर तुरन्त गये, उनसे मिले, बातें हुई और जब आचार्य जी ने शुक्ल जी के गाँव में न रहने का कारण जाना, तो गम्भीर हो गए। फिर कहा—'तुम्हारा विचार बहुत ठीक है। इस समय मेरे पास तीन नौकरियाँ हैं—एक कलकत्ते में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी की है, साठ रुपये मासिक और रहने का मकान मुफ्त। दूसरी नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की है, वेतन ७५ रु० मासिक। और तीसरी नौकरी इण्डियन प्रेस की है किन्तु वहाँ वेतन केवल ५० रुपए मासिक ही मिल सकेगा।'

इण्डियन प्रेस की 'सरस्वती' की वीणा की झंकार ही शायद युवा **देवीदत्त जी** के मन-प्राणों में सुनाई दे रही थी, इसलिए उन्होंने ५० रु० मासिक की नौकरी के लिए ही हामी भरी। आचार्य-प्रवर सुन कर हँस पड़े और स्वहस्तोऽयम् अर्जी का मसौदा बनाकर **देवीदत्त** जी से कहा—'इसे अपनी लिखत में लिख दो, मैं संस्तुति कर दूँगा।'

इस प्रकार सन् १९१९ में शुक्ल जी ने इण्डियन प्रेस में प्रवेश किया, 'बाल-सखा' के सम्पादक बनाए गए और सन् १९४५ में 'सरस्वती'-सम्पादक की हैसियत से उन्होंने इण्डियन प्रेस से अवकाश ग्रहण किया।

अपने इन्हीं २५ वर्षों की आत्म-कथा शुक्ल जी ने **'सम्पादक के पच्चीस वर्ष'** नामक पुस्तक में लिखी है, जो मुझे अभी हाल ही में शुक्ल जी के पुत्र 'कुलभूषण' रमादत्त जी के पत्र-सहित उनके चि० पौत्र के द्वारा मिली। इस किताब के बारे में पहले भी सुन चुका था। इसलिए तुरन्त ही उसे पढ़ने बैठ गया। पुस्तक में लगभग आरम्भ ही के किसी अध्याय में शुक्ल जी ने इण्डियन प्रेस के स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष के साथ अपने रिश्ते का जिक्र भी किया है। बाबू साहब बूढ़े थे और अन्धे भी हो गए थे। अपने पुत्रों के द्वारा ही प्रेस-प्रकाशन आदि का काम करवाते हुए वे सारे कारबार पर दिमागी निगरानी रखते थे। शुक्ल जी को 'बाल-सखा' का काम मिला, जिसे वे बहुत जल्द पूरा कर डालते थे, फिर दिन भर क्या करें, इसलिए काम माँगने के लिए मालिक के पास गए। घोष बाबू शुक्ल जी की कर्तव्य-निष्ठा से बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्हें अनुवाद आदि के काफी काम देने लगे।

शुक्ल जी यों तो अधिकतर उनसे मिलने नहीं जाते थे, फिर भी मालिक के बुलाने पर या स्वयं ही कोई बात पूछने के लिए जब-तब घोष बाबू से उनका मिलना हो ही जाता था। काम की बात हो जाने के बाद घोष बाबू थोड़ी-बहुत मजेदार गप-शप भी कर लिया करते थे। एक बार उन्होंने पूछा—'पण्डित जी, आप तो शाक्त हैं ?' इन्होंने हामी भरी। घोष बाबू ने फिर पूछा,—'देवी के अतिरिक्त क्या शालिग्राम भी आपके यहाँ पूजे जाते हैं ?' शुक्ल जी ने इसे भी स्वीकारा। घोष बाबू ने फिर पूछा—'देवी को प्रसाद भी चढ़ाते होंगे ? शालिग्राम को क्या चढ़ाते हैं ?' 'उनके आगे भी कटोरी में थोड़ा-सा रख देता हूँ।'—शुक्ल जी ने कहा। 'राम-राम !' कहकर घोष बाबू विनोदी मुद्रा में दाढ़ी के साथ अपनी उँगलियों से खिलवाड़ करने लगे।

उनकी यह 'मांसाहार की चर्चा' एक बार मेरे साथ भी हुई थी, लेकिन उसे बतलाने से पहले इसी चर्चा पर पुस्तक में वर्णित—'सरस्वती'-सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल और महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जैसे दो धर्म-निष्ठ ब्राह्मणों के बीच में हुई बात कह डालूँ।

घोष बाबू के स्वर्ग-वास पर 'सरस्वती' का श्राद्धाङ्क निकालने की योजना बनी। घोष बाबू और मालवीय जी महाराज के अच्छे सम्बन्ध रहे थे, इसलिए शुक्ल जी उनसे भी लेख माँगने के लिए पहुँचे। पुस्तक में शुक्ल जी लिखते हैं...."उस सम्बन्ध में कुछ न बोले और इधर-उधर की बातें ही करते रहे। कभी हिन्दू-सङ्गठन की, तो कभी किसी विषय की। बातों के सिलसिले में मांस खाने का प्रसङ्ग भी छिड़ गया। इस पर मालवीय जी तमक कर उठ बैठे और कहा—'मैंने किसी ब्राह्मण के मुँह से ऐसी बात नहीं सुनी। बड़े-बड़े डाक्टर कहते हैं कि गेहूँ में इतना विटामिन होता है।'

"मैंने उनको आवेश में देखकर अति विनम्र होकर कहा—'आप तो ऋषि-रूप

हैं। आपकी बदौलत हज़ारों लड़कों को शिक्षा मिल रही है। प्रति वर्ष आप माघ के महीने में सङ्गम पर यज्ञ करते हैं और धर्म का प्रचार करते हैं। आपके समक्ष मिथ्या भाषण करना पाप समझता हूँ। जो बात जैसी है, वैसी ही मैंने निवेदन की है। आप डाक्टरों का मत तो ग्रहण करते हैं परन्तु चरक कहते हैं—'सद्यः बल-करं मांसं'। क्या यह कथन मान्य नहीं हो सकता ?' मेरी बात सुनकर मालवीय जी ने पहले ही की तरह लेटकर मुस्कुराते हुए कहा -- 'तुमसे मिलकर मैं बहुत खुश हुआ हूँ।'...."

सन् '३६ या ३७' में इलाहाबाद जाने पर मैं पहली बार शुक्ल जी के दर्शनार्थ इण्डियन प्रेस गया। क्लीन शेव्ड, गौर-वर्ण, कपाल पर कुंकुम का गोल तिलक—शुक्ल जी कुर्सी पर दोनों पैर उठा कर बैठे हुए हथेली पर तम्बाकू मल रहे थे। प्रणाम किया, परिचय दिया।

"हाँ, 'माधुरी' में आपकी दो-एक रचनाएँ देखी हैं।" फिर चुप। हथेली-अँगूठे की 'मिक्सी' अपना काम करती रही। फिर पूछा—"नागर ब्राह्मण हैं ?" छोटे-छोटे प्रश्नों के छोटे-छोटे उत्तरों का सिलसिला चल पड़ा। पूज्य-वर जाने किस मौज में थे कि सुरती मलते जायँ और चुट-पुट प्रश्न पूछते जायँ। उन्होंने मेरा वेद पूछा, उसकी शाखा पूछी, गोत्र पूछा, प्रवर पूछे। यहाँ तक तो बचपन में अपने बाबा की रटाई विद्या काम आ गई परन्तु जब उन्होंने पञ्च प्रवर के ऋषियों के नाम पूछे, तो चुप हो गया। नौजवानी के दिन, नई सङ्गत, नए विचार थे। किसी अन्य सम्पादक या वयोवृद्ध साहित्यिक से कभी इस प्रकार की बातें हुई भी नहीं थीं। इसलिए मन में कुछ-कुछ झुंझलाहट होने लगी। उधर शुक्ल जी की हथेली-फैक्ट्री पर फट्-फट् दो फटाके हुए और उसके साथ ही उनका प्रश्न भी फटाकेदार ही हुआ। शुक्ल जी ने पूछा—"जगदम्बा के उपासक हो ?"—"जी हाँ ?"

"कभी महाप्रसाद ग्रहण किया है?"

पहले तो समझा ही नहीं, फिर समझ कर सविनय किन्तु झटके से उत्तर दिया—"जी नहीं।" शुक्ल जी की नाक चढ़ गई। फिर पण्डित रूपनारायण पाण्डेय, निराला जी, दुलारेलाल भार्गव आदि के सम्बन्ध में बातें करने लगे। मली हुई खैनी उनके मुँह में चहलकदमी करके होंठों में दब चुकी थी और वे कुर्सी से पैर नीचे उतार कर मेज पर रखे अपने काम की तरफ उन्मुख भी हो चले थे। थोड़ी देर की इस भेंट के बाद मैं उन्हें प्रणाम करके चला आया।

पुस्तक में दो बार मांस-चर्चा पढ़कर अपनी बातों की याद आई। पूज्य मालवीय जी की तरह मैं भी तब यही समझता था कि ब्राह्मण मांसाहारी नहीं होते हैं लेकिन अब जानता हूँ कि ब्राह्मणों में भी शाकाहारी कम हैं। इस देश को मुख्य रूप से शाकाहारी समझना भूल है। बहरहाल, उस समय भी शुक्ल जी मुझे बहुत मजेदार आदमी लगे थे।

एक बार सन् '४२ के अन्त या '४३ के आरम्भ में मैंने उन्हें शायद कटरे (इलाहाबाद) में राह चलते देखा। आगे बढ़कर चरण छुए और अपना नाम बतलाया।

तब तक तीन कहानी-संग्रहों का लेखक और 'चकल्लस' का प्रकाशक-सम्पादक ही नहीं बन चुका था बल्कि दो-तीन फिल्मों के सम्वाद भी लिख कर कुछ ख्याति-लब्ध हो चुका था। शुक्ल जी महाराज मुझसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। मुझे उन्नति करते देखकर वे बहुत ही प्रसन्न थे। हिन्दी में नये सुलेखकों की बढ़ोत्तरी देखकर वे प्रसन्न होते थे। 'सम्पादक के पचीस वर्ष' पुस्तक पढ़ते हुए जगह-जगह उनके ऐसे उद्‌गार फूट पड़े हैं। एक जगह उन्होंने हिन्दी-साहित्य की चर्चा करते हुए लिखा है—

"....हिन्दी की वर्तमान प्रगति को देखकर कौन हिन्दी-प्रेमी सन्तोष की साँस न लेगा। उसका सामयिक साहित्य अप-टु-डेट हो गया है और स्थायी साहित्य का भण्डार दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। हिन्दी के गौरव की भी वृद्धि हो रही है। और यह प्रगति उन दस-पाँच इनी-गिनी संस्थाओं तथा सौ-डेढ़ सौ लेखकों के सतत अध्यवसाय और अनवरत परिश्रम का सुफल है, जो गत ४०-५० वर्ष से हिन्दी के क्षेत्र में, बिना राजाश्रय तथा पूँजीपतियों की सहायता के, दत्त-चित्त होकर लगे रहे हैं। ऐसी दशा में इन संस्थाओं तथा लेखकों का हिन्दी के प्रेमियों को कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि आज एक-मात्र उन्हीं के घोर परिश्रम के फल-स्वरूप हिन्दी इस स्थिति को पहुँच गई है कि वह देश की किसी भी उन्नत प्रान्तीय भाषा के समकक्ष बैठ सकती है। यही क्यों, वह वर्तमान स्वराज्य-युग की प्राप्त सुविधाओं का सदुपयोग करने को भी नवीन उत्साह और उमङ्ग के साथ तैयार हो रही है। और उसके इस इंगित से यही प्रतीत होता है कि वह अपने महान् भविष्य के निर्माण में और भी अधिक सफलता प्राप्त करेगी, क्योंकि उसको सबके अधिक राज्य और धनिकों की अपेक्षा जनता का सहयोग प्राप्त है....।"

'सरस्वती' में नए लेखकों की रचनाएँ वे बड़े उत्साह से छापते थे। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने उस समय के जाने कितने नए लेखकों के नामों का उल्लेख जी खोल कर किया है। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के खिलाफ जब चौबे बनारसीदास जी ने अपना घासलेटी प्रचार 'विशाल भारत' में आरम्भ किया, तो शुक्ल जी ने 'सरस्वती' में सम्पादकीय लिखकर उग्रजी की प्रशंसा की। ऋषभचरण जैन, चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार आदि अनेक लेखकों की सराहना उन्होंने अपनी पुस्तक में की है। महाकवि स्वर्गीय सुमित्रानन्दन पन्त की, हिन्दी-साहित्याकाश में उगते हुए नक्षत्र की तरह, उन्होंने चर्चा की है। जैन बोर्डिंग हाउस में हुए कवि-सम्मेलन का जिक्र भी उन्होंने अपनी पुस्तक में किया है, जब उसके अध्यक्ष कवि-सम्राट् पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने नवोदित कवि पन्त की कविता सुनकर अपने गले का हार उतार कर उन्हें पहना दिया था। पुराने लेखकों में पण्डित कामताप्रसाद गुरु, श्री पदुमलाल बख्शी और कविवर ठाकुर गोपालशरण सिंह के प्रति भी अपना आदर-भाव प्रकट किया है।

हिन्दी पर मुस्लिम लीग ने हमला किया। लीग ने कांग्रेस के साथ अपने समझौते की एक शर्त यह भी रखी थी कि वह हिन्दी को आगे बढ़ाने की नीति से विमुख

होकर उर्दू का प्रचार करे। गांधी जी ने अपने 'हरिजन-सेवक' में हिन्दी का पक्ष छोड़कर हिन्दोस्तानी को आगे बढ़ाने की बात लिखी। इस पर शुक्ल जी ने, जो हिन्दी-प्रचारक गांधीजी के बड़े भक्त थे, 'सरस्वती' में सम्पादकीय लेख लिखकर उन्हें भी बाअदब नहीं बख्शा। इस पर सम्पूर्णानन्द जी ने पत्र लिखकर बापू से सफाई माँगी थी, जिसका उल्लेख भी उन्होंने अपनी इस पुस्तक में कर दिया है। शुक्ल जी साम्प्रदायिक सद्भावना के समर्थक होते हुए भी कट्टर हिन्दी-भक्त थे। हिन्दी पर जहाँ कहीं भी तनिक आँच पड़ते देखी कि शुक्ल जी अपने आपको रोक नहीं पाते थे। ऐसी हिन्दी-निष्ठा अब कम ही दिखलाई पड़ती है।

इस पुस्तक के अनुसार प्रेमचन्द के उपन्यासों के विरुद्ध उस समय के एक प्रतिभाशाली, गणित के विद्वान् और साहित्य-क्षेत्र के भी महत्वाकांक्षी लेखक पं० अवध उपाध्याय की एक लेख-माला भी उन्होंने 'सरस्वती' में छापी थी। प्रेमचन्द उन दिनों मध्याह्न के सूर्य की तरह चमक रहे थे। किसी बातचीत के दौर में उनकी और प्रेमचन्द जी की ठन गई। उपाध्याय जी ने उनसे बदला लेने की ठानी। वे लखनऊ से श्री दयाशाङ्कर दुबे से परिचय-पत्र लेकर इलाहाबाद में शुक्ल जी से मिले, कहा—"मैं विरोध में आलोचना करूँगा, आप छापेंगे ?"

शुक्ल जी ईमानदार सम्पादक की तरह बोले—"अगर कोई अनुचित बात न हुई, तो अवश्य ही छापूंगा।"

उपाध्याय जी ने उनके साहस की और भी परीक्षा ली, पूछा—"रवीन्द्रनाथ की 'आँख की किरकिरी' के विरुद्ध यदि कुछ लिखूं, तो क्या आप छापेंगे ?"

बङ्गाली मालिक के पत्र के सम्पादक शुक्ल जी के लिए उनकी यह बात चुनौती-सी थी परन्तु शुक्ल जी ने उसे भी सहज भाव से ग्रहण किया और फिर वही उत्तर दिया। इस पर उपाध्याय जी ने पहले तो 'आँख की किरकिरी' का श्राद्ध किया, फिर प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की तृप्यन्ताम् करने लगे। हिन्दी-जगत् में सनसनी फैल गई। कुछ गर्म-मिजाज के 'प्रेमचन्दियों' ने दफ्तर में आकर शुक्ल जी से बहसें भी कीं और कहा कि "हम उपाध्याय जी के विरुद्ध लिखें, तो आप छापेंगे ?" सम्पादक शुक्ल जी डट कर बोले, कहा—"यदि प्रेमचन्द जी स्वयं इसके विरुद्ध लिखेंगे, तो मैं छापूंगा। अन्य किसी का लेख नहीं छापूंगा।" बात यहाँ तक पहुँची कि एक दिन प्रेमचन्द जी स्वयं शुक्ल जी से मिलने आए। खैर। अन्त में प्रेमचन्द जी और अवध उपाध्याय की आपसी खुट्टी मिट्ठी में बदल गई।

हिन्दी के द्वितीय उत्कर्ष-काल में आलोचनाएँ अक्सर बड़ी तीखी हुआ करती थीं। कभी-कभी तो पण्डित पहलवान किसी पत्र-पत्रिका के अखाड़े में अपनी-अपनी दङ्गली करामातें दिखलाने से कमाल की गर्मी दिखलाते थे। 'कुछ खरी-खरी' पुस्तक में शुक्ल जी ने अपने ऐसे लेखों का संग्रह किया है। सन् १९१७ से लेकर १९३८ तक उन्होंने ऐसे लेख भी लिखे थे, जो छद्म नामों से 'सरस्वती', 'अभ्युदय', 'माधुरी' और 'मदारी' में छपे थे। इनमें उन्होंने स्वनाम-धन्य 'मिश्र-बन्धुओं की भद्दी भूलें' और

'मिश्र-बन्धुओं का धर्म-तत्व' लिखकर उनकी खासी खिंचाई की थी। परन्तु मैंने इन दोनों पुस्तकों में यह भी देखा कि शुक्ल जी व्यक्ति-गत ईर्ष्या-द्वेष के कारण किसी की आलोचना नहीं करते थे। वे ईमानदारी से जिसे गलत समझते थे, उसी पर आपत्ति करते थे।

प्रेमचन्द के उपन्यासों और उनके द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित 'हंस' के बड़े प्रशंसक होते हुए भी शुक्ल जी ने अवध उपाध्याय की आलोचनाएँ छापीं। इसका कारण यही था कि उपाध्याय जी ने शुक्ल जी के मतानुसार उचित तर्क देकर अपने मत को पुष्ट किया था। सम्पादक अपने विवेक से जो उचित समझेगा, उसे अवश्य लिखेगा, यह निष्ठा शुक्ल जी में खूब देखी जा सकती है। हिन्दी के साहित्य और पत्रकारिता के द्वितीय उत्कर्ष-काल के भूले-बिसरे चित्रों और विवादों की याद दिलाकर ये पुस्तकें हमें अपने विकास-क्रम को देखने और समझने में बड़ी सहायक सिद्ध होती हैं। भले ही पाँच-पाँच सौ प्रतियों के सही, पर ऐसी पुस्तकों के नए संस्करण अवश्य प्रकाशित होते रहने चाहिए। काल की अँधेरी गली में राह सुझाने के लिए ये पुस्तकें मशालों का काम करती हैं।

शुक्ल जी की एक पुस्तक 'अवध के गदर का इतिहास' मैंने सन् १९५७ में अपनी 'गदर के फूल' नामक पुस्तक लिखते समय पढ़ी थी। मैंने यह देखा कि अपने काम का मसाला जुटाने में वे बड़ी मेहनत करते थे। उन्होंने अपनी आँखों से इतना काम लिया कि बेचारे अन्त काल में अपनी आँखें ही गवाँ बैठे थे। सन् ४२-४३ में जब मैं दूसरी बार उनसे मिला था, तब वे बहुत चुँधियाकर देखने लगे थे, बाद में तो अन्धे ही हो गये। इसके बावजूद वे बोल कर लिखाते रहे और अपना 'चण्डी' नामक पत्र भी प्रकाशित करते रहे। कभी खाली नहीं बैठे।

जन्म-शताब्दी के अवसर पर हिन्दी के ऐसे कर्मठ सेनानी को, जिन्हें उनके समकालीन स्व-नाम-धन्य लेखकों ने भी अपने संस्मरणात्मक लेखों में आदर और प्रेम के साथ बखाना है, हिन्दी का यह अकिंचन सेवक भी अपनी शत-शत श्रद्धांजलियाँ अति विनम्र भाव से अर्पित कर रहा है।

●

'....हिन्दी आज की नहीं है। उसका अपना भव्य इतिहास है; उसकी अपनी अटूट परम्पराएँ हैं; उसका अपना विशाल साहित्य है और सबसे अधिक यह बात है कि उसके लिखनेवालों की संख्या ८ करोड़ और उसका व्यवहार करनेवालों की संख्या १८ करोड़ है। ...'

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ८८

श्रद्धेय पं० देवीदत्त जी शुक्ल : पुण्य-स्मरण

□ श्री महेशचन्द्र 'सरल'

तपः-पूत भारत-माता के, 'सरस्वती' के सेवक,
राष्ट्रीय-गौरव के रक्षक, भावों के अन्वेषक।
वीतराग-सम, साधक थे, बहु-आयामी प्रतिभा के,
ज्योति-पुञ्ज, साहित्य-पुरोधा थे, भाषा-बगिया के।
अपने युग के महा-मान्य थे, प्रखर और मेधावी,
सहिष्णुता की मूर्ति रहे थे, शिक्षक पीढ़ी भावी।
नई दिशा का ज्ञान प्रसारा, जो भी याचक आया,
कितने रचनाकार बनाये, जग में सुयश कमाया।
प्रज्ञा-चक्षु बन गये, फिर भी नहीं शिथिलता आई,
आत्म-प्रचार न भाया, की कर्मठता की अगुआई।
'महा-वीर' के महा-रथी थे, व्रत को पूर्ण निभाया,
स्वस्थ लेखनी, स्वस्थ विचारों, को ही था दर्शाया।
एक-निष्ठ, त्यागी, आराधक, फिर-फिर क्या आएँगे,
राष्ट्र और भाषा के ध्वज को, कर प्रणाम गाएँगे ?
हो स्वीकार नमन, गुरुवर हे ! भावाञ्जलि अर्पित है,
हे साहित्य-मनीषी ! संस्मृति में, भावुक संसृति है।

•

पण्डित देवीदत्त शुक्ल—एक संस्मरण

□ पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'

यादों के धुंधले अलबम में बहुत सारे संस्मरणात्मक चित्र होते हैं; जो व्यक्ति की विभिन्न मुद्राओं को अनजाने में भी प्रकाशवान बना देते हैं।

मैं जब प्रयाग जाया करता था, तो हमारा निकट का सम्बन्ध सबसे प्रथम पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी से रहा, **'सरस्वती'** को लेकर, जिसका स्वस्थ निष्पक्ष एवं निखरता प्रकाशन था और **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** जिसका शुद्ध सम्पादन कर रहे थे।

मैं हिन्दी का लेखक, कवि हूँ। इसके साथ ही रेखा-चित्र बनाने का भी मुझे बेहद शौक रहा, जो कभी 'सरस्वती' में भी देखा जा सकता है। और साथ ही प्रयाग से प्रकाशित 'चाँद' पत्र में भी। 'सरस्वती' पत्रिका का मैं रचनाकार भी रहा। इस कारण हमारा और श्री पण्डित जी का सम्बन्ध बराबर गहरा होता गया।

'सरस्वती' का प्रकाशन बन्द हुए बहुत दिन हुए। प्रयाग से हमारा लगाव तब तक रहा। श्री पण्डित देवीदत्त शुक्ल हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों को बराबर प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते थे। मृदु-भाषी व्यक्तित्व और हिन्दी के प्रबल प्रचारक।

साहित्य व्यक्तित्व का जो निर्माण करता है, वह व्यक्ति के न रहने पर भी **विनष्ट** नहीं होता। इसी नाते हम कह सकते हैं कि श्री शुक्ल जी की भाव-प्रवण विविध मुद्राएँ आज भी दृष्टि-गत हैं, जो उनसे ओजस्वी व्यक्तित्व की याद ही नहीं दिलातीं, वरन् उसे जीवन्त भी कर देती हैं। आइए, उन भंगिमाओं का अवलोकन करते हुए उन महान् राष्ट्र-पुरुष देवीदत्त शुक्ल जी को हम अपने भाव-सुमनों की पुष्पाञ्जलि अर्पित करें।

अपने प्रबल व्यक्तित्व के कारण श्री शुक्ल जी ने ख्याति प्राप्त की। स्वयं ही अल्प समय में इसका परिचय दिया है।

नवोदित सूर्य-घटा से मुक्त कवि की एक वङ्किम मुद्रा ही इन पंक्तियों में अङ्कित है।

अहं को ही विशेष रूप से भासित किया है, जो भीतर के अहम् को प्रदीप्त करते हुए उसे पर-अहम् के स्तर पर प्रतिष्ठित करते हुए प्रत्येक दीप्तिमान् व्यक्तित्व का अभिनन्दन करता है।

श्री शुक्ल जी का ओजस्वी व्यक्तित्व सूर्य की तरह प्रबल है। यह सूर्य आकाश में उदित होनेवाला नहीं, धरती को चीर कर निकलनेवाला सूर्य है।

जिसे धरती की खुशबू बहुत ही प्यारी है। इतनी प्यारी कि राज-वाटिका छोड़कर वन-फूलों की ओर दौड़ पड़ता है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माण और प्रचार एवं प्रसार का माध्यम 'सरस्वती' रही। श्री शुक्ल जी निष्ठावान्, त्यागी साहित्यकार की तरह सरस्वती का सम्पादन करते रहे। इस तरह हिन्दी के लिए उन्होंने अपने जीवन का बहु-मूल्य समय हिन्दी-साहित्य को प्रदान किया है। हम इन्हें श्रद्धा के दो फूल अर्पित करते हैं।

●

'....हिन्दी में उपयुक्त शब्दों के होते हुए भी अंगरेजी या किसी दूसरी भाषा के शब्दों का प्रयोग करना केवल दम्भ एवं दास-मनोवृत्ति का सूचक है।... लिखने की तरह बोलने में भी भाषा की विशुद्धता का ध्यान रखना चाहिए।....'

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ९१

'....गत पन्द्रह वर्षों के भीतर हिन्दी की अभूतपूर्व उन्नति हुई है। यहाँ तक कि वह बंगला और मराठी जैसी उच्च भाषाओं से स्पर्धा करने लगी है। वास्तव में हिन्दी में संस्कृत सुरुचि का प्रकाश और प्राञ्जल भावों का काफी विकास हो गया है। फलतः उसके साहित्य में मौलिकता आ गई है (जनवरी, १९२५)।....'

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ९९

'....हमारे बीच में पहले के लेखक तो मौजूद ही हैं, नए भी बहुत से उठ खड़े हुए हैं। पर क्या कोई उन्हें जानता है?....जानें भी कैसे? हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों के लेखकों में धड़े-बन्दी जो है। वे अपनी-अपनी टोली के लोगों में से किसी को कवि, तो किसी को नाटक-कार जैसा कुछ निर्दिष्ट कर वर्तमान समय के अध्याय को पूरा कर देते हैं।...'

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ७९

सफल सम्पादक : स्व० पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ श्री सुरेश सिंह

हिन्दी के वयोवृद्ध लेखक तथा 'सरस्वती' के सफल सम्पादक **श्री देवीदत्त जी शुक्ल** का पुण्य स्मरण होते ही उनका भरा-पूरा गोल चेहरा, दोहरा बदन, माथे पर का बड़ा-सा लाल टीका, आधी आस्तीन का कुरता, मेज पर रखी दुपल्ली टोपी और बड़ी-सी थैली तथा सहज मुसकान आँखों के सामने आ जाती है। जो उनसे एक बार भी मिला, वह उन्हें कभी नहीं भुला सका।

जब वे 'सरस्वती' के सम्पादक थे, मुझे अक्सर इण्डियन प्रेस जाना पड़ता था, वहाँ जाने पर भाई श्रीनाथ सिंह तथा पूज्य लल्लीप्रसाद जी से मिले बिना कभी नहीं लौटता था।

शुक्ल जी के कमरे में घुसते ही बड़े प्रेम से मिलते थे। जब मैं उनके चरण छूने के लिए झुकता, तो फौरन मेरा हाथ पकड़ कर कहते, "ई का करत हो कुँवर साहब, हमका बहुत संकोच होत है।"

जब मैं कहता कि उनके पैर न छूने पर मुझको कितना दुःख होगा, तो मुस्करा कर कहते, "अच्छा भाई, जौन मन होय करो। राजा करै सौ न्याव, पाँसा परै सो दाँव।"

और फिर बातों का सिलसिला चलने लगता। मेरे प्रसाद माँगने पर वे प्रेम से अपनी थैली खोलकर दोहरा बनाते-बनाते कहते, "हमरे रायबरैली अउर परतापगढ़ माँ ऐसन कउनउ मनई न होई, जे थैली न बाँधत होय। हम तो थैली देखिन के चीन्ह लेइत है कि या तो ई हमरे जिला के होई या आपके परतापगढ़ के।"

मैं जब कहता, "शुक्ल जी, हमारे जिले की एक दूसरी पहचान भी है। न सौ पढ़ा, न एक परतापगढ़ा", तो खूब हँसते। ऐसा निरभिमानी, विनम्र और स्पष्ट-भाषी व्यक्ति बड़े भाग्य से ही मिलता है।

एक बार उन्होंने कहा, "आज काल्ह का लिखत हो? हमरे 'सरस्वती' के बरे कउनव लेख भेजौ।"

मैंने कहा, "शुक्ल जी, आजकल मैं चिड़ियों पर कई वर्षों से पढ़ रहा हूँ और अपने देश की चिड़ियों पर हिन्दी में एक पुस्तक लिखना चाहता हूँ। आप कहें, तो चिड़ियों पर एक लेख भेज दूँ!"

शुक्ल जी ने कुछ उदासी से कहा, "का चिरई चुनूंगन पै लिखत हौ! कौनो गम्भीर विषय पर लिखौ, तो 'सरस्वती' माँ छापे माँ आनन्द आवै।"

मैंने कहा, "मैंने तो शुक्ल जी, अब यही निश्चय किया है कि अपना सारा

जीवन जीव-विज्ञान के अध्ययन में ही लगाऊँगा और हिन्दी-साहित्य के इस अछूते अंग की पूर्ति करूँगा।"

शुक्ल जी की आँखें हर्ष से चमक उठीं। बोले, "अइस सङ्कलप हमरे देश के लेखक कइ लेंय अउर एक-एक विषय पर आपन जीवन लगाय देंय, तो हमरो साहित्य केहू से पाछे न रहै। अच्छा, आपन लेख भेज देव। छाप देब।"

लेकिन मैंने वह लेख 'सरस्वती' में नहीं भेजा क्योंकि मुझे ऐसा लगा कि वे सङ्कोच-वश उसे छापना चाहते हैं। मैंने उसे 'विशाल भारत' में भेजा क्योंकि मैंने सुना था कि उसके सम्पादक श्री श्रीराम शर्मा जीव-विज्ञान में काफी रुचि लेते हैं। मेरा लेख था बतखों पर।

श्री श्रीराम शर्मा जी ने उसे 'विशाल भारत' के विशेषाङ्क में सबसे पहला स्थान दिया और उसके साथ कई रङ्गीन और सादे चित्र देकर उसे खूब सजा दिया! मुझे यह देख कर बहुत सन्तोष और प्रसन्नता हुई।

शुक्ल जी ने वह लेख 'विशाल भारत' में देखकर मुझे लिखा—

प्रिय कुँअर साहब,

आपका लेख 'विशाल भारत' में देख कर बहुत प्रसन्नता हुई। बधाई। आपने ठीक ही किया, जो उसके सच्चे पारखी के पास उसे भेजा। मैं उसको इतने सुन्दर ढंग से न छाप पाता। समय मिले, तो 'सरस्वती' के लिये भी कुछ भेजें।

शुभैषी,
देवीदत्त

उनकी इस उदारता को देखकर मेरा हृदय उनके प्रति श्रद्धा से भर गया। मैंने उनको लिखा कि मैं शीघ्र ही कुछ-न-कुछ लिखकर सेवा में भेजूँगा।

लेकिन मेरा दुर्भाग्य कि उसके कुछ ही दिनों बाद बड़े भाई राजा अवधेश सिंह जी का स्वर्गवास हो गया। हम लोग शोक-सागर में डूब गए। कुछ दिनों बाद मैंने उन पर एक लेख लिखा और शुक्ल जी को देने प्रयाग गया, लेख पढ़कर उनके आँसू बहने लगे। भाई साहब को वे बहुत मानते थे। आँसू पोंछ कर वे भरे हुए कण्ठ से बोले, "कुँअर साहब, अपने जीवन में हमें यह लेख छापना पड़ेगा, ऐसा मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। राजा साहब को खोकर हम लोग अनाथ हो गए हैं।"

रायबरेली जिले के डौंड़ियाखेरे के राव रामबख्श सिंह ने सन् '५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम में अंग्रेजों से मोर्चा लिया था और शहीद हो गए थे। वे कालाकाँकर के राजा हनुमन्त सिंह (हमारे पर-दादा) के सम्बन्धी थे। शुक्ल जी भी वहीं के रहनेवाले थे। इसलिए जब मैं उनसे मिलता, तो डौंड़ियाखेरे की चर्चा जरूर होती। शुक्ल जी कहते, "कैसी अद्भुत जोड़ी थी राजा हनुमन्त सिंह और राव रामबख्श सिंह की। दोनों आजादी के मतवाले। जहाँ राजा हनुमन्त सिंह ने उस स्वतन्त्रता के महा-यज्ञ में अपने ज्येष्ठ पुत्र की आहुति दे दी, वहीं राव रामबख्श सिंह स्वयं उसमें स्वाहा हो गए।"

राव रामबख्श सिंह के वंश में केवल शम्भुभान सिंह बचे थे। उनकी आर्थिक दशा बहुत खराब थी। शुक्ल जी को यह देखकर बहुत दुःख होता था। उनकी सहायता के लिए एक बार उन्होंने मुझे एक पत्र भी लिखा।

श्रीमान् कुँवर साहब, १ जुलाई १९४१

भगवती आपका कल्याण करें। ठाकुर श्रीनाथ सिंह से आपके कुशल-समाचार पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आज आप से कुछ निवेदन करना है। आशा है, उस पर ध्यान देने की कृपा करेंगे।

डौंड़ियाखेरे के राव-घराने की मैंने आपसे प्रायः चर्चा की है। आज-कल उनकी बहुत ही दयनीय दशा हो गई है। उनके घर में लाल शम्भुभान सिंह नाम के एक नवयुवक हैं। सारे कुटुम्ब के भरण-पोषण का भार इन्हीं पर है। घर में जो कुछ बच रहा था, उसी को बेच-बेचकर ये अभी तक कुटुम्ब का पालन करते रहे हैं। अब घर बिलकुल खाली हो गया है। कहीं नौकरी करना चाहते हैं। साहित्य से थोड़ा-बहुत अनुराग है और लिखने का भी शौक है। यदि आप इन्हें अपने अधिकार में कोई जगह दे दें, तो इनका काम चल जा सकता है। मुझे लिखा है कि ३० रु० मासिक मिलने पर अपना काम चला लेंगे।

पूर्ण विश्वास है कि आप उनकी इस अवस्था पर ध्यान देने की अवश्य कृपा करेंगे। उनका पत्र भी सेवा में भेज रहा हूँ। कृपा-भाव बना रहे।

शुभैषी विनीत

देवीदत्त

मैंने उत्तर दिया कि यदि वे एक बार कालाकाँकर पधारें, तो उनके पवित्र चरण इस ग्राम में पड़ जाएँ और श्री शम्भुभान सिंह के लिए भी कुछ हो जाए। वे बाहर बहुत कम जाते थे लेकिन उनकी सहायता की आशा से वे यहाँ पधारे। राजा साहब ने उनके कहने पर शम्भुभान सिंह जी को सपरिवार यहाँ बुला लिया और बहुत सम्मान के साथ यहाँ रखा। शुक्ल जी तब से भाई साहब का बहुत सम्मान करते थे।

उन्होंने राजा साहब के जीवन पर प्रकाश डालनेवाला मेरा यह लेख 'सरस्वती' में सर्व-प्रथम स्थान देकर छापा और साथ में उनके कई चित्र भी दिए।

विधि के विधान को कोई भी नहीं टाल सकता। उसके बाद उनसे कई बार भेंट हुई। लेकिन बहुत दिनों से न तो उनका समाचार ही मिला, न उनके पत्र ही आए। कई मास पूर्व एक दिन के लिए भाई ज्योतिप्रसाद जी मिश्र 'निर्मल' यहाँ आए, तो उनसे ज्ञात हुआ कि वे अब देख भी नहीं पाते। उनके दर्शनों की बड़ी लालसा थ, लेकिन आलस्य-वश प्रयाग न जा सका और वे हम लोगों को छोड़कर सदा के लिए चले गए।

●

गुरुदेव की स्मृति

□ **श्री ओंकार शरद**

पुरानी बात है, यही बयालीस साल पहले। सन् १९४४।

सन् बयालिस के आन्दोलन के बाद, जेल से छूट कर आया था।

तब मेरे सामने एक ही प्रश्न था—अब आगे क्या? भविष्य-जीवन की कोई स्पष्ट योजना न थी। कालेज जा नहीं सकता था। राजनीति ठण्डी थी। करने को कुछ था नहीं। लेकिन जेल से ही, मन-ही-मन निश्चय करके आया था कि सम्पादक बनूँगा। अखबार निकालूँगा। लेकिन यह सब कैसे होता है, इसका क-ख-ग भी नहीं मालूम था।

भाग्य की बात। थोड़ा हाथ-पाँव मारा इधर-उधर। कोशिश की। और घटना-चक्र कुछ ऐसा बना कि एक दिन एक सिलसिले से प्रयाग के, तब के, साहित्य-प्रकाशन-केन्द्र इण्डियन प्रेस के मालिक स्व० पटल बाबू के सामने खड़ा होना पड़ा। उन्होंने थोड़ी बातों के बाद ही मुझे 'काम सीखने के लिए' अपने सम्पादकीय विभाग में जगह दे दी।

मैं साहित्य व पत्रकारिता की दुनिया से एकदम अनजान। वहाँ जाकर जाना—वहाँ थे तब के सम्पादकों में—**पं० देवीदत्त शुक्ल**, ठाकुर श्रीनाथ सिंह, निर्मल जी, उमेशचन्द्र मिश्र, नरोत्तम नागर और अनन्तप्रसाद विद्यार्थी। सबसे परिचय हुआ, एकदम रस्मी ढंग से। मैं समझ गया—इन्हीं महारथियों से मुझे सब सीखना होगा।

पं० देवीदत्त जी को छोड़ कर सभी ने मेरे प्रति अपनापन दिखाया। लगा कि मेरे प्रति शुक्ल जी उदासीन हैं। मैं भी समझ गया कि ये बुढ़ऊ बहुत गम्भीर प्रकृति के हैं और मुझ जैसे नये उम्र के युवक के प्रति उन्हें दिलचस्पी नहीं है।

इण्डियन प्रेस आते-जाते हफ्तों बीत गये। तब अनुभव हुआ कि जिन लोगों ने प्रारम्भ में मेरे प्रति अपनापन दिखाया था, वह सब ऊपरी बात थी। कोई मुझे काम सिखाने में दिलचस्पी नहीं रखता। मेरा आना-जाना बस यों ही होता। जाता और पूरे दिन बैठा रहता। सभी अपने-अपने काम में व्यस्त रहते। मुझे लगा कि मैं गलत जगह फँस गया हूँ और समय की बरबादी ही कर रहा हूँ। सोचता और बैठा-बैठा शुक्ल जी को निहारता रहता। अपेक्षाकृत वे कम ही व्यस्त दिखते। ज्यादातर समय वे टाँगें कुरसी पर चढ़ाए, उँकड़ू बैठे, मेज पर धरे बटुए से निकाल कर सरौते से सुपाड़ी काटते और उसमें कत्था-चूना मिला कर फाँकते रहते। बीच-बीच में अपने सहयोगियों से कभी-कभार कुछ बोल-बतिया लेते।

मुझे शुक्ल जी का व्यक्तित्व बड़ा रहस्य-मय लगता । और व्यक्तित्व भी क्या ! गाँव-देहात का कोई पण्डित हो जैसे । गुठनों तक ऊँची, धोती, फतुही और पुरानी-गिजी बेतरतीब दुपलिया टोपी ! आँखें कुछ कमजोर थीं, तभी कभी लिखते-पढ़ते तो कागज को आँखों के बहुत निकट रखते । एक लकुटिया लिए आते, कमरे के कोने में उसे खड़ी करते और निर्विकार भाव से अपनी कुर्सी पर टाँगें चढ़ा कर बैठ जाते और सुपाड़ी कतरने लगते । मुझसे तो बोलते ही नहीं थे । और दफ्तर का समय बीतते ही अपना सुपाड़ी-कत्था-चूना समेटकर बटुआ जेब में रखते और लठिया उठा कर चल देते ।

हफ्तों बीते, एक दिन जाने क्या सोच उन्होंने मुझसे पूछा, "कहो, उदास काहे बइठे हो ?"

मुझे आश्चर्य हुआ । मुझी से पूछ रहे हैं, यह समझ कर, शक्ति जुटा कर मैंने कहा, "क्या करूँ पण्डित जी, मुझे कोई काम ही नहीं बताता । बेकार बैठा रहता हूँ ।"

"काम करिहौ ? इधर आवौ । ई कुरसी पर बैठव और ई प्रूफ देखौ तो ।"

अपने सामने की कुरसी को दिखा कर और अपने सामने रखे 'सरस्वती' के कुछ प्रूफों को मेरी ओर बढ़ाते हुए उन्होंने कहा था । मैं उनके द्वारा बताई कुर्सी पर जा बैठा और प्रूफ के कागज अपनी ओर खींच कर एकाग्र भाव से उन्हें देखने लगा ।

थोड़ी देर बाद शुक्ल जी ने कुछ समझ कर पूछा, "का प्रूफ देखैं नाहीं जानतेव ?"

सचमुच मैं अनजान था । प्रूफ देखना नहीं जानता था । मैंने बड़े सङ्कोच से सिर हिला कर अपनी असमर्थता जताई । तब शुक्ल जी ने कहा, "लेव देखौ, हम बताई ।"

कह कर प्रूफ का एक पृष्ठ खींच कर कलम से यहाँ-वहाँ कुछ अजब-से निशान बनाते हुए उन्होंने मुझे प्रूफ-संशोधन सिखाना शुरू किया ।

उनसे निशानों की पहचान पाकर मैंने एकाग्र मन से कई पृष्ठों के प्रूफ करीब एक घण्टे में देख कर उनकी ओर बढ़ा दिए । उन्होंने उनमें संशोधन करके कहा, "अभ्यास करिहौ, तो शुद्ध-शुद्ध देखैं लगिहौ । कल से तुम येही जगह बइठा करौ और हम जौ बताई, ऊ किया करौ । जल्दी हम सब सिखाय देब ।"

मुझे तो मन-माँगी मुराद मिली । लगा कि मुझे स्वतः एक गुरु मिल गए और मैं अपनी इच्छित मंजिल पर जल्दी ही पहुँच जाऊँगा । मेरा मन शुक्ल जी के प्रति आदर-भावना से भर गया । ताज्जुब भी था, जिस व्यक्ति को मैं बिल्कुल नीरस समझता था, वह तो बिल्कुल बेल है ! ऊपर से कठिन-कठोर और भीतर खूब मीठा गूदा ।

मैं प्राण-पण से जुट गया । सम्पादन-कला का सब गुर सीख लेने को तत्पर हो उठा ।

कई दिनों बाद, एक दिन ।

शुक्ल जी बोले, "अंग्रेजी तो जानत हौ, कौनो छोटी कहानी अनुवाद करौ न। बढ़िया होई, तो 'सरस्वती' में छाप देब।"

मेरे उत्साह का अन्त नहीं। मैं समझता था कि 'सरस्वती' जैसी प्रथम कोटि की साहित्यिक पत्रिका में लिखनेवाले बड़े विद्वान् ही होते हैं। लेकिन शुक्ल जी मेरी अनूदित कहानी छापने को कहते हैं! तो क्या 'सरस्वती' के पृष्ठों में मेरा भी नाम छपेगा? क्या मेरे भाग्य में इतना गौरव है?

मैंने बड़े उत्साह से विक्टर ह्यूगो की एक लघु कथा—'जेनी'—का अनुवाद करके कई दिनों बाद शुक्ल जी के सामने रखा। वे तत्काल उसके पढ़ने में व्यस्त हो गए। फिर कलम उठाई और कुछ संशोधन भी करने लगे।

मैं धड़कते दिल से सब देखता रहा।

पूरी कहानी पढ़ व संशोधन करके शुक्ल जी बोले, "कहानी बढ़िया चुनी तुमने। इसे इसी अङ्क में दे देता हूँ। और भी करना। बस, भाषा जरा सँभालना। सरल और रोचक रहे।"

मैं अभिभूत।

अगले महीने की 'सरस्वती' में वह कहानी छपी। अनुवादक के रूप में मेरा नाम भी छपा। मेरे सौभाग्य का ठिकाना न रहा।

मैं वह सब करता, जो शुक्ल जी मुझे कहते। समालोचना, टिप्पणियाँ, अनुवाद भी लिखाया—छापा और मेरी पीठ ठोंकते गए। मैं दनादन बढ़ता गया।

करीब छः महीने मैंने उनके बताए अनुसार सब किया। और आज यह कहने में मुझे सङ्कोच नहीं कि उनके शिष्यत्व में बिताए इन छः महीनों में मैंने इतना सीखा कि उसी के बल-बूते मैंने जिन्दगी भर रोटी खाई।

शुक्ल जी जैसा गुरु मिलना कितने सौभाग्य की बात है, यह मैं अब अनुभव करता हूँ।

आज बहुत सतर्कता से चारों ओर देखता हूँ और निराश होता हूँ कि साहित्य के क्षेत्र में बड़ी आशाएँ लेकर आनेवाले नवयुवकों को सहारा देनेवाला कोई नहीं और वे भटकते रह जाते हैं। शुक्ल जी जैसे गुरुजनों का अब अभाव हो गया है। वैसे गुण-दानी लोग अब संसार में नहीं रहे। न हो रहे हैं। इसीलिए साहित्य की नई पीढ़ी उस उचित शिक्षा से वञ्चित रह जाती है, जो यदि उन्हें मिल पाती, तो वे जगमगा उठते।

खैर, यह तो जमाने की खूबी है।

बहरहाल, अगर मुझे शुक्ल जी जैसा स्नेही गुरु न मिलता, तो मैं निश्चय ही साहित्य के क्षेत्र में न होता, और चाहे जहाँ होता।

आज, जब यह सब लिखने बैठा हूँ, तो आदरणीय गुरु पं० देवीदत्त शुक्ल की बहुत सी स्मृतियाँ एकाएक जाग कर मेरे पास मँडराने लगी हैं। कुछ को पकड़ पा रहा हूँ, जिन्हें लिपि-बद्ध करने का प्रयास करूँगा।

शुक्लजी का सम्पर्क-काल मेरे निर्माण का काल था।

एक मजेदार बात याद आ रही है।

शुक्ल जी इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के ग्रेजुएट थे। उस जमाने को देखते हुए आधुनिक विचारों के थे। लेकिन उनके स्वभाव की एक विचित्रता थी। अजीब विचित्रता। सोचकर आश्चर्य होता है। उसी का जिक्र करूँगा।

वे बिजली से सम्बन्धित हर चीज से दूर रहते। बिजली पर उन्हें विश्वास था। यह मुझे यों पता लगा।

इण्डियन प्रेस के जिस कमरे में वे बैठते थे, उस बड़े कमरे में दो या तीन पंखे लटक रहे थे। मुझे याद है, एक तो ठीक शुक्लजी के सिर के ऊपर था। गर्मियों में दिन भर पंखा चलता और जब दफ्तर खत्म होता, और पण्डित जी घर जाने को उठते, तो रोज ही मुझसे कहना न भूलते कि जरा पंखा बन्द कर देना। मैं पंखा बन्द कर देता। सोचता, वृद्ध व्यक्ति हैं। कुर्सी से यहाँ पंखे की स्विच तक उन्हें क्यों आना पड़े....बस, ऐसे ही चलता रहा। मैंने इसे कोई विशेष महत्व ही नहीं दिया।

एक दिन पटल बाबू का चपरासी आया और उसने पण्डित जी से कहा कि साहब के कमरे में आपका फोन आया है। पण्डितजी बड़ी उलझन में उठे। मैंने देखा, पर उनकी उलझन का कारण समझ न पाया। उठकर दरवाजे तक जा कर पण्डितजी रुके और मुझसे कहा, "बेटवा, जरा आवौ तौ।"

मैं उनके पीछे हो लिया। वे लपकते हुए बरामदा पार करके पटल बाबू के कमरे तक पहुँचे। फिर उनके कमरे के दरवाजे पर लटकते परदे की आड़ में खड़े हो कर फुसफुसा कर मुझसे कहने लगे, "देख लेव, देख लेव, जरा देख लेव।"

मैं कुछ समझ न पाया। किसे देखना था ? क्या देखता ? मैं एक कदम पटल बाबू के कमरे में जाकर रुक गया। किसे देखना है, कुछ समझ में न आया।

मुझे उलझन में देख पटल बाबू जरा तेज आवाज में बोले, 'यू रिसीव हिज फोन। ही वोण्ट टच इट।'

मैंने लपक कर फोन का अलग रखा रिसीवर उठा लिया। शुक्लजी के नाम किसी सज्जन का संदेश था। सुनकर शुक्लजी को बताया। उन्होंने कहा, "कहि देव, ठीक है। हम देख लेब।"

यह उत्तर भी मैंने फोन पर बता कर फोन रख दिया।

कमरे में आया। शुक्लजी अपनी कुर्सी पर बैठ सुपाड़ी को सरौते में फँसाते बोले, "हम बिजली का कौनों सामान नहीं छुइत। चाहे लाइट या पंखे की स्विच हो, चाहे फोन। बिजली का क्या ठिकाना, कब करण्ट मार दे !"

अब मैं समझा कि शुक्ल जी का बिजली पर विश्वास नहीं है। वे बिजली से भयभीत रहते हैं। इसीलिए रोज मुझसे पंखा बन्द कराते हैं और अब फोन भी नहीं छुआ।

मुझे शरारत सूझी। मैंने कहा, 'बिजली तो हमें भी करण्ट मार सकती है, पण्डित जी।'

सुपाड़ी काटते हुए, ओंठों में हँसकर शुक्लजी ने धीरे से कहा, "तुम जवान हो भाई।"

शुक्लजी जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति का यह भ्रम मेरी समझ में कभी नहीं आया।

शुक्लजी संस्कृत के गहरे विद्वान् थे, पूरे पण्डित। सम्पादन-कला में महावीरप्रसाद द्विवेदी की टक्कर के आचार्य थे। डायरी बहुत अच्छी लिखते थे। सभी विद्वान्-साहित्यिक उनका गुरु-जन-जैसा आदर करते थे। बड़े-बड़े साहित्यिक उनसे मिलने आते थे। प्रयाग के बाहर से कोई साहित्यकार आता, तो उनके दर्शन के लिए इण्डियन प्रेस जरूर आता।

वे शाक्त थे। चण्डी-भवानी के उपासक। 'चण्डी' नामक एक शाक्त मत की पत्रिका भी निकालते थे, जिसका देश-विदेश में प्रचार था। शाक्त-मत के पक्ष में अक्सर बहस करते थे।

महा-कवि निराला शुक्लजी को खूब आदर देते थे। निराला जैसे अक्खड़ व्यक्ति को भी शुक्लजी के सामने अत्यन्त विनम्र बनकर बतियाते मैंने देखा है।

शुक्लजी में एक अभिभावक-जैसा गुण था, जो किसी के भी प्रति कभी कठोर नहीं होता था। हाँ, वे सभी से आसानी से घुल-मिल नहीं सकते थे, पर जिससे सम्बन्ध बन जाता था, उसे स्नेह देकर धन्य कर देते थे।

मेरा सौभाग्य था कि मैंने उन्हें एक गुरु के रूप में पाया और सदा उन्हें गुरुदेव ही माना। उन्हीं के सिखाए-पढ़ाए मैं वह सब बना, जो कुछ भी आज हूँ।

शुक्लजी की पावन स्मृति को बारम्बार प्रणाम।

●

'....हिन्दी बहुत कुछ उन्नति कर गई है, और आज भी उन्नति ही करती जा रही है। जो लेखक हैं, वे अपने काम में चुपचाप लगे हुए हैं और उत्साह के साथ लगे हुए हैं।...'

—'कुछ खरी-खरी', पृ० ८१

काश, मैं उन्हें और जान पाता !

□ श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

मेरा खयाल था (और मैंने ऐसा लिखा भी है) कि 'सरस्वती' में मेरी रचनाएँ केवल ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने ही छापीं, उन्हीं से मेरा पत्र-व्यवहार रहा और उन्हीं के प्रति मैंने कृतज्ञता भी व्यक्त की।

लेकिन अभी कुछ दिन पहले स्व० **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** सम्पादक 'सरस्वती' के पौत्र व्रतशील शुक्ल मेरे यहाँ आए। उन्होंने मुझे शुक्ल जी की एक संस्मरणात्मक पुस्तक 'सम्पादक के पचीस वर्ष' भेंट की और कहा कि 'सरस्वती' से आपका सम्पर्क रहा है। आप यदि पुस्तक को पढ़कर अपनी राय दे सकें, तो मैं आभार मानूँगा। उन्होंने बताया कि वे अपने दादा की स्मृति में एक ग्रन्थ छाप रहे हैं और वे उसमें मेरा लेख भी चाहते हैं।

चलते-चलते उन्होंने बताया कि स्मृति-ग्रन्थ में वे शुक्ल जी को लिखे गए मेरे कुछ पत्र भी छाप रहे हैं, जो कि शुक्ल जी ने सँजोकर रखे हुए थे।

मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ। मुझे कतई स्मरण नहीं था कि मैं शुक्ल जी को भी पत्र लिखता रहा हूँ। 'सरस्वती' में मेरी पहली महत्व-पूर्ण कहानी बड़ी शान से छपी थी और मैं लगातार उसमें लिखता रहा था, यह तो मुझे याद था लेकिन वह कहानी श्री हरिकृष्ण प्रेमी के कहने पर मैंने ठाकुर श्रीनाथ सिंह को ही भेजी थी। उन्होंने उसे स्वीकृत किया था, प्रशंसा की थी, मेरा फ़ोटो मँगाया और 'उर्दू लेखक की पहली हिन्दी कहानी' की सुर्खी लगाकर उसे मेरे फ़ोटो के साथ 'सरस्वती' में बड़ी शान से छापा था।

दुर्भाग्य से इस बीच प्रेमी जी से मेरा मन-मुटाव हो गया। उन्होंने ठाकुर साहब को कहानी न छापने के लिए लिखा। ठाकुर साहब ने उन्हें बड़ा सख्त उत्तर दिया कि कहानी हमने आपके कहने से नहीं स्वीकार की। हमें अच्छी लगी, इसलिए स्वीकार की है। उन्हीं दिनों ठाकुर साहब एक कवि-सम्मेलन में लाहौर आए थे, जहाँ उन्होंने हम दोनों के मन-मुटाव को दूर करने का प्रयास किया था। इसलिए मेरा खयाल था कि मेरा सारा पत्र-व्यवहार ठाकुर श्रीनाथ सिंह से हुआ है। मैंने व्रतशील से कहा कि यदि सम्भव हो, तो वे मेरे उन पत्रों की प्रतिलिपि दे जाएँ, ताकि मैं अपनी स्मृति ताज़ी कर लूँ। मैंने उन्हें वचन दिया कि इस बीच मैं शुक्ल जी की पुस्तक भी पढ़ लूँगा और उसके बारे में अपने इम्प्रेशन भी लिपि-बद्ध कर दूँगा।

• •

व्रतशील उन पत्रों की प्रतिलिपि देने का वायदा ही नहीं कर गए, बल्कि कुछ दिनों बाद उन्हें दे भी गए। मैंने भी शुक्ल जी की पुस्तक आद्योपान्त पढ़ डाली।

इससे पहले कि मैं 'सम्पादक के पचीस वर्ष' के बारे में कुछ कहूँ, मैं उन पत्रों की रोशनी में उस जमाने की स्मृतियाँ ताज़ा करना चाहूँगा और शुक्ल जी का जो चित्र मेरे मन पर अङ्कित है, उसके बारे में दो शब्द कहूँगा।

जैसा कि शुक्ल जी ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ८२ पर लिखा है और मुझे याद भी है, 'सरस्वती' में मेरी पहली कहानी—'प्रेम की वेदी' १६३५ में छपी थी। यह बिलकुल सही है कि यह कहानी मैंने ठाकुर श्रीनाथ सिंह को ही भेजी थी और दो वर्ष तक मैं उन्हीं से पत्र-व्यवहार करता रहा।

शुक्ल जी के पास मेरा जो पहला पत्र सुरक्षित है, वह नवम्बर १६३७ का है। १६३६ में मैंने कानून की परीक्षा पास की थी और उसी वर्ष दिसम्बर में मेरी पहली पत्नी लम्बी और कष्ट-प्रद बीमारी के बाद चली गई थीं। मैं बेहद परेशान था, इसलिए मैं कुछ समय को अपने छोटे भाई परशुराम के पास अबोहर मण्डी चला गया था। वहीं मुझे ठाकुर श्रीनाथ सिंह का खत मिला था। उन्होंने गोरखपुर में होने-वाले अखिल भारतीय हिन्दी कवि-सम्मेलन में मुझे आमन्त्रित किया था।

कुल छः कविताओं का सरमाया था, पर चूँकि वे 'विशाल भारत' में छपी थीं, उनमें से एक उसके मुख-पृष्ठ पर छपी थी, इसलिए शायद इस कारण सम्मेलन में मुझे ठाकुर साहब ने बुला लिया था।

गोरखपुर जाते हुए मैं इलाहाबाद रुका था। मेरे मित्र श्री वाचस्पति पाठक बहुत ही बीमार थे। ठहरा तो मैं उन्हीं के यहाँ था लेकिन वे तो हिल-डुल भी नहीं सकते थे। सिर्फ आवाज उनकी वैसे ही कड़क थी। उन्होंने मुझे किसी के साथ गोरखपुर भेज दिया था। गोरखपुर कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उसका सञ्चालन ठाकुर श्रीनाथ सिंह कर रहे थे। उस वक्त जब चोंचजी जमे हुए थे और श्रोता किसी को सुनने के लिए तैयार नहीं थे, तब चूँकि मैं कविता पढ़ने को लालायित था, इसलिए जब मेरे सुझाने पर ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने घोषणा की कि चूँकि श्रोता चोंचजी के अलावा किसी को सुनना नहीं चाहते, इसलिए अब शेष समय चोंचजी ही कविता-पाठ करेंगे। तब चोंचजी ने हाथ जोड़े और उठकर चले गए।

ठाकुर साहब ने बच्चन जी को कविता पढ़ने के लिए आमन्त्रित किया। बच्चन जी ने इन्कार कर दिया। तब चूँकि मैं आगे मञ्च पर ठाकुर श्रीनाथ सिंह के पास बैठा हुआ था, उन्होंने सहसा ऐलान कर दिया कि अब मञ्च पर बैठे लाहौर के अश्क कविता पढ़ेंगे।

मुझे लगा कि मेरे आधे अङ्ग पर फालिज गिर गया है। वह एहसास इतने वर्ष बीत जाने पर आज भी वैसा ही बना है। लेकिन मैं घबराया नहीं। उठा। हिन्दीवालों की सङ्गति में खादी का धोती-कुर्ता और लोई पहनने लगा था। मैंने लोई खोलकर उसका फैंटा मारा और मञ्च पर आगे आकर कविता पढ़ने लगा।

इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ कि श्रोताओं ने न केवल मेरी पहली कविता को ही सराहा बल्कि मुझसे दूसरी कविता सुनाने का भी अनुरोध किया। चोंच जी का जादू टूट गया और ठाकुर श्रीनाथ सिंह प्रेम-भाव से कवि-सम्मेलन का सञ्चालन करने लगे।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, गोरखपुर-सम्मेलन की दो उपलब्धियाँ रहीं। ठाकुर श्रीनाथ सिंह मुझसे और भी प्रसन्न हो गए तथा वहीं पण्डित भगवतीप्रसाद वाजपेयी से मेरी दोस्ती हो गई।

चूँकि पाठक जी बहुत ही बीमार थे, इसलिए गोरखपुर से वापसी पर मैं पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी के साथ लौटा और उन्हीं के दारागञ्ज वाले मकान में सात दिनों तक ठहरा।

मैं महादेवी वर्मा के दूसरे कविता-संग्रह 'नीरजा' से बहुत प्रभावित था। न केवल उसकी कुछ रचनाएँ मुझे कण्ठस्थ थीं, वरन् अपनी भावुकता और मूर्खता में मैंने एक कविता लिखी थी, जिसकी पंक्तियों के पहले अक्षरों से महादेवी वर्मा का नाम बनता था। वह कविता मैंने एक लम्बे भावुकतापूर्ण पत्र के साथ महादेवी जी को ही नहीं भेजी थी, बल्कि 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ ठाकुर साहब को भी भेज दी थी। ठाकुर साहब ने उसे नहीं छापा था और महादेवी जी ने कोई उत्तर नहीं दिया था।

मैंने भगवतीप्रसाद वाजपेयी को यह सारा किस्सा सुनाया और कहा कि सबसे पहले महादेवी वर्मा से मिलना है। क्योंकि वह खुद भी महादेवी जी से प्रभावित थे और इलाहाबाद में रहने के बावजूद कभी उनसे मिले भी नहीं थे, इसलिए हम दोनों इण्डियन प्रेस पहुँचे और मैंने ठाकुर साहब से अपनी इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने कहा, देवीजी तो जल्दी किसी से मिलती नहीं हैं, पर तुम चलो, मैं तुम्हें उनसे मिला लाता हूँ।

हम उनके साथ एलगिन रोड पर प्रयाग महिला विद्यापीठ पहुँचे, देवी जी से मिले। वहाँ क्या हुआ, यह इस लेख का विषय नहीं है। वह सब मैंने एक अलग संस्मरण में लिखा है। यहाँ इतना ही कि उस दिन महादेवी जी के निवास-स्थान की ओर चलने से पहले ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने मुझे शुक्ल जी से भी मिलवाया और वहीं मैंने पहली बार 'सरस्वती'-सम्पादक **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** के दर्शन किए।

मुझे याद है, मैं उनके सामने कुर्सी पर बैठा था और मैंने उनसे दो-एक बातें भी की थीं। वे गेहुँए रंग के लम्बे-तगड़े आदमी थे। खादी का कुर्ता, घुटनों तक धोती और पट्टी की बण्डी व टोपी पहने हुए थे। मुझे आप क्षमा करें, मुझे वे बिलकुल देहाती लगे। मैं लाहौर का रहनेवाला भले ही खादी का धोती-कुर्ता पहने हुए था, लेकिन कुर्ता लम्बा और धोती टखनों के नीचे तक थी। लाहौर उन दिनों भी पञ्जाब का पेरिस कहलाता था। फिर ठाकुर श्रीनाथ सिंह का अक्खड़-फक्कड़ व्यक्तित्व मुझे पसन्द था। उसकी तुलना में शुक्ल जी गहर गम्भीर और संजीदा व्यक्तित्व वाले थे।

आज उनकी पुस्तक पढ़ने से लगता है कि यदि उनसे बातचीत की होती, उनके व्यक्तित्व को और जान सकता, तो उनके अन्तर में छिपे विनोदी को भी जान लेता । मैंने उन्हें प्रणाम किया । दो-तीन बातें हुईं और मैं महादेवी जी से मिलने चला गया । मुझे यही लगता है कि यह जानने पर कि वे प्रधान सम्पादक हैं, मैंने उन्हें वहाँ से आने के बाद पहला पत्र लिखा होगा । यह भी ऐन सम्भव है कि ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने ही मुझसे कहा हो कि मैं उनको पत्र लिखूँ । जितने भी पत्र मेरे सामने हैं, वे १६३७ के बाद के हैं ।

मैं १६४८ में इलाहाबाद आया, तब शुक्ल जी 'सरस्वती' छोड़ चुके थे लेकिन उनसे एक बार फिर, शायद १६६० में, 'सरस्वती' की हीरक जयन्ती पर भेंट हुई । वही खादी की धोती, वही पट्टी की कोट व टोपी । बातें उनसे ज्यादा नहीं हुईं । बस, देख लिया, नमस्कार कर लिया और कोई स्मृति शुक्ल जी की मेरे मन पर अङ्कित नहीं है ।

• •

इस अल्प परिचय के बाद उनकी पुस्तक 'सम्पादक के पचीस वर्ष' को पढ़ना शुक्लजी को और उनके व्यक्तित्व को एक नये सिरे से जानने के बराबर है । मन में कहीं आता है कि उनके बारे में यह सब पहले जाना होता, तो जरूर ही उनसे खासी घनिष्ठता हो जाती ।

'सम्पादक के पचीस वर्ष' बहुत ही दिलचस्प पुस्तक है । **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** की शैली सीधी-सरल, भाषा टकसाली और वस्तु अत्यन्त रोचक है । उसे पढ़ते हुए आज से आधी सदी पहले की अनेक स्मृतियाँ ताज़ी हो जाती हैं । यह तो सही है कि उनसे मेरा व्यक्तिगत सम्पर्क ज्यादा नहीं रहा, लेकिन इस पुस्तक के माध्यम से उनका जो सीधा, सरल लेकिन अपने कर्तव्य के प्रति सजग और श्रम-शील व्यक्तित्व आँखों के सामने आता है, वह कहीं चकित भी करता है । लगता है, अपने सीधे सरापे के अन्दर वे एक विनोदी व्यक्ति को छिपाये हुए थे । उनकी नज़र बड़ी तेज़ थी, किसी के मन को दुखाना, महज स्कैण्डल के लिए स्कैण्डल करना उनके व्यक्तित्व का अङ्ग नहीं था लेकिन सम्पादक के कर्तव्य को वे भली-भाँति जानते थे। और वे पूर्णरूप से कर्तव्य-निष्ठ थे ।

जून १६३३ की 'सरस्वती' में 'विशाल भारत' के कहानी-अङ्क की समालोचना छपी । लिखनेवाले ने अपना नाम नहीं दिया, मणिराम शास्त्री के नाम से उसे छापने का आग्रह किया और अपना नाम गोपनीय रखने की हिदायत कर दी । शुक्ल जी ने ऐसा ही किया । अब इसे संयोग ही कहा जाएगा कि वृन्दावन के 'प्रेम-विद्यालय' से प्रकाशित होनेवाले एक पत्र के सम्पादक का भी यही नाम था । लोगों ने समझा कि

उन्हीं ने यह आलोचना की है और महीनों तक वे डाँट-फटकार और आलोचना का निशाना बने रहे । चूँकि शुक्लजी वचन हार चुके थे, इसलिए उन्होंने असली नाम प्रकट नहीं किया, किन्तु उनकी आलोचना के कारण एक दूसरे व्यक्ति को ख्याति मिल रही है, देखकर समालोचना के मूल लेखक स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ही धैर्य तोड़ बैठे और इधर-उधर कहने लगे कि वही समालोचना के मूल लेखक हैं ।

मैं कल्पना कर सकता हूँ कि मन-ही-मन शुक्ल जी ने इस घटना का कितना मजा लिया होगा । और अन्त तक उनका नाम नहीं प्रकट किया होगा ।

'विशाल भारत' के सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सिलसिले में भी दो बहुत ही दिलचस्प प्रसङ्ग पुस्तक में मौजूद हैं । और वे इन दोनों प्रमुख पत्रिकाओं के सम्पादकों के चरित्र भलीभाँति उजागर करते हैं । पं० बनारसीदास चतुर्वेदी अपनी तमाम दबङ्गई के बावजूद अपने अन्तर में छोटे थे । पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के साथ उन्होंने जो कुछ किया, वह अब हिन्दी साहित्य के इतिहास की चीज हो गई है । इस पुस्तक में भी दो ऐसे प्रसङ्ग हैं, जिनसे उनके किरदार के इस छोटेपन का पता चलता है और ये प्रसङ्ग पढ़ने से ताल्लुक रखते हैं ।

१९३३ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की सत्तरहवीं वर्ष-गाँठ पर काशी तथा इलाहाबाद में उनका अभिनन्दन हुआ । पण्डित देवीदत्त शुक्ल ने दो जगह इस पुस्तक में अभिनन्दन-समारोह का उल्लेख किया है । इन प्रसङ्गों को पढ़कर शुक्ल जी की गहरी नजर का पता चलता है । बड़े आदमी वास्तव में कितने छोटे होते हैं और छोटे आदमी कभी कितनी बड़ी बात करते हैं, यह इन प्रसङ्गों से स्पष्ट हो जाता है । काशी के समारोह में अध्यक्षता ओरछा-नरेश कर रहे थे और उद्घाटन-भाषण पं० मदनमोहन मालवीय को देना था । जब पं० मदनमोहन मालवीय (जैसा कि बड़े नेता आज भी करते हैं) समय पर नहीं आए, तो अध्यक्ष महादेव ने द्विवेदी जी को अपना वक्तव्य (जो उन्होंने 'आत्म-निवेदन' शीर्षक से लिखा था) पढ़ने के लिए कहा । द्विवेदी जी ने अपना भाषण अभी शुरू ही किया था कि महामना मालवीय सभा-स्थल में पधारे । तभी श्यामसुन्दरदासजी ने माइक पर द्विवेदी जी से कहा कि मालवीय जी आ गये हैं, वे अपना उद्घाटन-भाषण करेंगे । उसके बाद अपना वक्तव्य पढ़िएगा ।

जाहिर है कि द्विवेदी जी का जैसा व्यक्तित्व था, उन्हें बाबू श्यामसुन्दरदासजी की वह बात बुरी लगी होगी । उन्होंने कहा कि सभापति के आदेश से भाषण पढ़ रहा था । वे कहेंगे, तो बन्द कर दूँगा ।

यह कहकर उन्होंने सभापति की ओर देखा । ओरछा-नरेश ने धीरे से, लेकिन तुरन्त कहा कि नहीं, आप अपना भाषण पढ़ें ।

इस पर द्विवेदी जी अपना भाषण पढ़ने लगे । महामना मञ्च के पास ही अपनी कुर्सी पर विराज रहे थे । उन्हें पूरा भाषण सुनने की ताव नहीं रही । बीच में उठकर चले गए ।

और शुक्ल जी ने कमेण्ट किया है, इस अवसर पर यह भी सुनने में आया था कि हिन्दू-विश्वविद्यालय द्विवेदी जी को जो डाक्टरेट की उपाधि देनेवाला था, वह अब नहीं मिलेगी और सचमुच वह उन्हें नहीं मिली।

• •

'सम्पादक के पचीस वर्ष' के न जाने ऐसे कितने रोचक और मानव की कमजोरियों और शहजोरियों को उजागर करनेवाले प्रसङ्ग हैं। उस जमाने के लेखकों, पत्रकारों, नेताओं, आन्दोलनों की एक शोभा-यात्रा है, जो मूर्त-रूप लेकर पाठक के सामने चलती चली जाती है।

शुक्लजी की यह पुस्तक पठनीय ही नहीं, संग्रहणीय भी है। वेश-भूषा से बिलकुल देहाती और पुराने-जमाने के लगने के बावजूद वे दरअसल कितने प्रगतिशील, सरल, सहज और विनोद-प्रिय व्यक्ति थे, इस बात का पता इस पुस्तक को पढ़ने के बाद बखूबी लग जाता है।

मुझे केवल एक बात का खेद है कि मैं जिन्दगी में उनके निकट नहीं हो सका और न ज्यादा उन्हें जान सका। पर इसमें शुक्लजी का इतना दोष नहीं, जितना मेरे स्वभाव की चञ्चलता और खिलंदरेपन का।

•

'...कलकत्ते से लेकर लाहौर तक हिन्दी के पत्रों का पूरा दौर-दौरा है।....दैनिक, साप्ताहिक, मासिक आदि तरह-तरह के पत्र प्रकाशित हो रहे हैं और इनमें प्रायः सभी कोई-न-कोई खास उद्देश्य को लेकर ही चल रहे हैं (अगस्त, १९३८)।....'

—'कुछ खरी-खरी', पृष्ठ १२५

'....हिन्दी-भाषी जनता में जो आज यह विराट् जागरण दृष्टि-गोचर हो रहा है, उसका अधिकांश श्रेय हिन्दी के पत्रों को ही है। इन्होंने राष्ट्रीय सन्देश को भारत के कोने-कोने में पहुँचाया ही नहीं है किन्तु ६० वर्ष से उसका पाठ भारतीय जनता को बराबर सुनाते चले आए हैं।....'

—'कुछ खरी-खरी', पृष्ठ १२६

सम्पादक-प्रवर : पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ पण्डित राम ऋषि शुक्ल

हिन्दी के मासिक पत्रों में 'सरस्वती' का स्थान सर्वोपरि रहा है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने सम्पादन-काल में इसका जो उच्च स्तर कायम किया था, उस तक पहुँचना किसी भी अन्य के लिए सम्भव न हो सका।

यह आज शायद कम लोगों को स्मरण हो कि 'सरस्वती' की गरिमा और श्रेष्ठता को कायम करने में आचार्य द्विवेदी के उत्तरकालीन दो वरिष्ठ साहित्यकारों का प्रमुख हाथ था, और ये थे **पं० देवीदत्त शुक्ल** तथा ठा० श्रीनाथ सिंह। द्विवेदी जी के अवकाश ग्रहण करने के बाद शुक्ल जी और ठाकुर साहब ने संयुक्त रूप से सम्पादन-भार ग्रहण किया, और अनेक वर्षों तक पत्र को उसी स्तर पर सफलता के साथ सम्पादित करते रहे।

१९३७-३८ की बात है, पत्रकारिता और लेखन के अपने प्रारम्भिक कार्य-काल में इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस के 'सरस्वती'-कार्यालय में उक्त दोनों वरिष्ठ सम्पादकों से इस अकिञ्चन को मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गोस्वामी तुलसीदास जी की 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की अर्द्धाली को दुहराते हुए कहना चाहूँगा कि दोनों ही सम्पादक दो भिन्न प्रकार के व्यक्ति थे।

पं० देवीदत्त शुक्ल एकदम सरल, निश्छल और उन्मुक्त दृष्टिगत हुए, तो ठा० श्रीनाथ सिंह गम्भीर, 'रिजर्व' और सम्पादकीय स्वाभिमान से समधिक सम्पन्न दिखाई पड़े। 'सरस्वती'-कार्यालय में एकाधिक बार जाने पर स्वभावतः शुक्ल जी से लम्बी वार्ताओं में मैं घुल-मिल गया, जबकि उस समय और वर्षों बाद जब ठाकुर साहब स्वतन्त्र रूप से 'दीदी' पत्रिका निकालने लगे थे, तब भी उनसे मिलने पर उन्मुक्तता जैसी चीज मैं अनुभव न कर सका।

लगभग ५० वर्ष के इस लम्बे अन्तराल के बाद आज सोचता हूँ कि दो भिन्न रुचि और स्वभाव के दो सम्पादक-प्रवरों के संयुक्त रूप से कार्य करने का और चाहे जो परिणाम रहा हो, 'सरस्वती' को तो लाभ-ही-लाभ हुआ। दोनों के स्वभाव और गुण से एक समन्वय बनता था और 'सरस्वती' के स्वरूप के निखरने में प्रभावी तथा पुष्ट परिणाम का ही योग-दान मिलता था।

संयोग ही कहें कि 'सरस्वती' की पुरानी प्रतियों की जिल्दबन्द फाइलों का मैं अवलोकन कर चुका था और इसलिए पुरानी प्रतियों में प्रकाशित सामग्री की जानकारी देने पर शुक्ल जी विशेष प्रसन्न हुए। कभी 'सरस्वती' में इस विषय पर एक लेख-माला किंवा परिचर्चा प्रकाशित हुई थी कि 'राधारानी स्वकीया थीं या परकीया ?' और इसकी भी चर्चा हमारी बातचीत में हुई।

जिन दिनों की मुलाकातों की चर्चा मैं कर रहा हूँ, उन्हीं वर्षों में भारत की सांस्कृतिक विरासत के संबन्ध में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी भाई परमानन्द और पं० जवाहरलाल नेहरू के बीच वाद-विवाद की एक विचार-पूर्ण लेख-माला 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। इस तथ्य का उल्लेख मैं यह स्पष्ट करने की दृष्टि से कर रहा हूँ कि आचार्य द्विवेदी के बाद भी 'सरस्वती' के कीर्तिमान को किस प्रकार शुक्ल जी ने और ठाकुर साहब ने यथा-पूर्व बरकरार रखा था।

सम्पादक-प्रवर पं० **देवीदत्त शुक्ल** साधारण वेश-भूषा में असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे। खादी का कुरता, धोती और पुराने ढङ्ग की खादी की टोपी—यही शुक्ल जी का सीधा-सादा पहनावा था, किन्तु इस साधारण परिधान में आवेष्ठित उनकी मुखाकृति वैसी ही भव्य थी, जैसी कि किसी परम देवी-भक्त के होने की कल्पना की जा सकती है। लाल-लाल होठ, जिन पर पान की किंचित् लालिमा, निष्कपट नेत्र, भाव-भङ्गिमा में दयार्द्रता, हलकी मुसकान के साथ बातचीत का अन्दाज—कुल मिलाकर ऐसा ही सम्मोहनकारी व्यक्तित्व आज मेरी स्मृतियों से होकर आँखों में शुक्ल जी का उभरता है। यद्यपि वे शाक्त थे किन्तु फिर भी उनमें एक वैष्णव की निरीह निश्छलता के दर्शन होते थे।

आज जब मुझसे शुक्लजी के बारे में लिखने को कहा गया, तब मैं ५० वर्ष पुरानी अपने युवा-काल की याददाश्तों की गहराई में डूब गया। 'मिशनरी' पत्रकारिता के वे दिन सचमुच स्पृहणीय और स्पन्दन-कारी थे। वह समय था जब कि पैसों की कोई परवाह नहीं करता था, या बहुत कम करता था। किन्तु आज तो पैसा ही सर्वस्व बन गया है। मूल्य कितने बदल गये हैं!

●

'....जिस वेद को हिन्दू 'अपौरुषेय' एवं 'भगवान् का स्वरूप' मानते हैं, उसे अब वे केवल नाम से जानते हैं। ऐसी दशा में यदि उनका पराभव हो गया है, तो इसमें आश्चर्य क्या है।...'

—'हिन्दुओं की पोथी', भूमिका, पृष्ठ १

'...हमारे शास्त्र-कारों ने हमारे अभ्युदय के लिए सब स्पष्ट लिख दिया है और वह सब हमारी पहुँच में है।...'

—'हिन्दुओं की पोथी', भूमिका, पृष्ठ ३

'... भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'जो शास्त्र की विधि को न मानकर मनमाने ढङ्ग से आचरण करता है, उसका न इह लोक बनता है, न पर-लोक'—कितनी सीधी और स्पष्ट बात है!....'

—'हिन्दुओं की पोथी', भूमिका, पृष्ठ १

आधुनिक हिन्दी का स्वर्णिम युग

□ श्री ज्योतिलाल भार्गव

आचार्य-प्रवर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस शताब्दी के आरम्भ-काल में, 'सरस्वती' का सकुशल सम्पादन करके, हिन्दी की खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा हिन्दी का आधार बना दिया। अपने दीर्घ सेवा-काल में उन्होंने प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर हिन्दी-साहित्य के सम्वर्द्धन में असीम गौरव-शाली योग-दान दिया। वस्तुतः वह हिन्दी के उत्कर्ष-युग का समारम्भ था।

प्रतिष्ठेय द्विवेदी जी द्वारा अवकाश-ग्रहण करने के उपरान्त सन् १६२० से १६५० तक जिस अनुगामी युग का पदार्पण हुआ, उसे हम हिन्दी के स्वर्णिम युग की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। इस युग में 'सरस्वती', 'माधुरी', 'सुधा', इण्डियन प्रेस, गङ्गा-पुस्तक-माला, 'चाँद', 'प्रभा', 'मतवाला', 'वीणा', 'विशाल भारत' आदि के यशस्वी सम्पादकों-प्रकाशकों ने हिन्दी-साहित्य-जगत् को एक नवीन और विस्तृत साहित्यिक आयाम प्रदान किया था। एक प्रकार से, यह एक महत्वपूर्ण एवं सफल क्रान्तिकारी कदम था। आज के लगभग सभी मूर्द्धन्य साहित्यकार, जिनमें से अनेक दिवङ्गत हो गए हैं, इसी युग की देन हैं। इनको अपने आरम्भिक साहित्य-संरचना-काल में उसी पुण्य धारा से प्रेरणा, प्रोत्साहन और प्रश्रय प्राप्त हुआ था। इसी युग की देन परम प्रतिष्ठित सम्पादक **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल**, दुलारेलाल भार्गव, रूपनारायण पाण्डेय, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि थे। स्वयं शुक्ल जी ने इस बारे में 'सम्पादक के पचीस वर्ष' में समीक्षा की है—

> "इसमें सन्देह नहीं कि सन् १६२१ का वह समय आज के नए युग का प्रभात था।....इसी बीच में लखनऊ के पं० दुलारेलाल भार्गव मैदान में आए। उन्होंने समय को ठीक तरह से पहचान लिया था।...."
>
> "श्री दुलारेलाल के 'माधुरी' के निकालते ही हिन्दी का प्रेस चकित रह गया।...निस्सन्देह उन्होंने 'माधुरी' निकाल कर हिन्दी के मासिक साहित्य में एक प्रकार से क्रान्ति पैदा कर दी। अब सभी पत्रिकाओं का काया-पलट कर दिया गया।..."

"सन् २२ की जनवरी से 'सरस्वती' की रूप-रेखा में जो परिवर्तन किया गया, वह एक-मात्र 'माधुरी' के कारण।....और जहाँ तक हम समझते हैं, 'सरस्वती' की पाठ्य सामग्री 'माधुरी' की पाठ्य सामग्री से बराबर बढ़ी-चढ़ी रही।...."

आज हिन्दी-संसार में अथवा उस युग में भी ऐसी निष्पक्ष-निःस्पृह समीक्षा दुर्लभ है। मैं लगभग ६० वर्षों से हिन्दी-साहित्य और उसके कर्णधारों से संपृक्त रहा हूँ। जिस अध्यवसाय और परिश्रम से उक्त युग में साहित्यिक साधना की गई थी, वह आधुनिक काल में दुर्लभ है। अब हिन्दी ने सर्वथा नवीन बाना धारण किया है, जो विस्मय-जनक एवं प्रगतिशील तो है, परन्तु उसमें उस काल की-सी गम्भीर गवेषणा का अभाव है।

सन् १९२७ में 'सरस्वती' का विशेषाङ्क बड़ी सज-धज के साथ निकला था। कदाचित् इसी विशेषाङ्क से **देवीदत्त जी शुक्ल** ने हिन्दी-संसार में प्रसिद्धि अर्जित की, और उनको सम्पादकों की प्रथम पंक्ति में लाकर बिठा दिया। जहाँ तक मुझे स्मरण है, अग्रज दुलारेलाल भार्गव ने शुक्ल जी को बधाई का पत्र भेजा था। यशस्वी भार्गव जी की 'सुधा' का प्रकाशन १९४२ में बन्द हो गया। अनेक तत्कालीन प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं का भी अन्त हो गया। कुछ समय बाद 'माधुरी' भी तिरोहित हो गई। देवीदत्त जी सन् १९४६ तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे। उन्होंने हिन्दी की अकथनीय सेवा की। आज के लगभग सभी साहित्यकारों को बनाने-सुधारने, तथा भाषा के गठन में 'सरस्वती' का महत्वपूर्ण योग-दान रहा है। मेरी सम्मति में यदि ठाकुर श्रीनाथ सिंह, डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन', श्री हरिवंशराय बच्चन आदि इस स्वर्णिम युग के सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन करें, तो उक्त युग से सम्बन्धित हिन्दी का एक वृहत् इतिहास लिखा जा सकता है—निष्पक्ष, परिमार्जित, सत्यकथा; डॉ० रामविलास शर्मा की 'साहित्य-साधना' के ढंग पर एक-पक्षीय एवं भ्रामक नहीं, परन्तु **पं० देवीदत्त शुक्ल** के 'सम्पादक के पच्चीस' वर्ष की तर्ज पर। वस्तुतः यह हिन्दी की प्रगति की एक अकथ सत्य कहानी होगी। उस काल के साहित्य-सर्जकों के योगदान का सही मूल्याङ्कन भी होगा। इसके प्रकाशन का भार मैं वहन करने को तत्पर हूँ। इस कार्य-करण के लिए हमारे पास पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इसको एक स्थान पर एकजाई करना है।

पं० देवीदत्त जी शुक्ल का दुलारेलाल भार्गव से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। वे परस्पर प्रतिद्वन्द्वी होते हुए भी, एक दूसरे के प्रशंसक थे। यदा-कदा इन दोनों का पारस्परिक मिलन भी होता रहा है। मैंने भी शुक्लजी के दर्शन अनेक बार किए हैं। मैं उनको प्रूफ-रीडिंग, भाषा-संशोधन, वर्तनी की एक-रूपता तथा सम्पादन-कला में मर्मज्ञ और निष्णात मानता हूँ। उनके 'स्मृति-ग्रन्थ' में इन पारखी कलाओं का यथा-वत् प्रदर्शन समीचीन और लाभ-कारी होगा। साहित्यिकों को तभी पता चलेगा कि मूर्द्धन्य साहित्यकार-लेखक-कवि यदा-कदा कितनी भूलें करते रहे हैं, और अनुभवी सम्पादक-गण उनको किस प्रकार सुधार कर प्रकाश में लाते रहे हैं।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, कदाचित्, अन्तिम बार **देवीदत्त जी शुक्ल** से १९६० में दुलारेलाल जी से भेंट हुई थी और उन्होंने उन्हें अपनी 'सम्पादक के पच्चीस

वर्ष' पुस्तक भेंट की थी। इसके फलाई लीफ़ पर दुलारेलाल जी ने स्वयं लिखा है :

३-१-६० को

विद्वद्वर सम्पादक-श्रेष्ठ श्री पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल

द्वारा

भेंट में प्राप्त।—दुलारेलाल

नीचे उसी पृष्ठ पर अङ्कित है—**ह. दे. दत्त**

यह अमूल्य धरोहर मेरे पास सुरक्षित है।

काश ! हिन्दी का वह स्वर्णिम युग पुनः आता, जब साहित्यकार, बिना किसी लोभ-लालसा अथवा महत्वाकांक्षा के, साहित्य-साधना वर्षों तक करते रहे; वे आधुनिक हिन्दी को एक-रूपता, सुन्दर स्वरूप और सुगढ़ भाषा-शैली प्रदान कर गए।

●

एक उपयोगी प्रस्ताव

कलकत्ते के श्रीयुत नारायणदास बाजोरिया जी ने यह प्रस्ताव किया है कि प्रयाग के सम्मेलन के संग्रहालय-भवन के बरामदे की दीवारों पर बीस प्राचीन कवियों के नाम उनकी उत्कृष्ट-तम पंक्तियों के साथ संगमरमर पर उत्कीर्ण कर लगाए जाएँ। इस प्रस्ताव को कार्य का रूप देने के लिए सम्मेलन की कार्य-समिति ने एक उप-समिति नियुक्त की है।

'सम्मेलन-पत्रिका' की विज्ञप्ति के अनुसार हम यहाँ २० कवियों के नाम देते हैं। आशा है, समिति उन पर विचार करेगी। वे नाम ये हैं—

(१) नन्द, (२) कबीर, (३) विद्यापति, (४) नानक, (५) सूर, (६) तुलसी, (७) केशव, (८) गंग, (९) रहीम, (१०) घाघ, (११) बिहारी, (१२) रसखान, (१३) गिरधरदास, (१४) छत्रशाल, (१५) भूषण, (१६) देव, (१७) पद्माकर, (१८) हरिश्चन्द्र, (१९) रत्नाकर, (२०) महावीरप्रसाद द्विवेदी।

—'सरस्वती', सम्पादकीय नोट, मार्च १९३९, पृष्ठ ३२८

पण्डित देवीदत शुक्ल की याद में

□ श्री अमृत राय

सच तो यह है कि मुझे पण्डित जी को जानने का इतना कम सुयोग हुआ कि उनके सम्बन्ध में मेरा कुछ भी कहना अनधिकार चेष्टा ही कहलाएगी। यही बात मैंने उनके पौत्र व्रतशीलजी से, जो अपने पितामह के स्मृति-ग्रन्थ के आयोजन में ऐसी अपूर्व निष्ठा के साथ लगे हुए हैं, बार-बार कही, पर तब भी उनका आग्रह वैसे-का-वैसा बना रहा, तो मैं उसका निरादर न कर सका। पर मैं यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि यह केवल उनके आग्रह की बाध्यता नहीं है, जो मुझे ये दो-चार पंक्तियाँ लिखने के लिए प्रेरित कर रही है बल्कि एक नैतिक बाध्यता भी है, जिसे सबसे पहले मैं अपनी कृतज्ञता की आन्तरिक बाध्यता कहूँगा।

पण्डित देवीदत्त शुक्ल उन पहले लोगों में हैं, जिन्होंने मुझे उस समय छापा, जब कि आज से लगभग पचास साल पहले मैं लिखना शुरू ही कर रहा था। यों तो मैंने लिखना शायद उसके भी दो-चार साल पहले शुरू कर दिया था, जो 'बालक', 'वानर', 'बाल-सखा' जैसी तत्कालीन किशोर-पत्रिकाओं में छपता भी था, पर जिसे शायद मेरा गम्भीर, वयस्क लेखन कहा जा सके, उसका आरम्भ १६३६ के अन्तिम दिनों से होता है, जब कि दिसम्बर १६३६ में 'दैनिक भारत' के किसी रवि-वासरीय संस्करण में 'कसाई' नाम का मेरा एक स्केच छपा था।

पण्डित देवीदत्त से मेरी पहली भेंट शायद १६३८ में हुई थी, जब कि मैं यहाँ विश्व-विद्यालय में बी० ए० का विद्यार्थी था और म्योर होस्टल में रहता था, जिसे अब अमरनाथ झा होस्टल के नाम से जाना जाता है। मेरे यहाँ से इण्डियन प्रेस, जहाँ से तब पण्डित जी के सम्पादन में 'सरस्वती' निकलती थी, मुशकिल से एक फ़र्लांग की दूरी पर था। वहीं पर उनसे मिला, जितनी बार भी मिला।

बहुत पुरानी बात हुई, पर जहाँ तक याद पड़ता है, वे कुछ उटंग-सी धोती और काफ़ी ढीला-ढाला-सा कुर्ता पहनते थे। अच्छा गौर-वर्ण था, जो उम्र की गर्द पड़कर गन्दुमी हो गया था। थोड़ा भरा हुआ-सा ही बदन था, जो दुबला या छरहरा तो किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। नंगे सर बैठे मिलते थे। बाल शायद कुछ बड़े ही रखते थे। मुझे तो उनके ललाट पर बड़े से एक लाल गोल टीके की भी याद आती है, पर सम्भव है, मेरी स्मृति धोखा दे रही हो।

बड़ी प्रभावशाली भव्य आकृति थी—अच्छे आचार-निष्ठ, मनस्वी, कर्मठ व्यक्ति का चेहरा। उन्हीं के मुँह से मैंने जीवन में पहली बार मांस-मदिरा आदि पञ्च-मकार की चर्चा किसी और व्यक्ति से करते सुनी थी और मुझे याद है, काफ़ी चौंका भी था। वे तान्त्रिक थे, यह तो मैंने बहुत बाद को जाना।

आज बहुतों के लिए हिन्दी उनका हलवा-मांडा है, पैसे भी आते हैं और ऊँची-ऊँची कुर्सियाँ भी मिलती हैं, लेकिन **पण्डित देवीदत्त** का जो समय था, तब हिन्दी की सेवा बस निष्काम और पूरी तरह से समर्पित भाव से की गई एक सेवा थी, ठीक उसी तरह जैसे तब की देश-सेवा, जब कि आज 'देश-सेवा' सबसे पहले अपना घर भरने की जुगत करने का पर्याय बन गई है !

इस नाते मैं उस निष्काम हिन्दी-सेवी की स्मृति को प्रणाम करता हूँ और प्रणाम करता हूँ उस सच्चे, निष्ठा-वान् सम्पादक को, जिसने अपनी कुर्सी का अनुचित लाभ उठाकर अपने इर्द-गिर्द, अपने यार-दोस्तों और जै-जैकार बोलनेवाले मुसाहबों की मण्डली नहीं बनाई, जैसा कि आजकल बड़ी पत्रिकाओं के सम्पादकाचार्यों का आम चलन है, बल्कि न्याय के आसन पर बैठकर साहित्य पर विचार किया और नए-से-नए लोगों को भी, अगर उनकी रचना में दम है, तो उन्हें बेधड़क अपने यहाँ छापा और आगे आने का मौका दिया। नये लेखक को उस समय थोड़े से ऐसे सहारे की कितनी जरूरत होती है, यह तो किसी नए लेखक के ही दिल से पूछिए—और आज वह इस दृष्टि से कितना निराश्रय और विपन्न अनुभव करता है, यह भी उसी दिल-जले से पूछिए !

लगभग आधी सदी पुरानी बात हुई, इसलिए ठीक तो नहीं कह सकता, पर जहाँ तक याद पड़ता है, मेरी दो या तीन कहानियाँ पण्डित जी के सम्पादन-काल में छपी थीं, जिनमें से एक कहानी 'ठठरियाँ' की तो मुझे पक्की तरह याद है—और वह शायद इसलिए कि उसके साथ पहले प्यार जैसी वह अपूर्व मोहक आनन्द की अनुभूति भी जुड़ी है, जो कभी भूलती भी नहीं और फिर कभी मिलती भी नहीं। 'देखो, मेरी कहानी 'सरस्वती' में छपी है'—भौंरे की गुन-गुन की तरह यही एक बात उस रोज़ सारे दिन मेरी नसों में गूँजती रही थी, और मैं हॉस्टल के अपने दोस्तों और साथियों को 'सरस्वती' का वह अङ्क दिखाता फिरा था।

●

'....हिन्दी में ऐसे दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक वर्षों से निकल रहे हैं, जिनसे कोई भी अन्य भाषा-भाषी प्रान्त ईर्ष्या कर सकता है।....'

—'कुछ खरी-खरी', पृष्ठ १२७

राष्ट्रीय अस्मिता के सजग प्रहरी : पं० देवीदत्त शुक्ल

☐ डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह

श्रद्धेय शुक्ल जी के सारस्वत-सान्निध्य-लाभ का सुयोग मुझे १९४१ से १९४६ ई० के बीच प्राप्त हुआ। उन दिनों वे 'सरस्वती' का सम्पादन कर रहे थे।

१९४० ई० में काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में मैं बी० ए० का विद्यार्थी था। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-निबन्ध की कक्षा लेते थे। सितम्बर, १९४० में एक दिन राम-भक्त महात्मा बनादास के कुछ हस्त-लेख लेकर उनके दुर्गा-कुण्ड-स्थित निवास पर गया। बातचीत के दौरान यह मालूम होने पर कि मैं गोंडा जिले के दक्षिणी भाग का निवासी हूँ, वे बोले, 'तुम्हारे गाँव के आस-पास ही सूकर-क्षेत्र नाम का एक प्राचीन तीर्थ है, तुलसीदास ने अपने गुरु से वहीं रहते हुए रामायण की कथा सुनी थी। इसका उल्लेख मैंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में किया है, तुमने पढ़ा होगा। इन दिनों लोग उसके विरोध में बहुत-कुछ लिख-पढ़ रहे हैं। वहाँ जाकर असलियत का पता लगाना और सारा विवरण लिखकर मुझे देना।' उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके अगली बार घर जाने पर मैंने सूकर-क्षेत्र की यात्रा की। उपलब्ध साक्ष्यों को एकत्र करके उन्हें लेख का रूप दिया, किन्तु इसके पूर्व कि मैं उसे श्रीचरणों में प्रस्तुत करता, शुक्ल जी का अकस्मात् साकेत-वास हो गया। आचार्य पं० चन्द्रबली पाण्डेय उन दिनों मौलवी महेशप्रसाद जी के साथ मेरे निवास के निकट लङ्का पर ही रहते थे। उनका मुझ पर बहुत स्नेह था। वह लेख दिखा कर उनसे आवश्यक संशोधन करने की प्रार्थना की। पाण्डेय जी ने यथेष्ट परिष्कार करके उसे छपने योग्य बना दिया और शुक्ल जी के नाम अपने एक पत्र के साथ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने के लिए भेज दिया। शुक्ल जी ने उसे प्रथम स्थान देकर 'सरस्वती' में निकाल दिया।

इससे प्रोत्साहित होकर मैंने दूसरा लेख 'कविराज अनीराय' पर तैयार किया। ये मुगल सम्राट् अकबर तथा जहाँगीर के दरबारी कवि और गोस्वामी तुलसीदास के मित्र थे। वृद्धावस्था में ये दिल्ली से अयोध्या चले आए थे और वहाँ वशिष्ठ कुण्ड पर रहते थे। जहाँगीर ने वृत्ति के लिए उन्हें अयोध्या से १५ कि० मी० की दूरी पर स्थित भटपुरवा नामक गाँव दिया था, जहाँ इनके वंशज अब भी रहते हैं। मेरी बाल-बुद्धि-सुलभ न्यूनताओं पर ध्यान न देकर इस लेख को भी शुक्ल जी ने 'सरस्वती' में सम्मान-पूर्ण स्थान देकर प्रकाशित कर दिया।

उपर्युक्त दोनों लेखों के प्रतिपाद्य विषय को अपनी सांस्कृतिक विचार-धारा के अनुकूल पाकर वे बहुत प्रभावित थे। इसका आभास मुझे १९४३ ई० के अक्टूबर महीने में प्राप्त उनके एक पत्र से मिला। उसमें उन्होंने एक ऐतिहासिक विषय पर लेख भेजने का प्रस्ताव किया था।

असावधानी के कारण वह पत्र अस्थानस्थ हो गया, किन्तु उसका विषय-तत्व मेरे स्मृति-पटल पर ज्यों-का-त्यों अंकित है।

उन दिनों मैं काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के टीचर्स टेनिंग कालेज, कमच्छा में छात्राध्यापक था। उक्त पत्र में शुक्ल जी ने लिखा था, 'सरस्वती' में प्रकाशित आपके लेखों से पता चलता है कि आप पूर्वी अवध के इतिहास से भली-भाँति परिचित हैं। मेरा यह अनुरोध है कि आप सुहेलदेव पर एक निबन्ध भेज दें। इस महा-पुरुष पर १० पंक्तियाँ भी यदि लिख कर भेज सकें, तो 'सरस्वती' धन्य हो जायगी।

इस पत्र से मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि शुक्ल जी प्राचीन बौद्ध राज-धानी श्रावस्ती के अन्तिम राजा सुहेलदेव के अस्तित्व और महत्व से परिचित हैं। विस्मृति के गर्त में विलीन क्षेत्रीय इतिहास के इस ज्योतिर्मय नक्षत्र के कृत्यों का ज्ञान उन्हें कैसे हुआ ? यह मेरे लिए एक अनबूझ पहेली थी। सुहेलदेव के विषय में मेरी जन्म-भूमि गोंडा और उसके निकटवर्ती बहरायच जनपद में प्राप्त जन-श्रुतियों तथा उक्त जिलों के गजेटियरों में जो सामग्री उपलब्ध थी, वह अत्यल्प थी। उससे शुक्ल जी को सन्तोष न होगा, ऐसा मैंने अनुभव किया। अतः अपेक्षित ऐतिहासिक तथ्य जुटाने में लग गया।

संयोग-वश हिन्दू-विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय में इलियट तथा डाउ-सन द्वारा सम्पादित ऐतिहासिक ग्रन्थ-माला में अब्दुर्रहमान चिश्ती द्वारा फ़ारसी में लिखित मीरात-ए-मसऊदी का अंग्रेजी अनुवाद प्राप्त हो गया। उसको मुख्य आधार बनाकर मैंने 'सुहेलदेव'-शीर्षक आलेख तैयार करके शुक्ल जी की सेवा में भेज दिया। उसकी प्राप्ति-स्वीकृति के साथ उन्होंने जो पत्र भेजा, उसकी प्रत्येक पंक्ति प्रगाढ़ राष्ट्र-प्रेम से आप्लावित थी। उसके मूल में था सुहेलदेव द्वारा मातृ-भूमि तथा धर्म-रक्षा के लिए किया गया अपूर्व-प्रयास, उनका अद्भुत शौर्य, युद्ध-कौशल तथा अश्रुत-पूर्व संगठन-शक्ति।

सुहेलदेव ने १०३२ ई० में सुलतान महमूद ग़ज़नवी के सगे भानजे सालार मसऊद ग़ाज़ी को, बालादित्य (बहरायच) के सूर्य-मन्दिर पर चढ़ाई करने पर, स्थानीय राजाओं का संघ बनाकर पराजित तथा भूलुण्ठित किया था। इस घटना के कुछ ही दिनों बाद पूरे भारत पर इस्लामी शासन स्थापित हो गया था। अतः सह-धर्मियों ने 'ग़ाज़ी' और 'बाले-मियाँ' की उपाधि से विभूषित कर (फीरोजशाह तुगलक द्वारा निर्मित) उनकी दरगाह की पूजा आरम्भ कर दी और ज्येष्ठ मास के प्रथम रविवार को लगनेवाले सूर्य-कुण्ड-स्नान के प्राचीन मेले को गाजी मियाँ के मेले में बदल कर पराजित को अमर बना दिया, किन्तु विजेता सुहेलदेव को वर्ष में एक बार जलाञ्जलि देनेवाला भी नहीं मिला!

शुक्ल जी को भारत-वासियों, विशेष रूप से हिन्दुओं, द्वारा सुहेलदेव के प्रति बरती गई यह उपेक्षा सालती रही। सांस्कृतिक प्रहरी के रूप में 'सरस्वती' के माध्यम

से उन्होंने देश-वासियों को पितृ-ऋण से मुक्ति पाने का अपना सारस्वत अनुष्ठान पूरा कर डाला।

सम्पादक प्रायः प्राप्त सामग्री का संशोधन, परिवर्द्धन करके प्रकाशन-योग्य बनाने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। पाठकों की ज्ञान-वृद्धि तथा उद्बोधन के लिए नए विषयों का अनुसन्धान और उन पर अधिकारी विद्वानों से आलेख प्राप्त करने का कष्ट विरले ही उठाते हैं। श्रद्धेय **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** जी इसी कोटि के भगीरथ-पन्थी पत्रकार थे। उनका यह दिव्य जीवनादर्श अनन्त काल तक सम्पादन-धर्मी साहित्य-सेवियों का मार्ग-दर्शन करता रहेगा।

•

आचार्य द्विवेदी जी का अप्रकाशित साहित्य

आचार्य द्विवेदी की प्रायः सारी रचनाएँ पुस्तक-रूप में प्रकाशित हैं, तथापि अभी उसका एक महत्त्व-पूर्ण अंश पुस्तक-रूप में उपलब्ध नहीं है। वह है, उनके बहुत से महत्त्व-पूर्ण लेख, जो उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन ग्रहण करने के पहले तथा बाद को दूसरे पत्रों में लिखे थे तथा उनका विशाल पत्र-व्यवहार। उनके पत्रों का यदि संग्रह किया जाय, तो वह एक अभिनव साहित्य प्रस्तुत हो जायगा। उनके पत्रों का संग्रह बहुत से सज्जनों के पास है। इन महानुभावों से हमारा आग्रह-पूर्वक अनुरोध है कि वे उनमें से महत्त्व-पूर्ण पत्रों को छाँटकर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कर दें, ताकि उनका पुस्तक-रूप में संकलन हो सके। जो सज्जन अपने पास के ऐसे पत्र 'सरस्वती' में छपने को भेजने की कृपा करेंगे, उनके वे पत्र हम कृतज्ञता-पूर्वक 'सरस्वती' में छाप देंगे।

—'सरस्वती', सम्पादकीय नोट, मार्च १९३९, पृष्ठ ३२७

वीत-राग साहित्यकार एवं स्व-नाम-धन्य साधक

□ डॉ० बल्लभदास बिन्नानी 'ब्रजेश'

यह जानकर मुझे अपार हर्ष हुआ कि वीत-राग साहित्य-कार एवं स्व-नाम-धन्य साधक श्रद्धेय **पं० श्री देवीदत्त जी शुक्ल** के कृतित्व आदि से सम्बन्धित एक स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। उनकी प्रशंसा में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक ही दिखाना होगा। जीवन के अपने पूर्वार्ध में जिन्होंने अपनी स्वस्थ पत्रकारिता द्वारा हिन्दी-साहित्य को एक नई दिशा एवं चिन्तन दिया, साहित्यिक धारा को एक नया मोड़ दिया एवं 'बाल-सखा' व 'सरस्वती' के अपने कुशल सम्पादकत्व के द्वारा अनेकानेक श्रेष्ठ साहित्यकार हिन्दी-जगत् को प्रदान किए, उन्हें यदि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की द्विवेदी-युग की कड़ी का स्व-नाम-धन्य युग-निर्माता व महारथी कहा जाए, तो कोई भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। वे तपे-तपाए, भगवती 'सरस्वती' के वास्तव में वरद पुत्र व कर्म-योगी थे। कर्मठ इतने कि नेत्र-ज्योति क्षीण होने पर भी उन्होंने अपनी साहित्यिक साधना नहीं छोड़ी, जो उनके जीवन में घुल-मिल गई थी।

जीवन के उत्तरार्ध में वे प्रज्ञा-चक्षु हो गए, जो वास्तव में मात्र जगदम्बा की एक लीला ही थी—उसकी कृपा से उनके अन्तर-पट खुल गए, अतः अब बाह्य नेत्रों की कोई जरूरत नहीं थी। महान् आश्चर्य-जनक एवं चमत्कार-पूर्ण बात उनके इस उत्तरार्ध जीवन में देखने में आई कि उनका सच्चा देवी-साधन-सिद्ध स्वरूप खुलकर उमड़ पड़ा, जो अब तक प्रकारान्तर से अलक्षित था। वे महा-माया के सच्चे सिद्धोपासक थे और उन्हें भगवती का प्रत्यक्ष इष्ट था। वे पूर्ण-रूपेण देवी-मय थे। देवी का सान्निध्य-साहचर्य उन्हें सदैव प्राप्त रहा। ऐसा हमें सदा आभास होता रहा।

जीवन के इसी उत्तरार्ध में प्रज्ञा-चक्षु होने पर उन्होंने भगवती की अनन्य कृपा से सनातन धर्म की महती सेवा से अपने को महिमान्वित किया। खासकर तन्त्र-शास्त्र के प्रचार-प्रसार में उनका योग-दान 'चण्डी' के माध्यम से अति महत्व-पूर्ण व उपयोगी रहा। तन्त्र-शास्त्र के कई श्रेष्ठ ग्रन्थ प्रकाशित कर तन्त्र के प्रति लोगों में फैली हुई भ्रम-भ्रान्ति एवं तिरस्कार-पूर्ण भावनाओं का निराकरण किया। पञ्च-मकार के प्रति फैली हुई सामान्य भ्रान्तियों को उन्होंने स-प्रमाण दूर किया। तन्त्र-शास्त्र उनकी सेवाओं के लिए सदा उनका ऋणी रहेगा, जिसके लिए भगवती की इच्छा से उनका इस पृथ्वी पर पदार्पण हुआ। ऐसे युग-पुरुष का बड़े भाग्य से ही आविर्भाव होता है।

शुक्लजी वस्तुतः एक वीत-राग साहित्यकार एवं भगवती महा-माया के प्रत्यक्ष कृपा-प्राप्त सिद्धोपासक थे। भगवती बाला त्रिपुर-सुन्दरी उनकी कुल-देवी व आराध्य-देवी थीं। इसके अतिरिक्त वे शाक्त-धर्म एवं शक्ति-उपासना के मूर्धन्य, निष्णात ज्ञाता,

भारत की सनातनी एवं चमत्कारी आगम-विद्या के रहस्यज्ञ, प्राच्य-प्रतीच्य अनेक अत्यन्त गुप्त रहस्य-विद्याओं के एवं दुर्लभ मन्त्रों आदि के विशेष विद्वान्, रहस्य-मर्मज्ञ, सिद्धोपासक, ख्याति-प्राप्त परिशीलक, पारदर्शी संशोधक आदि भी थे। इस प्रकार वे गुरुओं के गुरु, सिद्धों के सिद्ध, पहुँचे हुए साधन-सिद्ध तपस्वी थे, जिन्होंने जीवन-पर्यन्त आत्म-प्रचार व प्रशंसा से अपने को दूर रक्खा। यह उनकी विशेष महानता थी। यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र विद्या के वे जाने-माने मर्मज्ञ एवं मूर्धन्य आचार्य एवं सिद्धोपासक हुए।

अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के कारण उनके यहाँ सदा-सर्वदा भारत तथा बाहर के श्रद्धालुओं, भक्तों का, साधकों का ताँता लगा रहता था और वे सबकी साधकीय समस्याओं का बखूबी सन्तोषजनक ढंग से समाधानादि करते थे। कट्टर कौल शाक्त होने पर भी अन्य धर्मों व अन्यान्य देवताओं के प्रति वे पूर्ण सहिष्णु थे। उनमें किसी भी धर्म या देवता के प्रति अनादर की भावना नहीं थी। कई बार उन्होंने मेरी व्यक्तिगत साधना-सम्बन्धी शङ्काओं, समस्याओं का सन्तोषजनक व हृदय-ग्राही ढंग से शास्त्रोक्त समाधान किया था। इस प्रकार उन्होंने मेरे एक मित्र के मन्त्र का संशोधन किया, जिससे उनका वह मन्त्र चैतन्य हो गया, जो वर्षों से प्रभाव-हीन था।

यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र विद्या के विकाश और उसे पूर्ण प्रकाश में लाने के लिए एक-मात्र पूज्य शुक्लजी ही ने सर्व-प्रथम सारे भारत के साधन-सिद्ध साधकों और तन्त्र के विद्वानों को एक ही सूत्र में बाँधने का जो सराहनीय एवं अविस्मरणीय सफल एवं स्तुत्य प्रयास किया, उसके लिए वे सदा अमर रहेंगे। आज भी यह महत् प्रयास 'चण्डी'-कार्यालय और कल्याण मन्दिर प्रकाशन के रूप में उनकी ही प्रेरणा एवं आदर्शों पर चलकर सार्थक रूप से गति-शील है और धर्म की अपूर्व सेवा से अपने को महिमान्वित कर रहा है। सारे भारत के सिद्ध तान्त्रिकों, सन्त महात्माओं की सूचना सदा-सर्वदा उनके पास पहुँचती रहती थी। अतः उन्हें तन्त्र-जगत् का अपने समय का Iiving Encyclopaedia अर्थात् जीवित विश्व-कोश कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इतना होते हुए भी उनमें मधुर व्यंग्य एवं हास्य भी था, जो हृदय को प्रफुल्लित करता था। वे कट्टर कौल शाक्त और मैं कहाँ कट्टर वैष्णव! अतः पञ्च-मकार के प्रश्न पर कहीं-कहीं उनका हमारा मतभेद होता व व्यंग्यात्मक हलकी बौछार-सी होती, पर वे उसे हर प्रकार शास्त्र-सम्मत सिद्ध कर उसके औचित्य को सिद्ध करके ही छोड़ते। वैष्णव-मत में भी दक्षिणाचार ढँग से पञ्च-मकार का प्रयोग शास्त्र-सम्मत है। भगवान् श्री राम एवं कृष्ण ने भी पूर्ण ब्रह्म के होते हुए आद्य-शक्ति भगवती की आराधना की है, इसकी शास्त्रीय मीमांसा उन्होंने मुझसे की। ज्ञान व साधना दोनों के ही वे मूर्तिमान स्वरूप थे। बिरले ही लोगों में ये दोनों विलक्षण विशिष्टताएँ होती हैं। ऐसे स्व-नाम-धन्य साधन-सिद्ध कर्म-योगी तपस्वी के बारे में मेरी ही सामग्री से उनसे सम्बन्धित स्मृति-ग्रन्थ पूरा भरा जा सकता है।

स्थानाभाव से यहाँ मैं पूज्य शुक्ल जी से सम्बन्धित अपने कुछ निजी संस्मरण अङ्कित कर रहा हूँ, जिनसे उनकी विनोद-प्रियता और सभी धर्मों के प्रति आदर-सम्मान की भावना का परिचय मिलता है।

• •

शुक्लजी की विनोद-प्रियता व सब धर्मों के प्रति आदर एवं सम्मान-भाव :

घटना बहुत पुरानी है, सन् १९४० के आस-पास की, जब मैं तीर्थ-राज प्रयाग में यूविंग क्रिश्चियन कालेज का छात्र था एवं अपने आराध्य इष्ट-देव भगवान् श्रीबाल-कृष्ण की प्रेरणा एवं दृष्टान्त से मैंने बाल-साहित्य-सेवा में पदार्पण किया ही था। इस सेवा का सूत्रपात हुआ प्रयागराज से छपनेवाले 'बाल-सखा' मासिक पत्र से, जिसके तत्कालीन सम्पादक ठाकुर श्रीनाथ सिंह जी थे। 'बाल-सखा' से जुड़े होने के नाते प्रथम बार जब मैं ठाकुर श्रीनाथ सिंह से मिला, तो बाद में उन्होंने ही मेरा परिचय आशीर्वाद लेने के लिए **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** से कराया, जो पहले कभी 'बाल-सखा' के यशस्वी सम्पादक रह चुके थे एवं उस समय भारत की सर्व-श्रेष्ठ एवं अपने ढंग की निराली पत्रिका 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक के रूप में अपना गौरव बढ़ा रहे थे।

ऋषियों के समान तेजस्वी, गौर-वर्ण एवं देदीप्यमान, विशाल, सुदर्शन मुखारविन्द, उच्च ललाट एवं उस पर चन्दन व रक्त-वर्ण का त्रिपुण्ड व बिन्दु उनकी गहरी साधना का परिचायक था। कुर्ते एवं उठी धोती के सादे लिबास में भी उनका विशाल दर्शनीय शरीर सभी प्रकार से चैतन्य व जागृत था। शक्ति उनके रोम-रोम में व्याप्त थी। मुझे उनके दर्शन मात्र से ही शाश्वत सुखानुभूति हुई एवं मैं उनसे काफी प्रभावित हुआ। उस समय वे अपने छोटे-से पुराने जमानेवाले कपड़े के गोल बटुए से सुपारी आदि छोटे-से सरौते से कतर रहे थे, जो शायद उनकी नित्य सेवन की आदत थी। तत्पश्चात् उन्होंने मुझे तीक्ष्ण दृष्टि से देखा एवं मेरे ललाट की ओर देखकर जोर से मुस्कुराते हुए बड़े ही विनोद-पूर्ण ढंग से बोले—"लगता है कि तुम वल्लभ-कुल* सम्प्रदाय के अनुयायी हो, अतः तुम्हारी बाल-साहित्य-साधना का ताल-मेल ठीक ही बैठता है।"

मैं आश्चर्य-चकित था कि कैसे उन्होंने अपनी दैवी शक्ति से यह बात जान ली। उसे मैं चमत्कार ही कहूँगा।

तत्पश्चात् उन्होंने 'बाल'-शब्द की बड़े ही मनोरञ्जक, रोचक एवं व्यंग्य-विनोद-पूर्ण ढंग से व्याख्या की, जिससे मैं व ठाकुर श्रीनाथ सिंह दोनों ही खूब हँसने लगे। सुन्दर बाल ही सबको पसन्द आते हैं, यही उनका लक्ष्य था। फिर उन्होंने इसी

---

* पुष्टि-मार्ग, जिसमें कृष्ण भगवान् की बाल-भाव से ही पूजा होती है।

शब्द पर बड़ा रोचक दोहा पढ़ा, जिससे वहाँ हँसी का फव्वारा छूट गया। दोहा इस प्रकार था—

"कहाँ-कहाँ के बाल हैं, कहाँ-कहाँ के बाल।
कहाँ बिहारीलाल हैं कहाँ दुलारेलाल!"

यह दुलारेलाल जी भार्गव पर व्यंग्योक्ति थी।

फिर उन्होंने वातावरण को बदलते हुए मुझसे पूछा—"अपने सम्प्रदाय की सबसे बड़ी गद्दी एवं प्रभु श्रीनाथ जी का दर्शन किए हो? वहाँ की 'सखरी'[1] का महा-प्रसाद लिया है, जो कि बहुत ही स्वादिष्ट एवं सारे भारत में अपने ढँग का निराला होता है?"

मैंने सिर हिलाकर हामी भरी। इस पर वे बहुत प्रसन्न हुए एवं कतरी सुपारी आदि मुँह में डालते हुए प्रसन्न मुद्रा में बोले—"इस महा-प्रसाद का मैंने भी सेवन किया है। वास्तव में अनुपम है।"

इस पर अचानक मेरे मुँह से निकल पड़ा—"आप तो कट्टर कौल शाक्त हैं।[2] आपकी रुचि भगवान् कृष्ण में कैसे?"

तत्क्षण उन्होंने जवाब दिया—"कृष्ण तो सबसे बड़े शाक्त थे।" साथ ही प्रमाण में 'श्रीनादि-गुरु-त्रयं' आदि श्लोक पढ़ा। इस प्रसङ्ग से उनकी सर्व-धर्म-समन्वयता जाहिर होती है। वे पूर्ण सहिष्णु थे एवं सब धर्मों का आदर करते थे। उन्होंने मुझे पुनः मिलने को कहा और बताया कि "पुष्टि-मार्ग के बारे में ऐसी गूढ़ चीजें बताऊँगा, जो कि सम्प्रदाय के आचार्य भी नहीं बता सकेंगे।"

जब मैंने उनके चरण छुए और आशीर्वचन माँगा, तो गद्गद होकर बोले, "प्रभु, तुझसे बाल-साहित्य की अच्छी सेवा कराएगा। यही नहीं, तू बाद में धर्म की सेवा से भी अपने को गौरवान्वित करेगा।"

विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते उस समय मुझे उनकी भविष्य-वाणी कुछ अटपटी-सी लगी थी पर बाद में उनकी यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हुई। ऐसी थी उनकी सूक्ष्म दृष्टि, जो बिरलों को ही प्राप्त होती है। चलते समय उन्होंने मुझे 'बाल-कविता-माला' की एक प्रति भेंट की, जो इण्डियन प्रेस से ही प्रकाशित हुई थी और जिसे उन्होंने 'बाल-सखा' के सम्पादकत्व-काल में प्रस्तुत किया था। पुस्तक उनकी बाल-प्रकृति एवं बाल-रुचि की मर्मज्ञता की परिचायक है। बाल-रुचि के अनुसार ही लिखना चाहिए, यही उनका सत्परामर्श एवं प्रेरणा थी, जिसका मैंने जीवन-पर्यन्त पालन किया।

शुक्लजी की विलक्षण दैवी-बल-सम्पन्नता एवं वाक्-सिद्धि :

सन् १९४७ या १९४८ के दौरान की बात है। उस समय वे 'सरस्वती' से

---

१. कच्ची रसोई के प्रसाद-भोग का नाम।
२. ठाकुर श्रीनाथ सिंह जी ने पहले ही उनके बारे में मुझे सब कुछ बता दिया था।

अवकाश ग्रहण कर चुके थे, पर इसी बीच अपने देश मिरजापुर से मेरा कई बार काम-काज आदि के सिलसिले में प्रयाग-राज बराबर आना-जाना लगा रहा। साल में कम-से-कम १५-२० बार आना-जाना हो ही जाता था। प्रयाग-राज आने पर मैं ऐसी दैवी विभूति के बराबर दर्शन करता और उनके सत्सङ्ग से ज्ञान व साधनादि का यथा-सम्भव लाभ उठाता। उनके रिटायर होने के बाद मैं उनसे प्रायः उनके कटरावाले निवास-स्थान में ही मिला हूँ। अतः परस्पर काफी घनिष्ठता हो गई।

उसी समय हमारी फर्म को कलकत्ते में हमारे मैनेजर के विश्वासघात से कोई ५०/६० लाख का घाटा लगा। उस समय का यह घाटा आज के २० करोड़ के लग-भग था। मेरे धर्म-निष्ठ पिता जी एकाएक बहुत ही नर्वस हो गए, क्योंकि फर्म की प्रतिष्ठा व साख का सवाल था। उस समय देश मिरजापुर में मेरी दादी जी रहती थीं। अतः दुखी हो मेरे पिताजी मिरजापुर में उनसे मिलने आए। वहाँ के ज्योतिषा-चार्य जी के कहने पर इस महान् सङ्कट के निवारणार्थ उन्होंने तुरन्त पितर-पक्ष में ही सहस्रचण्डी का अनुष्ठान कराया, पर वह प्रयोग भी उल्टा ही पड़ा और पूर्णाहुति के दिन बम्बई दुकान के पूजित श्रीगणेशजी गायब हो गए तथा मिरजापुर दुकान के कर्मचारियों में झगड़ा-झमेला तथा मार-पीट तक की नौबत आ गई। बात यहीं तक रहती, तो गनीमत थी लेकिन उससे अर्थ-सङ्कट टलने के बजाय और बढ़ गया। आस्ट्रेलिया वाले माल सप्लाई करने की अवधि और बढ़ाना नहीं चाहते थे। पिता जी अवधि बढ़वाना चाहते थे ताकि धीरे-धीरे बाजार से मन्दे में माल लेकर सप्लाई किया जा सके। अन्यथा बाजार में इतनी तेजी आ गई थी कि उस भाव में माल लेने में फर्म ही फेल हो जाती।

इसी उधेड़-बुन में मुझे पूज्य शुक्ल जी का अचानक स्मरण हुआ। मैं फौरन अपनी कार से प्रयाग-राज जाकर उनसे मिला और सारी दास्तान कह सुनाई। सहस्र-चण्डी के विपरीत फल पर उन्होंने तत्क्षण अपने दैवी बल से दो बातें बताईं। प्रथम यह कि "पितर-पक्ष में ऐसे सकाम अनुष्ठान वर्जित हैं तथा दूसरे यह कि अनुष्ठान विधि-विधान-सहित नहीं किया गया।"*

फिर दो मिनट मौन रह कर वे मुझसे बोले—"घबड़ाने की कोई बात नहीं। फर्म की प्रतिष्ठा पर जरा भी आँच नहीं आएगी। आस्ट्रेलिया वाले अवधि में वृद्धि कर देंगे।"

यह कह कर मुझे पूर्ण आश्वासन दे विदा किया। उनकी यह भविष्य-वाणी अक्षरशः सत्य हुई, जिससे हमारा सारा परिवार बहुत ही प्रभावित हुआ। इसके बाद उनमें मेरी और भी अधिक आस्था हो गई।

'भूखे भजन न होइ गोपाला'—उनकी व्यंग्य-पूर्ण हास्योक्ति :

सन् १९५४ के आस-पास ग्रीष्म-काल की एक घटना है। व्यापार कुछ मन्दा

* बाद में जाँच-पड़ताल करने पर यह बात सही निकली।

जा रहा था। अतः उसके निवारणार्थ मैंने मिरजापुर में एक अच्छे नैष्ठिक कर्म-काण्डी योग्य ब्राह्मण द्वारा वेदोक्त श्री-सूक्त की ऋचा **'कांसोस्मिता'** से सम्पुटित दुर्गा-सप्तशती का ११० पाठ विधि-विधान-पूर्वक कराया। पाठ के बावजूद लगभग दो महीने तक उसका कोई भी फल नहीं मिला। नित्य पाठ चलता था। दैवी आराधना विफल क्यों जा रही है, इसके विवेचन हेतु मैंने तुरन्त अपनी कार से प्रयागराज पहुँच कर शुक्लजी से इस बात की चर्चा की, क्योंकि एक बार, शायद दो साल पहले, उन्होंने ही मुझे, मेरी जिज्ञासा पर, इसी प्रयोग का परामर्श दिया था।

मेरी सारी बात सुनने पर वे दो मिनट मौन रह कर बोले—"अनुष्ठानी ब्राह्मण* को माँ का प्रसाद खिलाते हो या नहीं ?"

मेरे नकारात्मक उत्तर देने पर बड़े ही व्यंग्य एवं विनोद-पूर्ण ढंग से हंसते हुए बोले—"जब किसी योग्य ब्राह्मण से ऐसा कोई सकाम प्रयोग कराओ, तो उसे वहीं अच्छा प्रसाद जरूर खिलाना चाहिए। प्रकारान्तर से वह तुम्हारा पैरवीकार बैरिस्टर ही तो है, जिसे सब प्रकार से प्रसन्न करना चाहिए। तभी तो वह देवता-रूपी हाकिम के सामने आपकी अच्छी पैरवी कर सकेगा। 'भूखे भजन न होइ गोपाला।'

यह कह कर वे बड़ी जोर से हँसने लगे।

'भूखे पेट कहीं भजन होता है'—उनकी इस व्यंग्योक्ति व हास्य में कितना गूढ़ भाव व सत्य सार छिपा था। उनके आदेशानुसार चलने पर मैंने अनुभव किया कि उनकी उक्ति अक्षरशः सत्य है। बाद में उसी अनुष्ठान द्वारा मुझे सफलता मिली। इतने सूक्ष्म तत्व-दर्शी एवं दैवी-बल-सम्पन्न शुक्ल जी थे।

आज के युग में ऐसे साधन-सिद्ध महानुभाव कहाँ मिलते हैं ! वे जगदम्बा के वास्तव में लाड़ले सुपुत्र थे, जिन्हें जगदम्बा सदा अपनी गोद में खिलाती रहती थीं। सनातन-धर्म की उन्होंने जो महती सेवा की है, उसके लिए उनका जीवन धन्य हुआ। शाक्त सम्प्रदाय उनकी सेवाओं के लिए उनका ऋणी रहेगा। तन्त्र-शास्त्र में उनकी गहरी पैठ व मर्मज्ञता आज भी जिज्ञासुओं का मार्ग-दर्शन करती है। तन्त्र-विद्या के विकास, शोध एवं उसे सर्वोपयोगी बनाने में उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। यशः यस्य स जीवति।

●

शिक्षा की समस्या

'...प्रान्तों में शिक्षा की समस्या तभी हल हो सकती है, जब नए विधान के अनुसार बने हुए शिक्षा मन्त्री पैदल गाँवों का दौरा करें और जनता की आवश्यकताओं को समझें।...'

—'सरस्वती', कुछ इधर-उधर की, जनवरी १९३८, पृष्ठ ११२

---

* जिसे पाठ करने में लगभग ५ घंटे लगते हैं।

एक महान् हस्ती

□ श्री० पी० डी० टण्डन

विद्यार्थी-जीवन में ही पत्रकारिता की तरफ मेरी रुचि हो गई थी। उस समय इण्डियन प्रेस में जानी-मानी पत्रिकाएँ छपती थीं। एक व्यक्ति का नाम अक्सर सुना करता था, जिन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में धूम मचा रखी थी। उनकी गम्भीर सम्पादकीय टिप्पणियाँ लोग बड़े ध्यान से पढ़ते थे और उनकी चर्चा करते थे। उनसे मिलने का बहुत जी चाहता था मगर केवल एक मामूली विद्यार्थी होने के कारण मिलने से हिचकता था। वहाँ के एक दूसरे पत्रकार श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' मुझे एक दिन उनके पास ले गए। निराली थी उनकी पोशाक जो मुझे कुछ अजीब और अटपटी लगी।

उन दिनों मेरे दिमाग में किसी बड़े सम्पादक की तस्वीर एक शानदार और शान-शौकत से रहनेवाले व्यक्ति की थी। मैं सोचने लगा कि 'निर्मल' जी ने मुझसे कुछ मजाक किया है और एक देहती-जैसे कपड़े पहने हुए इंसान से मुझे मिला दिया। मैं सोच भी नहीं सकता था कि मैं एक बड़े विद्वान् और महान् सम्पादक के सामने खड़ा हूँ और यह वही सम्पादक महोदय हैं, जिनके लेखों ने मुझ पर एक गहरी छाप लगाई है।

जब मैं **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** जी के सामने बैठा, तो वे बड़े ध्यान से कुछ लिख रहे थे लेकिन फिर भी उन्होंने मुझसे बात करना शुरू कर दिया। उनकी बात में एक अनोखी झलक थी और सब कुछ जानते हुए भी वह बड़ी नम्रता से बात करने लगे। करीब आधे घंटे तक बातचीत जारी रही और मैं उस दिन उनसे मिलने के बाद बहुत खुशी-खुशी घर लौटा। उसके बाद जब कभी मैं इण्डियन प्रेस जाता था, तो उनसे अवश्य मिलता था।

शुक्ल जी ने कभी किसी को कुछ सिखाने का दावा नहीं किया मगर वह अपनी बात-चीत से, लेखों से और व्यक्तित्व से काफी लोगों को बहुत कुछ सिखा देते थे। उनकी एक महान् हस्ती थी। मैं उन्हें सादर प्रणाम करता हूँ।

●

सम्पादन-कला के आचार्य और हिन्दी के सजग प्रहरी

□ विद्या-वाचस्पति डॉ० गौरीशंकर गुप्त

स्व० पं० देवीदत्त जी शुक्ल के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे कभी नहीं मिला, फिर भी 'सरस्वती' के यशस्वी सम्पादक के रूप में उनके प्रति मन में असीम आदर तथा श्रद्धा का भाव रहा है। उनसे पत्राचार करने का सौभाग्य भी मुझे नहीं मिल सका, तथापि उनका एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक पत्र 'राष्ट्र श्री संग्रहालय' (गायघाट, वाराणसी-१) में सुरक्षित है। श्रद्धेय शुक्ल जी का उक्त कृपा-पत्र २१-१०-१९५८ का है, जो कल्याण मन्दिर, कटरा[1] प्रयाग-२ से इन पंक्तियों के लेखक को लिखा गया था। उनके स्मृति-ग्रन्थ के लिए मैं उसे यहाँ अविकल रूप में उद्धृत कर रहा हूँ—

प्रिय गुप्तजी,

आपका २९-९-५८ का कृपा-पत्र तथा 'पत्रककार-वृहत्-त्रयी' नाम की पुस्तिका यथा-समय मेरे घर पहुँच गई थी, परन्तु भूल से पुस्तिका का पैकेट एक ऐसे स्थान पर पहुँच गया था कि बड़े प्रयत्न करने पर आज (२१-१०-५८ को) प्राप्त हो सका। इससे समुचित उत्तर तथा पुस्तक के सम्बन्ध में सम्मति देने में अत्यधिक विलम्ब हो गया। इसके लिये बार-बार क्षमा चाहता हूँ।

मैं अन्धा हो गया हूँ। किसी तरह का कोई काम नहीं कर सकता हूँ। ऐसी परिस्थिति में यदि मैं आपके किसी उपयोग में आ सकता हूँ, तो आप स्वतन्त्रतापूर्वक मेरा उपयोग कर सकते हैं। मैं यथा-शक्ति सेवा करने को सदा तैयार मिलूँगा। श्रद्धास्पद श्री दुगवेकर जी[2] के सम्बन्ध में जो कुछ बन पड़ेगा, सेवा में लिखकर अवश्य भेजूँगा।

आपने जो यह पुस्तक लिखी है, उसे पढ़वाकर आद्योपान्त सुना। इसमें 'पत्रकार-वृहत्-त्रयी' शीर्षक अंश मुझे बहुत ही अधिक हृदय-ग्राही प्रतीत हुआ। आपने यह अंश बहुत सुन्दर लिखा है। यदि यह अंश इस प्रकार न लिखा जाता, तो पुस्तक उतनी सुन्दर न होती। मुझे आश्चर्य हुआ कि आपने यह पुस्तक क्यों लिखी? जान पड़ता है कि आपने लाभ की भावना से यह कार्य नहीं किया है, केवल विशुद्ध साहित्यिक भावना की प्रेरणा से ही यह लघु पुस्तिका लिखी है। ऐसी पुस्तकों को न कोई खरीदता है, न कोई पढ़ता है। हिन्दी के पाठकों की ऐसी पुस्तकों के पढ़ने की कोई अभिरुचि भी नहीं है। आप वास्तव में धन्य हैं, जो इस दिशा में अग्रसर

१. सम्प्रति 'कल्याण मन्दिर प्रकाशन', अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—२११००६।

२. सम्पादकाचार्य स्व० पं० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर।

हो रहे हैं; हिन्दी के इस प्रकार के साहित्य के प्रवर्तन के लिये प्रयत्नवान हुए हैं। इसके लिये आपको अनेक साधुवाद।

हिन्दी में अनेक सम्पादक हो चुके हैं और इस समय भी हैं, जिन्होंने अपना खून सुखाकर हिन्दी और हिन्द की सेवा की है। परन्तु उनको कौन पूछता है! बाबू श्यामसुन्दर दास ने इण्डियन प्रेस के अनुरोध से हिन्दी के महारथियों के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी थी। उस पुस्तक की पाण्डुलिपि जब मुझे देखने को दी गई, तब मैंने नामावली पढ़कर निवेदन किया कि इसमें बहुत से व्यक्तियों का परिचय छूट गया है और मैंने ऐसे ३५ व्यक्तियों के नाम गिनाए। बाबू साहब ने मुस्कराकर कहा था कि "आप स्वयं इन व्यक्तियों के सम्बन्ध में लिखिएगा।" इसका यहाँ उल्लेख करने का मतलब यह है कि आप भी कहीं 'बृहत्-त्रयी' के वर्गीकरण के फेर में पड़कर उन सम्पादकों को तिरस्कृत न कर दें, जो अपने-अपने क्षेत्र में कम महत्त्व का स्थान नहीं रखते। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी तथा बाबू शिवपूजनसहाय ने अपने कथनों में कुछ स्वर्गीय तथा जीवित सम्पादकों के नाम गिनाए हैं, परन्तु अनेक के नाम कदाचित् स्थानाभाव से छोड़ भी दिए। उदाहरण के लिये ब्रह्मर्षि पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, स्व० पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, 'आनन्द' के सम्पादक स्वर्गीय शिवनाथ शर्मा आदि-आदि।

मैं देखता हूँ कि आप में पत्रकारों के प्रति अभिनव श्रद्धा और आदर का भाव है। ऐसा जान पड़ता है कि आप इस क्षेत्र में कोई महत्त्व का कार्य करने का विचार रखते हैं। इसी से ऊपर की बातें लिखकर मैंने आपका ध्यान आकृष्ट करने का साहस किया है। इस पुस्तक के लिखने के लिए मैं आपको पुनः बधाई देता हूँ।

विनीत
देवीदत्त

पुनश्चः—आपने मेरा चित्र माँगा है। मुझे चित्र उतरवाने का कभी शौक नहीं रहा है और न इस स्थिति में ही रहा हूँ कि चित्र उतरवा सकूँ। मेरे पास अपना कोई चित्र नहीं है। अतएव आपकी आज्ञा पालन करने में असमर्थ हूँ। क्षमा कीजिएगा।"—दे०

ऐसे स्पष्ट-वक्ता थे शुक्ल जी! उनके जैसे हिन्दी के सजग प्रहरी और सम्पादन-कला के आचार्य की पुण्य स्मृति में प्रकाशित ग्रन्थ नई पीढ़ी का मार्ग-दर्शन करेगा और उससे हिन्दी साहित्य तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्य करनेवाले सभी लोगों को प्रेरणा मिलेगी, इसमें सन्देह नहीं। मैं उनकी पुण्य-स्मृति का हार्दिक श्रद्धा-पूर्वक पुनः पुनः वन्दन करता हूँ।....

●

विलक्षण पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ प्रोफेसर डा० व्रजेश्वर वर्मा

मेरा सौभाग्य है कि मुझे पंडित देवीदत्त शुक्ल का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करने का अवसर मिला। सबसे पहले मैंने शुक्ल जी के दर्शन सन् १९३८-३९ में किए थे। उस समय मैं एम० ए० प्रथम खण्ड का विद्यार्थी था। मेरे सुहृद् अग्रज पण्डित उमेश-चन्द्र देव ने, जो हिन्दी-साहित्य में मेरी रुचि बढ़ाने और उसे परिष्कृत करने के नाते मेरे गुरु, सखा और मार्ग-दर्शक थे, 'सरस्वती' के लिए एक लेख तैयार करके मेरे पास भेजा, जिसे लेकर मैं शुक्ल जी के पास गया और उसे 'सरस्वती' में छापने के लिए स्वीकार करने का अनुरोध किया। लेख का विषय था 'फर्रुखाबाद के साध'।

फर्रुखाबाद में 'साध' नाम का एक विलक्षण जाति-समाज है, जिसका मुख्य व्यवसाय कपड़ों पर छपाई करना था। उनकी छपाई की न केवल देश में, बल्कि विदेशों तक ख्याति थी। साध-समाज अत्यन्त सीमित और अपने में घनिष्ठतापूर्वक बँधा हुआ समाज था। उनके रीति-रिवाज, पहनावा, व्यवहार, सामाजिक सम्बन्ध आदि सभी भिन्न और विशिष्ट प्रकार के होते थे। पण्डित उमेशचन्द्र जी ने एक ऐसे विषय पर लेख तैयार किया था, जो कुतूहल और जिज्ञासा ही नहीं, अपने समाज की विविधता का एक नया उदाहरण प्रस्तुत करता था, जो सामान्य पाठकों के लिए तो ज्ञानवर्धक और मनोरञ्जक था ही, समाज-शास्त्रियों के लिए भी अत्यन्त उपादेय था। शुक्ल जी ने उस लेख को देख कर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की।

वह लेख तो 'सरस्वती' में छापा ही, उन्होंने मुझसे कहा कि साधों के विषय में वे सचित्र लेख-माला छापना चाहते हैं। लेख-माला छपी और इसी के परिणाम-स्वरूप पण्डित उमेशचन्द्र देव 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक बन कर फर्रुखाबाद-मैनपुरी से इलाहाबाद आ गए। 'सरस्वती' में आकर उनका नाम 'उमेशचन्द्र मिश्र' हो गया। शुक्ल जी कुल-नाम 'देव' के साथ आत्मीयता का अनुभव नहीं कर सके, था भी नहीं वह उमेश जी का कुल-नाम। वे मिश्र ही थे।

इसी बहाने मुझे भी शुक्ल जी का अपार स्नेह प्राप्त होता रहा। अनेक वर्षों तक 'पुस्तक-समीक्षा' कालम का मैं एक प्रकार से स्थायी लेखक बना रहा। 'सरस्वती' में मेरी कुछ कविताएँ भी छपीं और कुछ लेख भी। इसी क्रम में मैंने इण्डियन प्रेस के कुशल प्रबन्धक स्वर्गीय श्री हरिकेशव घोष 'पटल बाबू' का भी परिचय प्राप्त किया। 'सरस्वती सीरीज' में मेरी कई पुस्तकें छपीं—एक समीक्षा- पुस्तक और कई

मौलिक, रूपान्तरित और अनूदित उपन्यास। इस सबके पीछे **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** और पण्डित उमेशचन्द्र मिश्र का ही वरद हस्त था।

पण्डित देवीदत्त शुक्ल के व्यक्तित्व में सहज सरलता के साथ असाधारण विलक्षणता का मिश्रण था। आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के संरक्षण और सान्निध्य में उन्होंने सम्पादन-कला का प्रशिक्षण और अभ्यास किया तथा उनकी परम्परा को 'सरस्वती' के माध्यम से स्थायित्व प्रदान किया। आचार्य द्विवेदी के प्रकाशित पत्रों में अनेक पत्र शुक्ल जी के नाम हैं, जिनसे प्रकट होता है कि आचार्य द्विवेदी उनको कितना आदर देते थे।

भाषा के परिमार्जन में शुक्ल जी का महत्व-पूर्ण योग-दान रहा है। आज न तो 'सरस्वती'-जैसी पत्रिकाएँ हैं और न शुक्ल जी जैसे परिश्रम-शील सम्पादक। भाषा में जो अराजकता का साम्राज्य छाया हुआ है, उसका एक कारण सम्पादकों का प्रमाद भी है। द्विवेदी जी और शुक्ल जी के समय में सम्पादन-कार्य का पहला पाठ प्रूफ़-संशोधन हुआ करता था और हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अच्छी प्रूफ़-रीडिंग के साथ-साथ भाषा के संशोधन और परिमार्जन का भी दायित्व निभाएँ।

शुक्ल जी ने न जाने कितने नए लेखकों को तैयार किया, उन्हें अच्छी भाषा लिखना सिखाया और इस क्रम में हिन्दी भाषा की एक सहज स्वदेशी शैली का संस्कार किया। आज जब अंग्रेजी के दबाव और उसके साहबी प्रभाव के कारण हिन्दी की प्रकृति में विकारों की भरमार हो रही है, शुक्ल जी का स्मरण एक कचोट पैदा करता है।

शुक्ल जी की सम्पादकीय टिप्पणियों से उनके व्यक्तित्व का जो परिचय मिलता है, उसका सही-सही आकलन अभी नहीं हुआ है। छद्म नामों से लिखे उनके लेखों के आधार पर उस समय की साहित्यिक गतिविधियों की उपयोगी सामग्री एकत्र की जा सकती है।

पण्डित देवीदत्त शुक्ल का यह बाह्य व्यक्तित्व था। व्यवहार, आचरण और चरित्र में उनसे अधिक विनयी, स्नेही, सच्चा, शुद्ध और पवित्र व्यक्ति दुर्लभ है। सम्पादन और मनुष्य के रूप में उनकी उदारता की मिसाल नहीं थी, परन्तु अपने धार्मिक विश्वास और उसके अनुसार धार्मिक कर्म-काण्ड के पालन में उनके समान कठोर व्यक्ति भी विरला ही होगा। वे वाम-मार्गी शाक्त थे। अपने कुल की परम्परा से उन्हें जो प्राप्त हुआ था, उसकी संरक्षा ही नहीं, उसके संवर्धन के लिए भी वे सदैव प्रयत्न-शील रहे। उनकी मान्यता थी कि कान्यकुब्ज—विशेष रूप से कान्यकुब्ज ब्राह्मण—शाक्त परम्परा के सबसे बड़े पोषक और संवाहक रहे हैं। जो शाक्त विचार-धारा के कुछ भी अनुकूल आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है। इस विषय में उनके

विचार और क्रिया-कलाप को देखकर लगता था कि मनुष्य किस प्रकार दो युगों में एक साथ सफलतापूर्वक निर्वाह कर सकता है।

विश्वास की दृढ़ता और उसके प्रति अदम्य आग्रह शुक्ल जी के चरित्र का वह पक्ष है, जो किसी को भी व्यक्तित्व प्रदान करता है। उनके अन्तरिक और आध्यात्मिक चरित्र की यह दृढ़ता उनके भाषा और साहित्य-सम्बन्धी विचारों और सिद्धान्तों में भी प्रकट होती थी।

यह देखकर दुःख होता है कि **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** की स्मृति को सुरिक्षत रखने और चिर-स्थायी बनाने का प्रयास इतने सीमित दायरे में—मुख्य रूप से उनके पुत्र-पौत्रों तक सीमित दिखाई देता है। दुनिया कितनी क्रूर और कृतघ्न होती है! हिन्दी की दुनिया भी उसका अपवाद नहीं है।

•

साहित्यकारों के जीवन-वृत्तान्त

काशी-नागरी प्रचारणी सभा की ओर समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ है कि वह काशी के स्वर्गीय साहित्यिक श्रीयुत जयशङ्कर प्रसाद जी की एक विस्तृत और प्रामाणिक जीवनी प्रकाशित करना चाहती है। इस सूझ के लिए सभा की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

इस अवसर पर सभा के ध्यान में हिन्दी-साहित्य का एक और अभाव आना चाहिए। वह यह कि हिन्दी में किसी भी श्रेष्ठ साहित्य-कार का जीवन-वृत्तान्त स्वयं उसी के शब्दों में उपलब्ध नहीं है। द्विवेदी-युग के बहुत से दीपक अभी प्रकाशमान हैं। यदि वे एक-एक कर बुझ गए, तो यह कार्य फिर एक पीढ़ी पिछड़ जायगा। इसलिए क्या अच्छा हो कि सभा उन नर-रत्नों से उनका जीवन-वृत्तान्त लिखवाने की चेष्टा करे।

नागरी प्रचारिणी सभा के मुख्य स्तम्भ बाबू श्यामसुन्दर दास अभी हमारे बीच में विद्यमान हैं। उन्होंने हजारों पृष्ठों के ग्रन्थ लिखे हैं और उनकी लेखन-शक्ति और प्रतिभा अभी क्षीण नहीं हुई है। सभा थोड़ा भी प्रयत्न करे, तो वे अपनी एक वृहत् आत्म-कथा लिख सकते हैं। वह आत्म-कथा हिन्दी-साहित्य के एक युग का जीवित इतिहास होगी। इसी प्रकार महा-कवि हरिऔध, पं० रामचन्द्र शुक्ल से भी उनकी आत्म-कथाएँ लिखाई जा सकती हैं। सुनते हैं, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने पूज्य द्विवेदी जी का जीवन-वृत्तान्त उनके पास बैठ कर लिखने की इच्छा प्रकट की है। इसमें सन्देह नहीं, इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए चतुर्वेदी जी सर्वथा उपयुक्त हैं। आशा है, वे शीघ्र ही इस कार्य का श्रीगणेश करेंगे।

—'सरस्वती', कुछ इधर-उधर की, जनवरी १९३८, पृष्ठ ११०

सम्पादकाचार्य पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

सन्, सम्वत्, मास या तिथि का मुझे ठीक स्मरण नहीं। इतना अवश्य स्मरण है, मैंने **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** के दर्शन सर्व-प्रथम निरालाजी के साथ किए। मैं उन दिनों काशी विश्व-विद्यालय में एम० ए० का छात्र था। वहाँ से किसी छुट्टी में प्रयाग आया था। महा-कवि निराला भी उन दिनों प्रयाग आए हुए थे, लीडर प्रेस में वाचस्पति पाठक जी के घर पर ठहरे थे। लखनऊ के विद्यार्थी-जीवन में ही वाचस्पति पाठक जी से मेरी मैत्री हो गई थी। मैं भी प्रयाग में प्रायः पाठक जी के घर पर ही ठहरा करता था। मुझे आया देख निराला जी प्रसन्न हुए। रात में अनेक प्रकार की साहित्यिक चर्चा हुई।

दूसरे दिन निराला जी ने स्वयं प्रस्ताव किया—"चलिए, आपको 'सरस्वती'-सम्पादक शुक्ल जी से मिला लाएँ।"

मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। निराला जी के साथ शुक्ल जी के दर्शन करने मैं इण्डियन प्रेस गया। शुक्ल जी अपने सम्पादकीय आसन पर विराजमान थे। उन्होंने उठकर बड़ी आत्मीयता और प्रेम से निराला जी का स्वागत किया।

निराला जी ने मेरे प्रति अपने स्नेहाधिक्य के कारण कुछ अधिक विस्तार से मेरा परिचय दिया। जब शुक्ल जी को ज्ञात हुआ, मेरा सम्बन्ध कसमण्डा के राज-वंश से है, तो वे बड़े प्रसन्न हुए और प्रथम दर्शन में ही मुझ पर अत्यन्त आत्मीयता और प्रेम उड़ेल-सा दिया। किसी प्राचीन प्रसङ्ग का स्मरण करते हुए कहा—"कसमण्डा-नरेश राजा सूर्यबख्श सिंह ने विद्यार्थी-जीवन में मेरी सहायता की थी। वे राजर्षि हैं।"

सचमुच वे राजर्षि-कल्प थे। वे बड़े ही सदाचारी और सम्मानित राजाओं में थे। महा-मना मालवीय जी उनका बड़ा आदर करते थे। जब विश्व-विद्यालयों द्वारा अत्यन्त विशिष्ट राष्ट्रीय स्तर के व्यक्तियों को डी० लिट्० की उपाधि दी जाती थी, उन दिनों उनको काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय ने अपने जयन्ती-समारोह में डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की थी। शुक्ल जी ने उनकी प्रशंसा की, जो सर्वथा उचित थी। उनके किसी उपकार को शुक्ल जी स्मरण कर रहे थे और उसके ब्याज से मेरे जैसे अल्पज्ञ तरुण को भी सम्मान दे रहे थे। यह उनके आन्तर औदार्य की महानता का ही प्रमाण था। छोटा आदमी कृतज्ञ नहीं हुआ करता और न वह अहैतुक श्रेय और सम्मान प्रदान कर सकता है।

अब एक बड़ा मनोरञ्जक प्रसङ्ग सामने आया। मैं एक विद्यार्थी मात्र था।

अवश्य कुछ कविताएँ और लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे, पर मैं एक ऐसे महान् सम्पादक के समक्ष था, जो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अन्तेवासी ही नहीं थे, उनके गौरवशाली उत्तराधिकारी थे। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन में विशिष्ट योग-दान किया था। आचार्य द्विवेदी जी की सम्पादन-कुशलता के नए-नए आयाम उन्होंने 'सरस्वती' के अपने सम्पादन-काल में प्रकट किए थे। 'सरस्वती' में नया निखार आया था। उसकी साहित्यिक नीति अधिक उदार बनी थी। नए-नए कवि और लेखकों की प्रतिभाएँ शुक्ल जी ने पहचानी थीं। उन्हें 'सरस्वती' के माध्यम से प्रकाश में लाए थे।

ऐसे सम्पादकाचार्य शुक्ल जी ने मुझे सायंकाल अपने घर पर भोजन के लिए आमन्त्रित किया। हँसते हुए निराला जी से पूछा, 'इनके लिए हिरन या छाग किस प्रसाद की व्यवस्था की जाय ?'

निराला जी ठठा कर हँसे। कहा, 'ये कट्टर वैष्णव हैं, तुलसी-भक्त ! इनको क्या खिलाइएगा ?'

शुक्ल जी भी ठठा कर हँसे, 'बैसवारा छोड़कर वैष्णव हो गए हो ? अपनी कुल-देवी, बकसर की चण्डिका को भुला बैठे ! वैष्णव बन गए !!'

मैं कुछ उत्तर न दे सका। फिर निराला जी के विषय में चर्चा हुई। कहा, 'लोग इन्हें नहीं जानते। ये महान् कौल हैं। महा-कवि के रूप में ये हिन्दी में अमर होंगे।'

वह निराला के चतुर्दिक् विरोध का युग था। शुक्ल जी उनको यह सम्मान दे रहे थे, ऐसी भविष्य-वाणी कर रहे थे ! मैं विस्मित था, उनकी पार-दर्शी सहृदयता देखकर।

कुछ दिनों बाद एक विराट् समारोह में मुझे बकसर जाना पड़ा। वहाँ मैंने डौंड़ियाखेरे के महान् इतिहास पर, विशेषतः राव रामबख्श सिंह के बलि-दान को केन्द्र बनाकर एक कविता पढ़ी। कविता वहाँ उपस्थित जन-समुदाय में बहुत पसन्द की गई। इस कविता की बात सम्पादकाचार्य शुक्ल जी के कानों तक पहुँची। उन्होंने मेरी वह कविता 'सरस्वती' में छापी और उस पर सम्पादकीय प्रशस्ति भी लिखी। मेरे उदीयमान कवि की वह असाधारण अनन्य उपलब्धि थी। मैं आज भी शुक्ल जी की स्मृति की पूजा करता हूँ।

'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में शुक्ल जी की उपलब्धियाँ महान् हैं। खेद है, उनके सम्पादकीय कृतित्व का सम्यक् मूल्याङ्कन आज तक नहीं हो पाया।

'सम्पादक के पचीस वर्ष' नाम से उनकी जो पुस्तक प्रकाशित हुई है, वह तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों पर लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। साथ ही, वह शुक्ल जी की सम्पादकीय सत्य-निष्ठा और खरी ईमानदारी का भी प्रमाण है। समय होता, तो मैं उस पर विस्तार से लिखता।

'कुछ खरी-खरी' नाम से उनकी जो पुस्तक प्रकाश में आई है, वह इस बात का प्रमाण है कि शुक्ल जी अपने समय की साहित्यिक प्रवृत्तियों के सजग संशोधक थे।

मिश्र-बन्धुओं की हिन्दी-सेवा अविस्मरणीय है, पर उन्होंने अपने लेखन में हिमालय-जैसी अनेक भूलें भी की हैं। इनको बतलाने के लिए शुक्ल जी ने 'मिश्र-बन्धुओं का धर्म-तत्त्व' और 'मिश्र-बधुओं की भद्दी भूलें' जैसे निबन्ध लिखे।

पण्डित पद्मसिंह शर्मा हिन्दी के जाने-माने विद्वान् थे। वे आचार्य द्विवेदी जी के भी कृपा-पात्र थे, पर शुक्ल जी को उनकी प्रसिद्धि सत्य कहने से विचलित नहीं कर सकी। उन्होंने लिखा है—

> '....शर्मा जी हिन्दी के महारथी की प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं, या नहीं, इसके समाधान के लिए उनकी कृतियों की ओर ध्यान गया और समाधान नहीं हुआ, यह लिखते हुए दुःख होता है।...'

इस प्रकार शुक्ल जी ने प्रत्येक प्रसङ्ग और परिस्थिति में सम्पादकीय निस्स-ङ्गता का निर्वाह किया। भले ही वे बहुत विज्ञापित नहीं हुए किन्तु अपने सम्पाद-कीय दायित्व का उन्होंने बड़ी गरिमा के साथ निर्वाह किया।

इस समय के 'विशाल भारत' जैसे पत्र हिन्दी में पीत-पत्रकारिता की नींव डाल रहे थे। शुक्ल जी ने 'सरस्वती' को ऐसी हल्की प्रवृत्तियों से मुक्त रखा। वे सच्चे अर्थों में एक महान् सम्पादक थे। उनकी बहुज्ञता भी अद्वितीय ही थी। उनका लिखा हुआ 'अवध के गदर का इतिहास' एक श्रेष्ठ कृति है।

'चण्डी' पत्रिका का प्रकाशन भी मेरी दृष्टि में उनके कृतित्व का एक सुमेरु है। शाक्त साधना के कितने ही अज्ञात आयाम उसके द्वारा उद्घाटित हुए हैं और हो रहे हैं। शुक्ल जी के विराट् कृतित्व का अभिनन्दन इन थोड़े से शब्दों में सम्भव नहीं। कारण, यह निर्णय करना कठिन है कि उनका व्यक्तित्व बड़ा था या कृतित्व। वे जितने महान् मानव थे, उतने ही महान् मनीषी भी। मैं उनकी स्मृति को नमन करता हूँ और करता रहूँगा।

●

हार्दिक समवेदना

'विशाल भारत' के सहकारी सम्पादक श्रीयुत व्रजमोहन वर्मा का १० दिसम्बर को कानपुर में स्वर्गवास हो गया।...अभी वे ३३ वर्ष के ही थे और अपने इस लघु-जीवन में 'विशाल भारत' के द्वारा उन्होंने राष्ट्र-भाषा की जो सेवा की है, वह किसी भी हिन्दी-प्रेमी नवयुवक के लिए अनुकरणीय है। वे एक प्रतिभा-शाली लेखक थे। हमारी उनके दुखी परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना है।—'सरस्वती', सम्पादकीय नोट, जनवरी १९३८, पृष्ठ १२७

उदार-मना मनीषी पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ **श्री भक्तदर्शन**

हिन्दी की सु-प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** की ख्याति सर्वत्र फैल चुकी है और एक सिद्ध-हस्त लेखक तथा सफल सम्पादक के नाते उन्हें याद किया जाता रहेगा। मुझे स्वयं उनसे प्रोत्साहित होने का जो सु-अवसर प्राप्त हुआ था, वह मेरे लिए अभी भी प्रेरणा-दायक है।

सन् १९३६ के जाड़ों में मैं इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में राजनीति-शास्त्र का विषय लेकर एम० ए० कक्षा में अध्ययन कर रहा था तथा हॉलैण्ड हॉल नामक छात्रावास में रहता था। मुझे एक बार एक हिन्दी भाषण-प्रतियोगिता में भाग लेने का सु-अवसर मिला, जिसमें शुक्ल जी भी एक निर्णायक थे। मुझे उस अवसर पर द्वितीय पुरस्कार मिला था।

जब वह समारोह समाप्त हो गया, तब उन्होंने स्वयं मुझे खोजा और मेरी पीठ थप-थपा करके प्रोत्साहित किया कि मैं अगली बार प्रथम पुरस्कार प्राप्त करने का प्रयास करूँ। उनके वे शब्द मुझे भली-भाँति याद हैं और अब भी प्रेरणा देते रहते हैं।

ऐसे उदार-मना मनीषी की स्मृति में मैं अपनी भाव-भरी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

●

कांग्रेस से समय की माँग

'...कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल अब कोई ऐसा ठोस काम करें, जिससे देश के 'दरिद्र-नारायणों' का उद्धार हो जाय। कांग्रेस से समय की यही माँग है और इसी की पूर्ति में उसका महत्त्व है।...'

—'सरस्वती', सम्पादकीय नोट, फरवरी १९३८, पृष्ठ २२८

निःस्वार्थ निष्ठा-वान् हिन्दी-सेवक शुक्ल जी

□ पण्डित रामबहोरी शुक्ल

शुक्ल वर्ण, सुगठित शरीर, रोली की बिन्दी से सुशोभित प्रशस्त ललाट, प्रसन्न वदन पर मेरी दृष्टि सहज ही केन्द्रित हुई, जब मैंने इण्डियन प्रेस के सरस्वती-सम्पादक कक्ष में प्रवेश किया। सन् १९३८ की बात है। उन दिनों मैं क्वींस कालेज, बनारस (अब वाराणसी) में हिन्दी का अध्यापक था और काशी नागरी प्रचारिणी सभा में प्रधान मन्त्री निर्वाचित हो गया था। सभा की पुस्तकों का प्रकाशन तथा विक्रय तब इण्डियन प्रेस के हाथ में था। उससे उत्पन्न बहुत सी आर्थिक समस्याएँ सुलझाने के लिए मैं श्री हरिकेशव घोष (पटल बाबू) से बातें करने के लिए प्रयाग आया था।

उन्हीं दिनों राष्ट्रभाषा-विषयक विवाद भी प्रबल रूप से चल रहा था। कुछ अन्य प्रदेशों के साथ हमारे प्रदेश में भी कांग्रेस ने मन्त्रि-मण्डल बनाया था। श्री सम्पूर्णानन्द जी उसमें शिक्षा-मन्त्री थे। यद्यपि कांग्रेस हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा मानती थी, तथापि बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने नागरी प्रचारिणी सभा एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में कह दिया था कि मैं ऐसी भाषा को राष्ट्र की भाषा मानता हूँ, जिसमें संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता हो। इस पर उर्दू के समर्थक बौखला उठे थे। चारों ओर से वे इसका डटकर विरोध कर रहे थे। इस पर हिन्दी के समर्थकों के भी कान खड़े हुए। उन दिनों उर्दू का पक्ष लेकर जो लोग आगे बढ़े, उनमें दिल्ली की अंजुमने तरक्किए उर्दू के सर्वेसर्वा मौलवी अब्दुल हक प्रमुख थे। वे 'हमारी जबान' नामक पत्रिका के माध्यम से उर्दू का प्रचार और हिन्दी का विरोध करने में कुछ उठा नहीं रखते थे। यों तो हिन्दी में समाचार-पत्रों की कमी न थी, किन्तु उर्दू का समर्थन करने के लिए जैसी 'हमारी जबान' थी, वैसी कोई ऐसी पत्रिका न थी, जो केवल हिन्दी का पक्ष उजागर करती। इस अभाव की पूर्ति कुछ अंश में 'हिन्दी' नामक मासिक पत्रिका ने करना आरम्भ किया था।

'हिन्दी' के अवतरण की कथा अब तक अविदित है। उन दिनों पण्डित श्री नारायण चतुर्वेदी जी प्रदेश के शिक्षा-विभाग में उच्चाधिकारी थे। वे खुलकर हिन्दी-आन्दोलन में सक्रिय योग-दान नहीं कर सकते थे, फिर भी उनमें हिन्दी के प्रति असाधारण अनुराग था। उन्होंने इस जन को नागरी प्रचारिणी सभा से ऐसी पत्रिका निकालने की चेष्टा करने को कहा, जो हिन्दी-उर्दू के वास्तविक पक्षों को प्रकाश में लाए। तदर्थ उन्होंने श्री पटल बाबू से पत्रिका के लिए कागद देने एवं छपाई की निःशुल्क व्यवस्था करने का दायित्व लेने को तैयार किया। श्रद्धेय श्री चतुर्वेदी जी की प्रेरणा से इस जन ने पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय जी को पत्रिका का अवैतनिक रूप से सम्पादन

करने को राजी किया । पटल बाबू ने इण्डियन प्रेस की बनारस शाखा में इस कार्य के सम्पादन का प्रबन्ध कर दिया ।

इसके बहुत पहले पाण्डेय जी डी० लिट्० के शोध-कार्य को बीच में ही छोड़कर हिन्दी-आन्दोलन में पूरी तरह से कूद चुके थे । वे फारसी तथा उर्दू के अच्छे जानकार थे, उनकी सूझ बहुत गहरी थी, उनकी लेखनी में जोर था । वे भौतिक सुख-सुविधा की मोह-मयी आकांक्षाएँ एकदम छोड़ चुके थे । इससे वे निर्भय होकर, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी के पोषकों तथा पक्षधरों के राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार के महत्त्व से डरे बिना, खुलकर तथ्य-पूर्ण लेख लिखकर प्रकाशित करने से हिचकते न थे । वे किसी भी बड़े-से-बड़े नाम-धारी व्यक्ति की तथ्य-हीन बातों का खण्डन करने में नहीं हिचकते थे । सो पाण्डे जी को अपनी बातें कहने के लिए 'हिन्दी' मिल गयी, जिसे सभा ने अपने तत्त्वावधान में पाक्षिक रूप में प्रकाशित करना आरम्भ किया ।

सभा में हम लोगों को यह अनुभव हुआ कि हिन्दी के पत्रों तथा उसकी पत्रिकाओं में अभीष्ट मात्रा में तथा यथेष्ट रूप में उर्दू की वास्तविकता तथा हिन्दुस्तानी के छद्म रूप का उद्घाटन नहीं हो रहा है । इस सम्बन्ध में पत्राचार करके हिन्दी के लेखकों, सम्पादकों आदि को सक्रिय बनाने की चेष्टा की गई । साथ ही व्यक्तिगत सम्पर्क करके काम करने की योजना बनाई गई ।

विद्वद्वर **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** जी से साक्षात्कार का प्रयास भी उसी हिन्दी-विषयक कार्य का अङ्ग था । 'बालसखा' तथा 'सरस्वती' के सम्पादक के नाते शुक्ल जी का परिचय बहुत पहले पा चुका था, किन्तु उनसे मिलने का अवसर नहीं मिला था । उस दिन जब उनके पास पहुँचा, तब उनके पास ही उनके सह-सम्पादक ठाकुर श्रीनाथ सिंह भी बैठे थे । ठाकुर साहब से यह जन चिर-परिचित था । बाल्यावस्था में जब राजापुर (बाँदा) से वर्नाक्यूलर फाइनल परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् मैं १९१८ में इलाहाबाद अंगरेजी पढ़ने आया था, तब बलुवाघाट में सिक्खों की सङ्गत में किराए की कोठरियों में रहने का अवसर मिला था । वहीं उन दिनों विद्या मन्दिर हाई स्कूल में, सम्भवतः नवीं कक्षा में, पढ़ रहे ठाकुर श्रीनाथ सिंह पहले से ही रहते थे । ठाकुर साहब से अभिवादन करने के अनन्तर मैंने श्री शुक्ल जी को अपना परिचय दिया । वे बड़े प्रेम से मिले ।

हाँ, तो उस दिन शुक्ल जी से हिन्दी-आन्दोलन की तत्कालीन दशा पर बहुत देर तक बातें होती रहीं । वे सभा की इस सम्बन्ध की योजना से अवगत हुए और उसमें योग-दान के लिए सब प्रकार से प्रस्तुत भी हुए । उन्हीं के आश्वासन पर स्व० चन्द्रबली पाण्डेय जी के लिए 'सरस्वती' का द्वार खुल गया । यह जन अंगरेजी राज्य में राजकीय सेवा छोड़े बिना खुलकर किसी आन्दोलन में सम्मिलित नहीं हो सकता था । इससे इसी प्रकार सभा तथा सम्मेलन के मञ्चों से वह राष्ट्र-भाषा की सेवा में हाथ बंटाता रहा । एक बार वह सक्रिय आन्दोलन में पड़ चुकने का अनुभव कर चुका था । तब १९२१ के असहयोग-आन्दोलन में आठवीं कक्षा से पढ़ाई छोड़कर वह प्रयाग में

ही राजर्षि टण्डन जी के संरक्षण में असहयोग-आन्दोलन में कई वर्षों तक स्वयं-सेवक रह चुका था। अब वह ऐसी स्थिति में नहीं था कि हिन्दी के लिए पहले जैसा त्याग करता, परन्तु हिन्दी के प्रति अनुराग होने से इसी प्रकार उससे जो बन पड़ा, वह करने से नहीं चूका।

उस दिन श्री शुक्ल जी जिस प्रेम और सद्भाव से मिले थे, उसकी अमिट छाप मुझ पर उनके असाधारण किन्तु सरलता से परिपूर्ण व्यक्तित्व की पड़ी। हिन्दी की सर्व-श्रेष्ठ पत्रिका के सम्पादक इतने सरल और उदार हो सकते हैं; हिन्दी के प्रति इतने निष्ठावान् हैं; यह देख, जान और समझकर मैं उनसे विदा हुआ, सादर नमन करके।

फिर तो जब कभी प्रयाग आता और इण्डियन प्रेस आने का अवसर मिलता, श्री शुक्ल जी से मिले बिना न रहता। हिन्दी के सम्बन्ध का वह आन्दोलन कुछ दिनों बहुत वेग से चला। 'सरस्वती' का भी उसमें पूरा सहयोग रहा। बाद में मुझे सेवा-क्रम में वाराणसी छोड़ना पड़ा और इधर-उधर रहकर मैं जीवन के अन्य कार्यों में फँस गया। कालान्तर में हिन्दी को श्रद्धेय राजर्षि तथा उनके सहयोगियों के प्रयास से राष्ट्र-भाषा का पद अवश्य मिला किन्तु वह वास्तव में राष्ट्र-भाषा न बन पाई। अब उसे राज-भाषा कहा जाने लगा है। वह सम्पर्क भाषा कही जाती है। धन्य है हमारा देश, जिसका नाम भी नहीं है—भले ही वह भारत कहा जाता है, परन्तु वह 'इण्डिया' ही देश-विदेश में कहा जाता है! उसकी अपनी एक भाषा भी नहीं है, जितनी भाषाएँ हैं चौदह, वे सभी राष्ट्र-भाषा हैं! एक नहीं, चौदह राष्ट्र-भाषाओं का देश, एक भारत ही है संसार में! कहीं भी है दूसरा देश, जिसकी एक राष्ट्र-भाषा न हो, एक राष्ट्र-लिपि न हो, जिसके अङ्क 'इण्टरनेशनल' हों, 'नेशनल' (स्वदेशी) न हों? भारतेन्दु से टण्डन तक के जिन मनीषियों ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए प्राण दिए, उनको हमारी दयनीय दशा देखकर क्या विचार आता होगा!

आदरणीय **पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी** की निःस्वार्थ हिन्दी-सेवा के सम्बन्ध में कुछ कहे बिना नहीं रहा जाता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रभाव और प्रयास से आधुनिक हिन्दी के ऐसे अनेकानेक लेखक तथा कवि कार्य-रत हुए थे, जो आर्थिक एवं अन्य प्रकार के भौतिक आकर्षण के लिए नहीं, अपितु शुद्ध सेवा-भाव से हिन्दी का प्रचार-प्रसार करते थे। कुछ लोग केवल जीविका के लिए पारिश्रमिक लेकर भले ही हिन्दी का कार्य करते थे, किन्तु वे अन्य सब प्रकार से निःस्वार्थ सेवा में ही लगे रहते थे। शुक्ल जी इसी परम्परा में थे। इण्डियन प्रेस में उन्हें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी लाए थे। उन्हीं से शुक्ल जी को सम्पादन-कला की शिक्षा मिली थी।

अपने निर्धारित काम के अतिरिक्त वे जो भी काम करते थे, उससे आर्थिक लाभ नहीं उठाते थे। इसी से एक बार उन्होंने 'आज' में प्रकाशित अपने लेख पर पुरस्कार लेना अस्वीकार कर दिया था, यह कह कर कि पारिश्रमिक तो मैं एक स्थान से लेता हूँ। ऐसे ही भेसरोडगढ़ (राजपूताना) के कुँवर हिम्मतसिंह जी ने इण्डियन

प्रेस में छपाने के लिए अपना काव्य 'महिष-मर्दिनी' भेजा और कहा कि इसे किसी विद्वान् से संशोधित करा लेने के अनन्तर ही छापा जाय। प्रेस ने शुक्ल जी को यह काम सौंपा। उन्होंने उसे ऐसा सुधारा कि एक प्रकार से वह सर्वथा नया काव्य बन गया। वे शाक्त-साहित्य के असाधारण मर्मज्ञ थे। हिन्दी के विद्वान् तो थे ही। उस रूप में उसे देखकर कुँवर साहब परम सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। इसके लिए कृतज्ञता प्रकट करने के साथ ही उन्होंने शुक्ल जी को कुछ आर्थिक भेंट भी देनी चाही। पण्डित जी ने कहा कि मैंने इण्डियन प्रेस में काम करने के समय में ही यह काम किया है, इससे इसका पारिश्रमिक तो मैं वेतन के रूप में पा ही चुका हूँ। अब और कुछ लेना अनैतिक होगा। कुँवर साहब ने उन्हें दक्षिणा के रूप में स्वीकार करने का आग्रह किया। परन्तु शुक्ल जी ने दान लेना अपनी वृत्ति न होने से यह प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया। बहुत अनुनय-विनय करने पर उन्होंने कुँवर साहब का मन न टूटे, इसलिए एक मार्ग सुझाया। उन्होंने कहा कि मैंने शाक्तोपासना के सच्चे स्वरूप को दिखाने तथा उसके विषय में प्रचलित भ्रम दूर करने के लिए 'वाम-मार्ग' नामक ग्रन्थ लिखा है, उसके प्रकाशन के लिए व्यवस्था कर दी जाय, तो मुझे आपत्ति न होगी। कुँवर साहब ने इण्डियन प्रेस को उक्त ग्रन्थ छपाने का सारा व्यय देना सहर्ष स्वीकार किया। इस प्रकार शुक्ल जी की अनूठी कृति 'वाम-मार्ग' का पहला संस्करण कुँवर साहब ने प्रकाशित कराया और उसे शुक्ल जी ने उन्हें ही समर्पित कर तथा निःशुल्क वितरित कर निःस्पृहता का एक ऐतिहासिक आदर्श स्थापित किया।

ऐसे निःस्पृह हिन्दी-सेवी से नागरी प्रचारणी सभा की ओर से मैंने सभा के प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज के काम में हाथ बँटाने का निवेदन किया। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इसे स्वीकार किया। इसी क्रम में सभा के नव-नियुक्त खोज-कार्य के कर्मचारी श्री महेशचन्द्र गर्ग को उनके निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन में काम करने के लिए प्रयाग भेजा गया। इन गर्ग जी से मेरा सभा के पदाधिकारी होने के नाते नहीं, अपितु बहुत पहले से व्यक्तिगत सम्बन्ध होने के कारण विशेष प्रेम था। मैं चाहता था कि इस काम में इन्हें सुयोग्य गुरु का सान्निध्य प्राप्त हो। यह संयोग दैवी प्रेरणा से हुआ प्रतीत होता है। कारण, आगे चल कर श्री महेशचन्द्र गर्ग को शुक्ल जी का आध्यात्मिक वरदान 'कुल-शेखर' बनने का प्राप्त हो गया। उसकी कथा यहाँ नहीं कही जायगी।

बस, इतना ही कहना है कि शुक्ल जी एक बार गर्ग जी को साथ लेकर प्राचीन पुस्तकों की खोज के लिए शृङ्गवेरपुर (सिंगरौर) प्रतापगढ़ के राजा भगवतीप्रसाद सिंह के पास उनके प्रयाग में स्थित बँगले पर गए थे। इस काम की बातें हो चुकने पर राजा साहब पण्डित जी को एकान्त में कुछ बातें करने को ले गए। उन दिनों उनका एक महत्त्वपूर्ण मुकदमा चल रहा था। राजा साहब ने उसी मामले में तान्त्रिक प्रयोग कराने की कुछ बातें शुक्ल जी से करनी चाही थीं। गर्ग जी ने सब बातें तो नहीं सुनी थीं, किन्तु शुक्ल जी के उत्तर की इतनी भनक उनके कानों में पड़ गई कि 'हाँ,

हैं क्यों नहीं, ऐसी क्रियाएँ तो तन्त्र में हैं।' इन बातों से गर्ग जी को पहले पहल ज्ञात हुआ कि शुक्ल जी तन्त्र-शास्त्र में भी निष्णात हैं।

हाँ, ये गर्ग मेरे स्नेह-भाजन कैसे हुए थे, यह भी कहना अनुपयुक्त न होगा। मैं १९३७ में उनसे सर्व-प्रथम परिचित हुआ था। उस समय वे मेरे एक प्रतिभाशाली और होनहार शिष्य (स्वर्गीय) श्रीपतिनारायण सिंह के साथ इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० में पढ़ते थे। दोनों हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहते थे। दोनों हिन्दी के अत्यन्त मेधावी छात्र थे। १९३६ की इण्टरमीडिएट बोर्ड की इण्टरमीडिएट परीक्षा में केवल इन्हीं दो को हिन्दी में विशेष योग्यता प्राप्त हुई थी। दोनों में श्री गर्ग अपेक्षाकृत अधिक प्रखर और तेजस्वी थे। उन्हें बी० ए० में हिन्दी में सबसे अधिक अङ्क पाने के फल-स्वरूप स्वर्ण-पदक मिला। प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी वे एम० ए० में भी अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए। परन्तु कई कारणों से वे हिन्दी-विभाग में प्रवक्ता के रूप में नियुक्त न हो सके। यदि ऐसा न होता, तो उनका सम्यक् विकास न रुकता और छात्रों को भी एक योग्य शिक्षक मिल गया होता। मेरी दृष्टि उन पर बराबर रहती थी। उनसे सम्पर्क भी बना रहता था। इससे मैंने हिन्दी के इस होनहार उदीयमान युवक को नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-विभाग में नियुक्त कराना उचित समझा। उस विभाग में हिन्दी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण एकत्र किया जाता था, जो बाद में शोध-कार्य में अत्यन्त उपयोगी होता था। उसे सभा ग्रन्थाकार प्रकाशित किया करती थी। जब तक श्री गर्ग राजकीय सेवा में नियुक्त नहीं हुए, तब तक उन्होंने अपना यह कार्य बड़ी योग्यता के साथ सम्पन्न किया। इसी काम से, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, उन्हें प्रयाग में इस कार्य का श्रीगणेश करने का अवसर मिला। तभी उन्हें श्रद्धेय शुक्लजी की देख-रेख में काम सीखने और करने का सुयोग मिला।

शुक्लजी अपने इस दायित्व को बड़ी ही तत्परता से निभाते थे। वे आवश्यकता पड़ने पर श्री गर्ग को लेकर उन स्थानों पर जाते भी थे, जहाँ पुरानी हस्तलिखित पुस्तकें होती थीं। अपने प्रभाव का उपयोग करके उन पुस्तकों के स्वामियों से वे श्री गर्ग को उनके विवरण प्रस्तुत करने की सुविधा दिलाते थे। ऐसा वे, वैसे ही क्या, उससे भी अधिक उत्साह से करते थे, जैसा उन दिनों कोई अच्छे-से-अच्छा वेतन-भोगी और कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति करता था। और इस काम को, दिन भर काम करके थके होने पर भी, वे पैदल ही जाकर पूरा करते थे। एक बार कहीं ऐसे ही स्थान में जाने के लिए शुक्लजी ने श्री गर्ग को बुलाया था। चलते समय श्री गर्ग ने सवारी लाने का प्रस्ताव किया। शुक्लजी ने कहा कि 'नहीं, पैदल ही चलेंगे, सवारी के लिए पैसे कहाँ ?' इस पर गर्ग जी बोले कि 'पैसे मैं दूँगा।' तब शुक्लजी ने कहा, 'नहीं, तुम कैसे दोगे ? तुम तो मुझसे छोटे हो, पैसे मुझे देने चाहिए। और मैं दे नहीं सकता।' गर्गजी ने कहा कि 'मैं अपने पास से थोड़े दूँगा। मैं तो सभा से नियमानुसार ये पा जाऊँगा।' इसे सुनते ही दोनों कानों पर हथेली रखते हुए शुक्लजी बोले कि

'ना-ना । अब हिन्दी के काम के लिए सभा से पैसा लिया जाय ! यह नहीं हो सकता !' और वे तुरन्त चल पड़े गन्तव्य स्थल की ओर । श्री गर्ग मुग्ध होकर उनके पीछे हो लिए, यह सोचते हुए कि ये हैं हिन्दी के निःस्वार्थ कर्मठ सेवक । ऐसे ही लोगों के बल पर हिन्दी पनपी, विकसित हुई । पैसों के लिए हिन्दी की सेवा करनेवालों के बूते हिन्दी के उन्नयन का काम नहीं हो सकता ।

श्री शुक्ल जी की आर्थिक स्थिति सामान्य थी, फिर भी वे अर्थ-लोभ से ग्रस्त न थे । मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार के वे निर्णायक थे । एक बार उसके लिए जो पुस्तकें आई थीं, उनमें उन दिनों बड़ी सज-धज से छापी गई और धुआँधार प्रचार की गई 'दुलारे-दोहावली' भी थी । अत्यन्त गुप्त होने पर भी किसी तरह शुक्ल जी के पास उक्त काव्य के रचयिता के दूत बनकर शुक्ल जी के अत्यन्त निकटस्थ रसाल जी उनके पास पहुँचे । उस समय शुक्ल जी के सुपुत्र का उपनयन-संस्कार अर्थाभाव के कारण रुका हुआ था । रसाल जी ने इसी कोमल तन्तु को स्पर्श किया । जब शुक्ल जी ने पूछने पर यह कहा कि 'अर्थाभाव से यह काम नहीं हो पा रहा है', तब कहा गया कि 'दुलारे-लाल सारा व्यय उठा लेंगे । आप उनकी रचना पर अपना अनुकूल मत भर दे दीजिए ।' इस पर शुक्ल जी का तेजस्वी मुख रक्त-वर्ण का हो गया । वे बोले कि 'ऐसा कभी भी नहीं हो सकता । भले ही उपनयन न हो ।' रसाल जी लज्जित हो चुप बैठे रहे । कुछ देर पश्चात् शुक्ल जी बोले—'हाँ, एक बात है । यदि पुस्तक पुरस्कार के योग्य हुई, तो मैं इस संस्तुति के कारण उसका विरोध भी न करूँगा । उसे वैसा ही स्थान दूँगा, जैसा उचित होगा ।'

इसी प्रकार के अनेक प्रसङ्ग हैं, जिनसे निःस्पृहता और सचाई के साथ साहित्य की सेवा करनेवाले **श्री पण्डित देवीदत्त शुक्ल** जी का पवित्र जीवन अनुप्राणित है । ऐसे मनीषी के प्रति ये श्रद्धा-सुमन अर्पित करके मैं उनको सादर प्रणाम करता हूँ । भगवान् हिन्दी को ऐसे ही निष्ठा-वान् सेवक प्रदान करे ।

●

सम्पादक की निजी लाइब्रेरी

'....हिन्दी के सम्पादकों के लिए वह दिन सचमुच गौरव का होगा, जब उनकी निजी लाइब्रेरियाँ होंगी ।....'

—'सरस्वती', सम्पादकीय नोट, अप्रैल १६३८, पृष्ठ ४३५

तटस्थ, दृढ़ और सन्तुलित सम्पादक

□ श्री शमशेरबहादुर सिंह

पण्डित देवीदत्त शुक्ल द्विवेदी-कालीन सम्पादकों, लेखकों और चिन्तकों में बहुत आदर और सम्मान का स्थान रखते हैं। उन्होंने नरेन्द्र शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, पद्मकान्त मालवीय इत्यादि सम-कालीन नव-कवियों और उस युग के श्रेष्ठ रचनाकारों को निरन्तर आशीर्वाद देकर उन्हें अग्रसर किया। 'सरस्वती' पत्रिका के अनन्य सम्पादक के रूप में हिन्दी-जगत् के—विशेष रूप से आगरा, लखनऊ, काशी अर्थात् आज के वाराणसी के—छोटे-बड़े अनगिनत लेखक शुक्ल जी के ऋणी हैं और रहेंगे।

उन सबके बीच मेरे सामने तो एक हँसता-मुस्कराता चेहरा उपस्थित रहा है। इलाहाबाद के उस दौर (सन् ३६-३७) की बात न करना यानी देवीदत्त जी का अधूरा जिक्र करना। हम लोग विद्यार्थी थे, और अपनी तरह से उस पूरे दौर को अपने भीतर आत्म-सात् कर रहे थे। इलाहाबाद में छात्रावासों के अलग-अलग जलसे, ड्रामे, कविता-पाठ, कहानियों की प्रतियोगिता—कुछ-न-कुछ विद्यार्थियों को बावला बनाए रखते। प्रति वर्ष विद्यार्थियों में अलग-अलग क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा के दिग्दर्शन और प्रदर्शन की होड़ लगी रहती, पर मेरे लिये किसी के साथ मिल कर काम करना या काम के बहाने किसी के पास आना-जाना लगभग असम्भव था। त्यौहारों के जलसों में भी मेरे लिए कोई दिलचस्पीवाली बात नहीं थी। मैं प्रायः अकेला रहता था और अपने चारों ओर सब कुछ होता चुपचाप देख रहा था।

वह दौर जबर्दस्त साहित्यिक और राजनीतिक सरगर्मियों का था। चारों ओर से विभिन्न प्रभाव अपना असर दिखा रहे थे। इन प्रभावों को मैं सरस्वती, मॉडर्न रिव्यू, उर्दू-निगार (सं०-मुंशी दयानारायण निगम), माधुरी, सुधा आदि द्वारा चुपचाप ग्रहण कर रहा था। ये मेरे वांच्छित अकेलेपन के साथी थे—जो कम-से-कम बाधा दिए बिना अपने प्रभाव छोड़ते थे। इन्हीं दिनों के मेरे गम्भीर साथी थे केदारनाथ अग्रवाल। यों हम तीन-चार विद्यार्थी थे—वैसे तो एक ही पथ के पथिक—पर फिर भी अलग-अलग। उन्हीं दिनों श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान इलाहाबाद आई थीं। हमने उन्हें अपनी रचनाएँ दिखाईं।

यह वह दौर था, जहाँ एक ओर निराला, पन्त, महादेवी, प्रेमचन्द का जबर्दस्त प्रभाव वातावरण में था। मैथिलीशरण गुप्त का तो एक अपना अलग प्रभाव था ही—पर हम यह उस समय भी स्पष्ट रूप से देख पा रहे थे कि आनेवाले समय की धारा दूसरी होगी। कुछ नए जोशीले कवियों की, मस्ताने कवियों की गीत-लहरी।

एक गीतकारों की पाँत भी थी, जो नरेन्द्र, अंचल, डॉ० रामकुमार वर्मा की थी। ये भाव-धाराएँ कभी एक दूसरे से मिलीं नहीं—पास भले आती रहीं।

अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी एक आकर्षण-बिन्दु था। जोशीले नौ-जवानों की अपनी अलग अस्मिता की पहचान करने का संघर्ष राजनीति की एक नयी दिशा थी, जिसे अभी अपने निकट-भविष्य की खोज में संलग्न होना था।

राजनीति और साहित्य के साथ-साथ पत्रकारिता का भी एक अजब असर था। इन सम्पादकों और प्रकाशकों की पैनी दृष्टि ने साहित्य में अपना प्रभाव रखा। इस पूरे दौर में एक ओर समाजवाद की मनोवैज्ञानिक दिलचस्पियाँ और दूसरी ओर वाम-पक्षी ऊहा-पोह तेजी के साथ एक दूसरे के साथ संघर्ष में गुथनेवाले थे।

●●

इस पूरे परिवेश में **देवीदत्त जी शुक्ल** एक तटस्थ, दृढ़ और सन्तुलित आलोचना का रूप हमें दिखाते हैं। नए चेहरों-मोहरों और नई स्थापनाओं के बीच यह चेहरा बहुत दिलचस्प और गरिमा-मय है। खास कर मेरा निजी अनुभव कुछ विशिष्ट स्मृतियों से जुड़ा हुआ है। वे जानते थे कि मैं उर्दू का विद्यार्थी हूँ। वे इस बात से बेहद खुश थे कि मैं उर्दू का विद्यार्थी होते हुए हिन्दी में इतने चाव से लिखता था।

जहाँ वे निराला, पन्त आदि के नए पैगाम आँखों के सामने खड़ा कर रहे थे—लगभग उसी एकाग्रता के साथ और समर्पण के साथ भी, वे इकबाल और हाली के पुण्य योग-दान की ओर भी हमारी दृष्टि फेर रहे थे। उत्साह का एक नया क्षितिज हमारे मस्तिष्क में चमका रहे थे। इसमें हम दो-तीन नाम और आसानी से जोड़ सकते हैं—डॉ० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय और यशपाल—जो आलोचना और निबन्ध के क्षेत्र में सर्वथा विवेकशील मूर्तियाँ हैं।

देवीदत्त जी खुद शाक्त थे। उनमें राष्ट्रीय भावनाएँ कूट-कूट कर भरी थीं।

लेकिन बावजूद सबके **देवीदत्त जी** के यहाँ कुछ विचित्र दृश्य देखने को मिल जाते हैं। अन्दर से—वे निराला, नरेन्द्र आदि में जो वाम-पक्षी रुझान थे, उन्हें अग्रसर करना चाहते थे, पर जिनकी रोटी खाते थे, उनकी वजह से कई बार हँस कर परे भी कर देते थे। लेकिन साथ ही दो-तीन अवसरों पर मैंने यह भी देखा कि अपने स्वतन्त्र विचारों को दबाने के बजाय उनके लिये लड़ भी जाते थे और यह मुझे बहुत अच्छा लगता था। कई ऐसे अवसरों पर उनकी कर्तव्य-निष्ठा पत्रिका की एकाङ्गी दृष्टि पर आघात भी करती थी। लेकिन वे अपने पक्ष पर प्रायः अटल रहते थे। एक ओर वे 'सरस्वती'-प्रेस के हित-चिन्तक थे और दूसरी ओर नए मोड़ों का स्वागत निर्भीकता से करते थे।

●●

यह देवी भगवती का माङ्गलिक आयोजन है। इस वृहद् पर्व में विद्या-स्वरूपा महा-कल्याणी सरस्वती देवी की सतत उपस्थिति रहे—इन शुभ-भावनाओं के साथ.... अस्तु!

●

पं० देवीदत्त जी—सिद्ध पुरुष

☐ श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

पं० देवीदत्त शुक्ल जी ने जिस वर्ष 'बाल-सखा' का सम्पादन-भार ग्रहण किया, मैं केवल १२-१३ वर्ष का नवीं कक्षा का छात्र था। उन दिनों अंग्रेजी-शिक्षा पर इतना जोर था कि मैं लन्दन की स्ट्रैण्ड मैगजीन तो पढ़ लेता था, 'बाल-सखा' ऐसी पत्रिका देखी भी नहीं थी। जब लिखना शुरू किया, तो उस समय 'सरस्वती' के सम्पादक श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी थे तथा पं० देवीदत्त जी उनके साथ संयुक्त सम्पादक थे। मैं उन लेखकों में से हूँ नहीं, जो अपने को आगे बढ़ानेवालों को भूल जाऊँ तथा प्रकाश में लानेवालों को भूल जाऊँ। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने मुझे हिन्दी-लेखक बनने की प्रेरणा दी, प्रोत्साहन दिया और श्री बख्शी जी ने मुझे एकदम ऊँचे उछाल दिया। अपनी अंग्रेजी की जानकारी के कारण मैं विदेशी समाचार-पत्र बहुत पढ़ता था, अतएव मैंने 'सरस्वती' में प्रतिमास अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर ५-६ कालम बराबर लिखना शुरू किया।

पं० देवीदत्त जी को मेरी लेखनी पसन्द आई और वे बख्शी जी के बाद जब पूर्णतः 'सरस्वती' के एक-मात्र सम्पादक हुए, उन्होंने अपनी सहानुभूति, प्रोत्साहन तथा सान्निध्य उसी प्रकार जारी रखा और यदि मैं कभी लेख नहीं भेज पाता था, तो वे उलाहना देते थे।

यद्यपि देवीदत्त जी से परिचय कराया था बख्शी जी ने, पर बख्शी जी से अधिक आत्मीयता शुक्ल जी से हो गई। बख्शी-शुक्ल की, लेखक के रूप में, निरन्तर सेवा करने से मुझे एक घाटा भी हुआ। लोगों को क्या पता कि १८-१९ वर्ष का छोकड़ा इतनी सम्मानित पत्रिका में बराबर लिख रहा है। जब १९३० में मैं उस समय के सबसे बड़े हिन्दी दैनिक 'लोक-मत' (जबलपुर) का संयुक्त सम्पादक हुआ, तो पं० देवीदत्त नाम के एक पत्रकार, जो कलकत्ते के 'विश्व-मित्र' में सहकारी सम्पादक थे, मेरे सहकारी होकर आए। जब मुझसे पहली बार मिले, तो कुछ मिनट तक मेरी ओर देखते रहे और फिर बोले—'सरस्वती' में आपका लेख पढ़कर मैं समझता था कि वयोवृद्ध महान् लेखक से मिलूँगा। मैंने उनकी निराशा के लिये खेद प्रकट किया। अच्छा मनोरंजन रहा।

जब भी मैं **पं० देवीदत्त शुक्ल** से मिला, उनकी सादगी, सिधाई, स्पष्ट-वादिता से बड़ा प्रभावित हुआ। इतनी महान् पत्रिका के सम्पादक होने का न उन्हें अभिमान था और न गुमान। अपने को वे सदैव 'लघु' सिद्ध करने की चेष्टा करते थे। कभी तो ऐसी मजे की बातें करते थे कि मजा आ जाता था। एक बार कहने लगे—'कई लड़कों का बाप होगया, पर पत्नी का मुँह नहीं देखा।' यह सुनकर

शायद ही उस जमाने के लोग चौंकते। हमारे देहातों में पूर्वी जिलों में नियम था कि बुजुर्गों से बहुत बच कर, छिप कर पत्नी के पास जाना चाहिए। कमरे में प्रकाश भी रखने में भय था कि बुजुर्गों को असुविधा न हो। इस पुरानी परिपाटी में बड़ा गुण था, स्वास्थ्य से लेकर सभ्यता तथा संस्कृति का। मेरी पत्नी स्वयं कभी मेरे बड़े भाई स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द या श्री अन्नपूर्णानन्द के सामने मेरी उपस्थिति में नहीं आती थीं। आजकल तो भारत में इतना ही बाकी रह गया है कि माँ-बाप के सामने बेटा पत्नी का मुँह चूम ले।

शुक्ल जी तान्त्रिक थे—इसका पता मुझे बहुत बाद में चला, यह भी ज्ञात हुआ कि वे अपने इस क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गये थे। मैंने ऐसे दो महा-साधकों को नेत्र-विहीन होते देखा-सुना है। वाराणसी में नेपाल के भूतपूर्व विदेश-मन्त्री श्री सुब्बाराव घोर तान्त्रिक तथा सिद्ध पुरुष भी अन्धे थे, पर उनकी अन्तर-ज्योति इतनी प्रबल थी कि मुझसे घड़ी लेकर समय-मिनट तक पढ़ लेते थे। पूजन के समय सब सामग्री रख दी जाती थी और कमरे में अजीब प्रकाश छा जाता था, जब वे पूजन करते थे।

शुक्ल जी भी उसी कोटि के थे। यद्यपि इस दिशा में मेरा उनका सत्सङ्ग कभी नहीं हुआ—कभी चर्चा भी हुई, तो मैंने रुचि नहीं दिखाई। बात वहीं-की-वहीं रह गयी, पर मेरे मन में शङ्का बनी रही कि ऐसे साधक को माँ भगवती अन्धा क्यों कर देती हैं। इसका उत्तर एक महान् तान्त्रिक ने दिया था—"संसार से दृष्टि हटाकर अन्तर-दृष्टि में केन्द्रीभूत करने का यही उपाय माँ ने मोक्ष के अधिकारी के लिये निश्चित किया है। यह सौभाग्य बिरले को ही प्राप्त होता है।"

देवीदत्त शुक्ल जी सिद्ध पुरुष थे। वे मरे नहीं हैं—माँ की गोद में चले गए हैं।

'....कांग्रेसी सरकारों को नौकरशाही की फ़ाइलबाज़ी के गोरख-धन्धे में न पड़कर अपनी नई सूझ-बूझ तथा मौलिकता का परिचय देना चाहिए, ताकि लोग समझ जाँय कि 'स्वराज्य' सचमुच आ गया है।....'

—'सरस्वती', मई १९३८, सम्पादकीय नोट, पृष्ठ ५३८।

सशक्त समर्थ सम्पादक : अमराचार्य पं० देवीदत्त शुक्ल

□ पं० भगवतीप्रसाद द्विवेदी 'करुणेश'

'सम्पादक की वाणी' का अप्रैल १९८६ का अङ्क उसके सम्पादक श्री चैतन्य शुक्ल से हिन्दी-संस्थान में प्राप्त हुआ। पढ़ा, बड़ी प्रसन्नता हुई। आचार्य **पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी** की वह सरल, सौम्य मूर्ति स्मृति-दृष्टि के सम्मुख साकार-सी हो आई। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की नव सम्पादन-कला, जिसके कारण हिन्दी को आज का आधुनिक रूप प्राप्त हुआ, उसकी नींव के ऊपर बहु-मंजिला प्रासाद निर्माण करने-वालों में एक-मात्र **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** का ही सामर्थ्य था, जिससे उन्होंने निष्काम-कर्मी बनकर निःस्पृह भावना से अपने सारे जीवन को समर्पित कर दिया। आधार-भूत साधन थी 'सरस्वती' पत्रिका, जिसका सम्पादन उन्होंने द्विवेदी जी की ही शैली पर बड़ी सफलता के साथ किया। द्विवेदी जी के अधूरे कार्य को तन-मन-धन से पूरा करने का कठोर व्रत उन्होंने लिया और उसे जब तक जिए, निबाहा भी।

आज की प्रचलित खड़ी बोली के निर्माता आचार्य द्विवेदी दौलतपुर, जिला रायबरेली के निवासी थे। उस समय हिन्दी-संसार में भारत के उत्तर प्रदेश की दो-तीन मासिक पत्रिकाएँ बड़ी प्रसिद्ध थीं, अपनी छपाई, शुद्धि और सम्पादन-कला के लिए। एक 'सरस्वती', दूसरी 'माधुरी' और तीसरी 'सुधा'। श्री शुक्ल जी सन् १९२१ से १९४६ तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे। इस बीच उन्होंने एक अनूठी सम्पादन-परम्परा का सूत्रपात किया, जिसकी यह विशेषता थी कि व्यक्ति अपने को अप्रधान मान कर निःस्वार्थ भाव से, निष्पक्ष होकर हिन्दी-साहित्य के सर्वतोमुखी विकास के लिए अपने को जीवन भर समर्पित कर देता था।

हमारी भारतीय संस्कृति में 'परम्परा' का विशेष महत्त्व रहा है। आध्यात्मिक क्षेत्र के पूजन-तर्पण के विधान की परम्परा से लेकर पितृ-पक्ष में पितरों की पुण्य स्मृति में श्रद्धाञ्जलि देने की सनातन प्रथा की परम्परा तक भारतीय व्यक्तित्व और समाज कर परिष्कार बराबर यह परम्परा ही करती रही है और आज भी अपने जीर्ण-शीर्ण, कृत-अकृत रूप में भी स्वयं चलती जा रही है।

उक्त प्रभाव-शाली सम्पादन-परम्परा के विकास में आचार्य द्विवेदी के सुयोग्य उत्तराधिकारी **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** ने अपना अभूतपूर्व योग-दान दिया था। उन्होंने अपने जीवन के २५ वर्षों के समर्थ जीवन के अमूल्य क्षणों का समर्पण हिन्दी-साहित्य की सेवा में निःपृह भाव से कर दिया था। श्री शुक्ल जी के बाद उनके मनो-नीत उत्तराधिकारी पं० उमेशचन्द्र मिश्र कुछ ही वर्षों तक 'सरस्वती' का सम्पादन कर पाए परन्तु तो भी, उन्होंने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाने में कोई कोर-कसर न उठा रक्खी। उनके पश्चात् के 'सरस्वती' के सम्पादकों ने द्विवेदी-सम्पादन-परम्परा से हट-

कर चलने का उपक्रम किया । फलतः कुछ ही वर्षों के भीतर पत्रिका का अस्तित्व ही समाप्त हो गया ।

आज फिर उसी द्विवेदी-सम्पादन-परम्परा की पुनर्जागृति हेतु 'सम्पादन की वाणी' नाम की एक लघ्वी पत्रिका का प्रकाशन **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** के एकमात्र सुपुत्र श्री रमादत्त शुक्ल और उनके कनिष्ठ पौत्र श्री चैतन्य शुक्ल, एम० ए० कर रहे हैं, जो उनके कर्त्तव्य के अनुरूप ही है ।

आचार्य द्विवेदी जी ने हिन्दी-भाषा की शुद्धता और सरलता का एक अभियान चलाया था, जिससे हिन्दी को उसका वर्तमान परिमार्जित स्वरूप मिल सका है, किन्तु इधर पर्याप्त समय से लेखक, कवि, प्रकाशक और सम्पादक-वर्ग ने भाषा के प्रति उस परम्परा को भुला-सा दिया है । पाण्डुलिपियों का संशोधन उतने मनोयोग से नहीं हो रहा है ।

कहना असङ्गत न होगा कि आज के कवि, लेखक, कथा-कहानी-उपन्यास-कार अपनी-अपनी रचनाओं को अहङ्कार-वश किसी अन्य योग्य व्यक्ति से संशोधित कराने में अपनी हेठी समझते हैं । अशुद्धियों का दोष अब सीधे-सीधे प्रूफरीडरों पर डाल दिया जाता है । इसीलिए आज की प्रकाशित रचनाओं में पाण्डुलिपियों की अनेक प्रकार की त्रुटियाँ दृष्टि-गोचर हो रही हैं । पुस्तकों की साज-सज्जा और चमक-दमक को ही सब कुछ समझा जा रहा है । कवि, लेखक आदि भाषा की विविध विशेषताओं में निष्णात हों, ऐसा सर्वदा सम्भव नहीं । फलतः सुयोग्य सम्पादक की आवश्यकता निर्विवाद रूप से है, जो पाण्डुलिपियों को देखकर शुद्ध कर प्रकाशन में दे सके । भाषा का परिमार्जन और त्रुटियों को हटाने का मुख्य उद्देश्य सम्पादन-कला को उन्नत करना है । इसी उद्देश्य को लेकर आचार्य द्विवेदी जी और स्वनाम-धन्य शुक्ल जी ने एक अभियान छेड़ा था, जो कालान्तर में तिरोहित-सा हो गया । आशा है कि पूज्य शुक्ल जी के पुत्र-पौत्रों द्वारा उठाए गए सम्पादन के सत्-प्रयास इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल होंगे और हिन्दी-भाषा तथा साहित्य का परिमार्जन सम्पादन-कला के माध्यम से फिर अपने खोए हुए अस्तित्व को प्राप्त करेगा, जिसकी इस युग को महान् आवश्यकता है ।

परम प्रसन्नता है कि इस दिशा में **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** के दिवङ्गत हो जाने के १५ वर्ष बाद आज फिर उक्त अभियान **'सम्पादक की वाणी'** के माध्यम से छेड़ा गया है । धन्य है, उन व्यक्तियों को, जिन्होंने ऐसा पुनीत विचार **'शुक्ल सम्पादन-कला-विद्यापीठ'** एवं **,शुक्ल-स्मृति-ग्रन्थ-माला'** के चलाने का साहस जुटाया है । इसके लिए अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों ने उनका उत्साह-वर्धन किया है और सहयोग देने को तत्पर हुए हैं ।

पूज्य शुक्ल जी के २८ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और अभी कितने ही उनके ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य से सम्बन्धित तथा शाक्त-साधना-विषयक प्रकाशित होने को हैं । प्रकाशन के इस महत् कार्य में श्री कामेश्वरनाथ भार्गव का सहयोग चार चाँद लगा रहा है । हिन्दी-साहित्य के शुद्ध एवं सुचारु प्रकाशन के सम्बन्ध में उनके कार्य-कलाप

बहुमूल्य हैं और उनके जैसे व्यक्तियों के कार्यों का मूल्याङ्कन हिन्दी-जगत् द्वारा किया जाना परमावश्यक है।

मेरा साक्षात्कार श्री शुक्ल जी से सर्व-प्रथम सन् १९३६ में श्री दुलारेलाल भार्गव के 'कवि-कुटीर' के कक्ष में हुआ था, जहाँ निराला जी, रूपनारायण जी तथा उमेश मिश्र आदि विद्वान् उपस्थित थे। हिन्दी-सम्पादन-कला के उन्नयन की बात परस्पर होती रही। मैं उनका हिन्दी एवं साहित्य-प्रेम देखकर मुग्ध और विभोर हो रहा था। काव्य-चर्चा होने पर मैंने उन्हें पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के विलायत से लौटने पर उनकी चाय पर एक स्व-रचित रचना सुनाई—

लन्दन को जितने भी गए, सभी वासनाओं की बलाय ले आए,
जाम ले आए सफेद घड़ी अपने घर के लिए हाथ ले आए।
हाय ले आए शराब कवाब की, यार जनों की सराय ले आए,
खाली हि आए न श्रीवर भी, सङ्ग में चिर-संगिनी चाय ले आए।

सुनकर शुक्ल जी बड़े प्रसन्न हुए, कविता की प्रशंसा की और कहा, 'मैंने तुम्हें पत्र लिखा था कि तुम प्रयाग आकर कुछ दिनों मेरे पास रहो, परन्तु तुमने कविता लिखकर विवशता प्रकट की थी। सुनाओ तो वही कविता।' मैंने सुनाया—

बाल-पन्न बाप की बदौलत मजे में कटा,
सबके हृदय हरे बोल बैन तुतरे।
चढ़ती उमङ्ग में दिखाए नित्य नए रङ्ग,
फैशन की ओट में नजाकत के पुटरे।
पड़ गए बीबी-बच्चों के चक्कर में,
भूली है उड़ान सब पर गए कुतरे।
अन्त में तो केचुल बदल कर 'करुणेश',
सब फल खाकर धतूरे पर उतरे।

यह मेरा शुक्ल जी से पत्र द्वारा साक्षात्कार का प्रथम अवसर था। उनका सहज प्रेम, प्रोत्साहन, बातचीत का ढंग, व्यक्तित्व और हिन्दी-प्रेम देखकर अपने को मैंने धन्य समझा। आज सोचता हूँ, यदि ऐसे हिन्दी-साहित्य तथा राष्ट्र—देश-प्रेमी व्यक्ति इस समय होते, तो हिन्दी की यह दुर्दशा न होती।

शुक्ल जी के कुल-श्रेष्ठ सुपुत्र एवं पौत्रों की अभिरुचि उनके अधूरे काम को पूरा करने की ओर देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है। मेरा मन-मयूर नाच उठा है। सुनते हैं, तीसरी पीढ़ी में पुण्यात्मा की प्रतिभा का विकास विशेष होता है। यदि यह अनुभव सत्य है, तो अवश्य ही श्री शुक्ल के स्मृति-स्तम्भ पर हिन्दी की पताका फहरने में देर न लगेगी।

इस प्रकार संक्षेप में मैंने नष्ट होने से बचे जो संस्मरण, अस्वस्थता में भी, संवरण कर सका, लिखने का यहाँ उपक्रम किया है। बाद में भी शुक्ल जी के दो-

तीन पत्र मेरे पत्रों के उत्तर में आए थे, जो उपलब्ध नहीं हो सके। सम्भवतः गत वर्ष कमरा गिर जाने से अन्य साहित्यिक सामग्री एवं पुस्तकों के साथ वे नष्ट हो गए हैं।

श्री शुक्ल जी का सहज स्नेह, शुद्ध हिन्दी की उन्नति के लिए लगन, ठोस प्रयास तथा त्याग, निष्काम कर्म की सेवा देखकर मैं बहुत प्रभावित और प्रोत्साहित रहा और आज, उन्हीं का आशीर्वाद है कि मैं भी कुछ छोटे साहित्यकारों की पंक्ति में बैठकर आगे की पंक्ति में नहीं, तो पिछली पंक्ति में ही अपनी गणना करा लेने में समर्थ हो जाता हूँ।

अन्त में मैं श्री शुक्ल जी की महान् आत्मा को एक काव्य-श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए अपनी लेखनी को विराम देता हूँ—

सात्विक सौम्य उदार पुञ्ज प्रतिभा के शुक्ल समर्जक,
निज संस्कृति के उन्नायक भाषा वाणी उत्सर्जक।
शुद्धि, बुद्धि, आचरण, नीति, नैतिकता सबल समर्थक,
वीत-राग साहित्य अनुरागी हिन्दी यज्ञ प्रवर्त्तक।
क्रान्ति शान्ति के निष्काम कर्म के कर्मठ ज्ञान मनस्वी हे तुम!
कोटि नमन 'करुणेश' काव्य-बद्धाञ्जलि अर्पित अस्तु तपस्वी हो तुम!!

●

'....सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी ही चाहिए कि घी-दूध, तेल आदि खाद्य पदार्थ अपने शुद्ध रूप में ही बिकने पावें। ऐसा होना नैतिक दृष्टि से भी आवश्यक है, स्वास्थ्य की दृष्टि से तो है ही। अस्तु।'

—'सरस्वती', अप्रैल १९३८, सम्पादकीय नोट, पृष्ठ ४३६

निर्भीक लेखनी के धनी : पण्डित देवीदत्त जी

☐ श्री निशीथकुमार राय

स्मित हास्य जिनके अधरों पर सदैव दिखाई देता—कुर्ता, धोती और बंडी पहने एक वृद्ध सज्जन का चेहरा मेरे मानस पटल पर जाग उठा, जब उनके पौत्र ने मुझसे उनके बारे में कुछ लिखने का अनुरोध किया। सौम्य चेहरा, प्रशान्त मुखड़ा।

सन् '३६-४० ई० की बात है। मैं किशोर था। लिखने का शौक था। 'बाल-सखा' में श्रद्धेय ठा० श्रीनाथ सिंह जी मेरी रचनाएँ छाप भी रहे थे। अपने को लेखक कहकर गर्व अनुभव करता था। बड़े-बड़े सम्पादक एवं लेखकों के बीच बैठने-उठने की उत्कट अभिलाषा थी (वे भले मेरी परवाह ही न करें)। चुपचाप एक ओर बैठा-बैठा उन लोगों की बातें सुनता था। साहित्यालोचना भले सम्यक् रूप से न समझ सकूँ पर सामान्य वार्त्तालाप भी अच्छा लगता था।

एक बार इण्डियन प्रेस गया, तो पटल बाबू के कमरे के पासवाले एक कमरे में **पण्डित देवीदत्त जी** और निराला जी को बैठे वार्त्तालाप करते देखा। निराला जी एक नीली रुईदार बण्डी और धोती पहिने थे। सदा की तरह विस्रस्त पहिनावा और अधमैला कुर्त्ता-धोती! विशालकार शरीर, विशाल हृदय! बड़े गुस्सावर! उनकी बातों के बीच यदि किसी ने टोंका कि आगबबूला हो जाते थे। वे **देवीदत्त जी** से किसी विषय पर आलोचना कर रहे थे और बीच-बीच में उदात्त स्वर में अपनी कविता की आवृत्ति करके सुना रहे थे। जिस बात से मैं चकित और चमत्कृत था, वह था निराला जी का व्यवहार! देवीदत्त जी मनोयोग से सुन रहे थे परन्तु कभी-कभी टिप्पणी कर रहे थे और निराला जी क्रुद्ध होने के बदले अपनी सम्मति प्रतिपादित करने के लिए, कथ्य को प्राञ्जल करने के लिए उत्तेजित होकर तर्क कर रहे थे। पर एक बार भी क्रोधावेश में आते नहीं देखा। यह नवीन दृश्य था। इससे पता चलता था, **देवीदत्त जी** का कितना सम्मान कवि या लेखक-सम्प्रदाय किया करते थे।

वे निर्भीक तटस्थ और स्वाभिमानी पत्रकार थे। उनकी रुचि परिष्कृत थी और रुचि-विगर्हित कोई बात उनसे कोई करवा नहीं सकता था। अगाध पाण्डित्य के साथ ही उनकी सादगी द्रष्टव्य थी। उनमें बनावटी कुछ भी न था। जैसा बाहर—वैसे ही अन्दर से।

उन दिनों 'माधुरी', 'हंस' प्रभृति पत्रिकाएँ जन-प्रिय थीं क्योंकि उनमें हल्की-फुल्की चीजें छपती थीं—मोहक चित्र कवर पर एवं भीतर भी छपते थे। 'सरस्वती' अपना कौलिन्य त्यागकर उनका अनुकरण कर न सकी। मगर भले ही 'सरस्वती' अत्यधिक न बिके—परन्तु कोई ऐसी रचना, जिसके प्रकाशन से 'सरस्वती' का स्तर नीचा हो, शुक्ल जी कदापि नहीं छाप सकते थे। तत्कालीन अंग्रेजी हुकूमत में पत्रकारों

का साहस नहीं था कि वे स्वतन्त्रता के साथ कोई ऐसी टिप्पणी करें, जो अंग्रेजी शासन को पसन्द न हो। परन्तु पण्डित देवीदत्त जी ने कभी इसकी परवाह न करके हिन्दी एवं और उसकी उन्नति के लिए जो कुछ ठीक समझा, निर्भीकता के साथ लिखा।

धीरे-धीरे जब मेरी रचनाएँ 'अभ्युदय', 'देशदूत', 'हल' आदि में नियमित छपने लगीं, तो मेरा प्रेस आना-जाना बढ़ गया। 'गुलदस्ता', 'मनोहर कहानियाँ' और 'मोहिनी' में भी रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। 'बाल-सखा' का तो मैं नियमित लेखक ही नहीं, चित्रकार भी था। अपनी कहानियों में चित्र बनाकर देता और वे भी छपतीं। अब मैं सहपाठियों में अपने आपको लेखक के रूप में प्रोजेक्ट करके आत्म-प्रसाद का अनुभव करता था। किशोरावस्था में यह नहीं समझता था कि हिन्दी-साहित्य के सागर में मैं एक भुनगे के समान भी नहीं था।

इन्हीं दिनों बँगला में 'प्रिजनर ऑफ ज़ेण्डा' का अनुवाद प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री शरदिन्दु वन्दोपाध्याय ने किया। उसे पढ़कर मैं इतना प्रभावित हुआ कि हिन्दी में अनुवाद कर डाला। शरदिन्दु जी ने अंग्रेजी का हूबहू अनुवाद नहीं किया था, इसलिए मेरा अनुवाद भी मूल अंग्रेजी से भिन्न था।

उसे मैंने इण्डियन प्रेस के एक तत्कालीन वरिष्ठ सम्पादक को प्रकाशनार्थ दिया। उन्होंने बहाने बना-बना कर उसे दो महीने रखने के बाद मुझे वापिस कर दिया। तब तक उनके नाम से मेरा उपन्यास 'झिन्द का कैदी' अन्य नाम से (कौशल-गढ़ का कैदी) पुस्तकाकार में छप चुका था।

मैंने जब इस बात का जिक्र डरते-डरते पण्डित देवीदत्त जी से किया, तो वे बड़े दुःखी हुए और मुझसे बोले, 'आप मुझे कुल बातें लिखकर दे दें, मैं इस पर टिप्पणी लिखूँगा।'

अन्य कई सम्पादकों के कहने-सुनने पर मैंने ऐसा नहीं किया। जिन साहब ने यह कुकृत्य किया था, वे देवीदत्त जी के मित्र एवं साथी थे परन्तु उन्होंने इस मामले में मुझ जैसे तुच्छ, अनजाने लेखक का पक्ष लिया था क्योंकि यह न्यायोचित था। पण्डित देवीदत्त जी और ठा० श्रीनाथ सिंह की जोड़ी ने 'सरस्वती' की परम्परा को बखूबी कायम रखा था।

मुझे पता नहीं था कि वे एक उच्चकोटि के साधक एवं तान्त्रिक थे। वे अपना प्रचार नहीं करते थे।

वर्षों के बाद, एक बार बातों-ही-बातों में तत्कालीन न्याय-मूर्ति माननीय श्री पण्डित शिवनाथ काटजू जी ने मुझे बताया था कि देवीदत्त जी उनके गुरुदेव हैं और वे तन्त्र के प्रकाण्ड साधक हैं। उनका उल्लेख जिस श्रद्धा एवं भक्ति के साथ उन्होंने किया था, उससे स्पष्ट था कि देवीदत्त जी का समाज में कितना सम्मान था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय की सभी पत्र-पत्रिकाओं को किसी-न-किसी रूप में

युद्ध में अंग्रेजों की विजय का ढिंढोरा पीटना पड़ता था। पर 'सरस्वती' में पण्डित देवीदत्त जी ने उस प्रकार का प्रोपैगण्डा कभी प्रकाशित नहीं किया।

आज के पचास साल पहले एक टिप्पणी में उन्होंने जो कुछ लिखा था, आज उसका याथार्थ्य सर्व-जन-विदित है। उन्होंने २२ सितम्बर सन् ३६ को लिखा था—

'....हमारे वे साहित्यकार जिनकी गिनती उच्च श्रेणी में की जाती है, अपना धीरज छोड़ बैठे हैं। उनमें अभिनन्दन-ग्रन्थ प्राप्त करने तथा जयन्तियाँ मनवाने का शौक चर्रा उठा है। कोई-कोई तो अपनी टेंट खाली कर अपने चरित तथा अपनी रचनाओं की प्रशंसात्मक आलोचनाएँ लिखवाने के लिए अधीर हो रहे हैं ....।'

साहित्यकार स्रष्टा होने के साथ-ही-साथ द्रष्टा भी होता है। आज जिस साहित्यकार को धनी-वर्ग का सम्पोषण मिल जाय, वही बड़ा साहित्यकार समझा जाने लगता है। आए दिन जाने-अनजाने साहित्यकारों का अभिनन्दन उनकी सामान्य पुस्तकों की डुग्गी-डंका बजा किसी व्ही आई० पी० द्वारा उन्मोचन करवाना मानों परम्परा बन गयी है। 'सरस्वती' के सम्पादक एवं हिन्दी के जन-प्रिय उपन्यासकार ठा० श्रीनाथ सिंह जी अस्सी पार कर गए हैं। वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भू० पू० सभापति भी हैं। उनको अभिनन्दित नहीं किया गया, यद्यपि 'सरस्वती' के ही एक अन्य भू० पू० सम्पादक का, जो ठा० श्रीनाथ सिंह जी की तुलना में स्वल्प-परिचित लेखक थे, कई बार अभिनन्दन किया गया।

प्रधान मन्त्री से लेकर अन्य मन्त्री तक पुस्तक-विमोचन में बड़ी रुचि लेने लगे हैं।

अधिकतर राजनैतिक नेताओं का साहित्य से कम सम्बन्ध रहता है। विमोचित पुस्तक के बारे में उन्हें कुछ पता भी नहीं रहता। परन्तु मन्त्री महोदय के कर-कमलों द्वारा विमोचन और पुस्तक से अधिक विमोचन-कर्ता का प्रचार तुच्छाति-तुच्छ कृति को भी गरिमा-युक्त बनाने में सहायक होता है।

देवीदत्त जी द्रष्टा थे। देखिए, १० नवम्बर ३६ को उन्होंने क्या कहा था—

'....हिन्दी यहाँ तक उन्नत हुई कि भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार की गई और इसी दृष्टि से उसका दक्षिण भारत में व्यापक प्रचार किया गया तथा अन्य प्रान्तों में भी उसके प्रचार की व्यवस्था की गई परन्तु आज न मालूम किस क्रूर ग्रह की उस पर दृष्टि पड़ गई है कि चारों ओर से उसके गिराने का ही यत्न हो रहा है। और-तो-और, जिन लोगों ने उसे राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया था, वही आज यह प्रयत्न कर रहे हैं कि हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' हो जाय और हिन्दीवाले 'राम' को 'रहीम' और 'धर्म' को मजहब लिखा करें।'....

वास्तव में 'वोट' पाने की चिन्ता में नेता लोग सुध-बुध खो बैठे हैं और

राजनैतिक उद्देश्य-सिद्धि के लिए हिन्दी को बलि का बकरा बना देने को कटिबद्ध हो गए हैं। यही कारण है कि राष्ट्र-गीत 'जन-गन' के बदले 'हिन्दोस्तां हमारा' को हर दूसरे-तीसरे दिन दूर-दर्शन पर सुनाया ही नहीं जाता अपितु सिखाया जाता है। जब शासन की बागडोर ऐसे लोगों के हाथों में होगी, जिनमें राष्ट्र-भाषा, राष्ट्र-गान के प्रति आदर एवं सम्मान की भावना नहीं है, तो परिणाम यही होगा। शायद इनका बस चले, तो ये 'जन-गन-मन' के बदले 'गुलिस्ताँ हमारा' नामक उस कविता को राष्ट्र-गान बना दें, जिसे 'पाकिस्तान' की परिकल्पना करनेवाले कवि ने लिखा था, जिसका परिणाम भारत का विभाजन था।

काश कि आज पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल जीवित होते और अपनी निर्भीक लेखनी द्वारा हिन्दी-विरोधी तत्त्वों पर तीव्र कशाघात करते।

●

"....'वन्दे मातरम्' भारत के वर्तमान युग का परम सिद्ध मन्त्र है। .... परन्तु यह क्या है, क्या हमने कभी इस पर ध्यान से विचार भी किया है ? कदापि नहीं। अन्यथा हम दयनीय दुर्दशा को प्राप्त न हो गए होते।....

"...यह मन्त्र ऐसा अमोघ सिद्ध हुआ कि ५० वर्षों के भीतर देश अपनी स्वप्नावस्था से जाग कर एक जाग्रत् राष्ट्र ही नहीं बन गया किन्तु पराधीनता की वेड़ियों को तोड़-फोड़ कर अपने त्याग-पूर्ण बलि-दानों से विदेशी शासकों को स्वदेश से बाहर निकाल कर और उसे स्वतन्त्र कर अपना राज्य स्थापित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की।....'

—'वन्दे मातरम्', पृष्ठ ३६

'सरस्वती'-सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल : आलोचक के रूप में

[] पण्डित नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

पण्डित देवीदत्त शुक्ल २० मई १९७१ को दिवङ्गत हुए थे। उन दिनों मैं प्रयाग से वाराणसी जाकर काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में हिन्दी के ऐतिहासिक व्याकरण की योजना के कार्यान्वयन में कार्य-रत था। आचार्य द्विवेदी ने उक्त शोक-समाचार सुनाया, तो उनका गला भर आया था। 'सरस्वती' की महिमा और उसमें शुक्ल जी के महत्व-पूर्ण योग-दान की चर्चा वे देर तक करते रहे। इसी क्रम में 'कौल-कल्प-तरु चण्डी' जैसी हिन्दी में प्रकाशित तन्त्र-विषयक पत्रिका का स्मरण करना भी वे न भूले थे। शुक्ल जी की हिन्दी-सेवाओं के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव था।

सन् १९५० में जब मैं शान्ति-निकेतन से प्रयाग आया था, तब शुक्ल जी सम्पादन-कार्य से पृथक् हो चुके थे, परन्तु उनकी साहित्यिक गति-विधियाँ जारी थीं। उनके नाम और काम के प्रति मैं आकृष्ट था। फलतः एक दिन मैंने डॉ० उदयनारायण तिवारी से उनके दर्शन करने की अपनी इच्छा प्रकट की, जो डॉ० शुकदेव दुबे के सहयोग से एक दिन पूरी हो गई। शुक्ल जी स्वभाव से सरल तथा सहृदय लगे और उनका व्यक्तित्व मुझे आकर्षक लगा। मेरा परिचय जानकर वे प्रसन्न हुए और सहज ही अपने स्नेह-दान का मुझे भागीदार बना बैठे। उस समय वे किसी साहित्यिक कार्य में व्यस्त थे। इसलिए उनका अधिक समय लेना मुनासिब नहीं लगा। फिर तो आने-जाने का द्वार खुल गया और कई ऐसे अवसर आए, जब मैं उनके सान्निध्य से लाभ उठाता रहा। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के स्नेह-भाजनों में वे प्रमुख थे और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के साहचर्य में उन्हें 'सरस्वती' का सम्पादन करने का सुयोग मिला। 'सरस्वती' पत्रिका उन दिनों हिन्दी की प्रतिनिधि पत्रिका थी और उसमें कार्य करना गर्व तथा गौरव की बात थी।

आज भले ही बाल-साहित्य और बाल-साहित्यकार को पुरस्कृत तथा सम्मानित किया जा रहा है, परन्तु आज से कई वर्ष पहले तक बाल-साहित्य एवं बाल-साहित्य-कार को हीन श्रेणी का साहित्य और साहित्य-कार मान कर उनका मखौल तक उड़ाया जाता रहा है। उन्हें वह सम्मान नहीं मिलता रहा है, जिसके वे अधिकारी हैं। ऐसे समय में शुक्ल जी ने 'बाल-सखा' के सम्पादन का दायित्व सँभाला था।

'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य-भार उन्होंने बाद में वहन किया था, परन्तु

सम्पादक के रूप में उनकी चर्चा भले ही यदा-कदा हो जाती है, उनके आलोचक-रूप की ओर अभी तक कम ही विद्वान् लेखकों का ध्यान जा पाया है। वास्तव में सम्पादक भी समकालीन प्रवृत्तियों का आलोचक ही होता है। शुक्ल जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सम्पादक के पचीस वर्ष' में साहित्य से अधिक सम-कालीन साहित्य-कारों की प्रासङ्गिक चर्चा करते हुए उनकी आलोचना तक कर दी है, जो उनकी सूक्ष्म दृष्टि और व्यवहार-बुद्धि का परिचायक है।

उनके पुण्य-स्मरण द्वारा हम उनकी सेवाओं के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। उनकी समस्त रचनाओं का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित करने की अपेक्षा है।

●

'....देश में रिश्वतखोरी का बाजार कितना गर्म है और यह महा-व्याधि कितना अधिक व्यापक रूप धारण कर गई है, इसका परिचय देने की जरूरत नहीं है क्योंकि वह तो 'हक' के नाम पर यहाँ के सामाजिक जीवन का अङ्ग बन गई है।....मूल कारण लोक-मत का अभाव और अधिकारियों की उपेक्षा है।...' —'सरस्वती,' मई १९३८, सम्पादकीय नोट, पृष्ठ ५३९

'....दहेज की प्रथा एक बड़ी हानिकर प्रथा है। इसके कारण धन-हीनों को अकारण तरह-तरह के कष्ट सहने पड़ते हैं। यही नहीं, एक यह भी बुराई है कि यह समाज में ऊँच-नीच के भेद-भाव को दृढ़ता प्रदान करती है। अतएव समाज के कल्याण के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इसका जल्दी-से-जल्दी अन्त किया जाय।....'

—'सरस्वती', जुलाई १९३८, सम्पादकीय नोट, पृष्ठ १०४

श्री पण्डित देवीदत्त शुक्ल : एक संस्मरण

□ पं॰ जगदीप्रसाद चतुर्वेदी

जुलाई, १६४१ मेरे लिए एक महत्व-पूर्ण महीना सिद्ध हुआ। मैं मथुरा में वकालत कर रहा था, साथ ही साहित्यिक कार्यों में भी मेरी रुचि थी। पत्र-कारिता में प्रवेश कर चुका था और अगस्त, १६३६ से 'जागृति' पत्रिका का सम्पादन कर रहा था। जनवरी, १६४१ में ब्रज-साहित्य-मण्डल की 'ब्रज-भारती' नामक मासिक पत्रिका के सम्पादन और प्रकाशन का काम भी मेरे पास आ चुका था। मैं मथुरा से ही इलाहाबाद के 'लीडर' पत्र को सम्वाद भेजता था और दिल्ली में यू॰ पी॰ आई॰ को भी।

उन दिनों दो वर्षों में ही मथुरा नगर की राजनीति में मेरा अच्छा प्रवेश हो गया था। मथुरा म्यूनिसिपल कमेटी की शिक्षा-समिति का मुझे सदस्य मनोनीत कर लिया गया था और प्रातःकाल मैं जिस मण्डली में घूमने निकलता था, उसमें नगर-पालिका के वरिष्ठ उपाध्यक्ष तथा दो अन्य प्रभावशाली सदस्य भी होते थे।

एक दिन समाचार-पत्रों में यह खबर छपी कि इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट के डिप्लोमा की पढ़ाई होगी। यह समाचार पढ़कर हमारी घूमनेवाली मण्डली के सदस्यों की यह राय बनी कि मुझे इलाहाबाद जाकर इस कोर्स में दाखिले का प्रयास करना चाहिए क्योंकि उसके बाद यह सम्भावना थी कि हमारी नगर-पालिका के जो कार्यकारी अधिकारी अगले वर्ष अवकाश ग्रहण करनेवाले थे, उनकी जगह मेरी नियुक्ति करा दी जाए। नगर-पालिका के वरिष्ठ सदस्य इस लोभ में थे कि उनका अपना आदमी ही अधिकारी हो और डिप्लोमा की उपाधि के बाद गुण-वत्ता की दृष्टि से मुझे अवसर मिलने की सबसे अधिक सम्भावना होगी।

हमारी मण्डली में गवर्नमेण्ट स्कूल के एक अध्यापक श्री मदनलाल जैन भी थे। उन्होंने कहा कि उनके भाई डा॰ वेणीप्रसाद राजनीति-विभाग के प्रमुख हैं, उनसे कुछ मदद मिलेगी और उन्होंने एक चिट्ठी लिख कर मुझे दे दी। मैंने इलाहाबाद आकर फार्म भर दिया, डा॰ वेणीप्रसाद के घर जाकर उन्हें चिट्ठी भी दे दी, पर डाक्टर साहब कुछ पढ़ने में व्यस्त थे, उन्होंने मेरी चिट्ठी नहीं पढ़ी। एक छपा हुआ पट्ठा मेरे सामने कर दिया, जिसमें कई तरह की हिदायतें थीं। उनमें एक यह भी थी कि अगर कोई चिट्ठी लाए हो, तो रख जाओ। मैं चिट्ठी रखकर लौट आया।

एक तो ग्रामीण था, दूसरे मथुरा और कानपुर में मेरी शिक्षा हुई थी और ये दोनों ही नगर विभिन्न कारणों से अपने फक्कड़पन के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। मुझे प्रयाग-राज की महा-नगरी का यह व्यवहार रास नहीं आया। लौटकर मैं डा॰ वेणी-प्रसाद के घर नहीं गया, लेकिन मथुरा छोड़कर इलाहाबाद आ गया था। आते समय यही खयाल था कि इलाहाबाद साहित्य का केन्द्र है, यहाँ बड़े-बड़े साहित्यकार मिलेंगे

और साहित्य-सेवा का अच्छा अवसर मिलेगा। मैंने सोचा कि वापस मथुरा क्या लौटूँ और वहीं पर रोजगार की तलाश शुरू की। 'लीडर' के श्री कृष्णराम मेहता से मिला, तो उनका जवाब था कि 'लीडर' या 'भारत' किसी में कोई जगह खाली नहीं है।

अब मेरा ध्यान 'इण्डियन प्रेस' की ओर गया। 'इण्डियन प्रेस' से 'सरस्वती' निकलती थी, 'बाल-सखा' था और साप्ताहिक 'देश-दूत' था। मैंने मथुरा से ही युद्ध के हथियार-सम्बन्धी यानी विमानों, विमान-भेदी तोपों, टैंकों आदि पर लेख लिखे थे और जब मैं 'देश-दूत' सम्पादक श्री ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' से मिला, तो उन्होंने बड़ा अपनत्व जाहिर किया। उन्होंने मुझे **पंडित देवीदत्त शुक्ल** से मिलाया।

इलाहाबाद के बाँकपन की एक झाँकी मुझे डा० वेणीप्रसाद के घर मिल चुकी थी और मैं डरते-डरते श्री शुक्ल से मिलने गया। उनके बारे में इलाहाबाद में ही एक कथा सुन ली थी। कहा जाता है कि एक कनौजिया ब्राह्मण उनसे मिलने गए, तो शुक्ल जी ने उनसे पूछा—'कछु उड़त है' (यानी तम्बाकू खाते हो) तो उन्होंने कहा—'नहीं।' इस पर शुक्ल जी ने टिप्पणी की कि 'फिर तुम चौथाई कनौजिया नहीं रहे।' फिर पूछा—'कछु छनत है' (यानी भाँग पीते हो), उसके उत्तर में भी उन्होंने कह दिया कि 'नहीं।' तो शुक्ल जी बोले कि 'तुम आधे कनौजिया नहीं रहे।' इसके बाद उन्होंने तीसरा सवाल किया—'कछु कटत है' (यानी मांस खाते हो), तो उन्होंने कहा कि 'नहीं महाराज।' इस पर शुक्ल जी ने कहा कि 'तुम तीन चौथाई कनौजिया नहीं रहे।' इसके बाद आगन्तुक महोदय बोले—'महाराज, अब चौथा सवाल नहीं कीजिए, नहीं तो मैं कनौजिया बिलकुल ही नहीं रहूँगा।'

थोड़ी देर तक 'देश-दूत' कार्यालय में मेरे प्रतीक्षा करने पर जब शुक्ल जी खाली हुए, तो उन्होंने मेरा परिचय लिया। पण्डित जी ने कनौजिया वाले सवाल तो नहीं किए, पर थोड़ी जानकारी ली, 'क्या लिखते हो, क्या करते हो ?' मैंने परिचय दिया। ब्रज-साहित्य-मण्डल की स्थापना और 'ब्रज-भारती' का उल्लेख किया और यह बताया कि 'अभी तक मैं वकालत कर रहा था, अब साहित्यिक क्षेत्र में काम करने की दृष्टि से पत्र-कारिता करने का इरादा है।'

पण्डित जी ने बड़े प्रेम से समझाया कि 'अखबारी धन्धे में कोई तरक्की की ज्यादा उम्मीद नहीं है। साहित्यिक कार्य भी धरा-का-धरा रह जायेगा। प्रूफ पढ़ते आँखें फूट जायेंगी, नोन-तेल-लकड़ी के सवाल के मारे नौकरी के अलावा और कोई काम नहीं सूझेगा और इतने बड़े शहर में तुम्हारे जैसा नया लेखक खो जायेगा।'

पर 'मूरख टेक गही, सो गही।' मैंने तो अपने मन में तभी से इलाहाबाद रहने की सोच ली थी, जब मैं मथुरा स्टेशन पर टिकट खरीद रहा था। मुझे वृह-स्पतिवार को भेजा गया था क्योंकि उस दिन वापसी टिकट मिलता था, जिसमें मङ्गलवार को लौटकर आ सकता था। फार्म भरने के लिए यह समय काफी समझा गया था। मथुरा में मैं अपने चाचाजी के पास रहता था, इसलिए दो-चार दिन लायक

कपड़े और बिस्तर लेकर ही आया था, लेकिन मेरा मन मथुरा लौटने का नहीं था, इसलिए मैंने वापसी टिकट न लेकर एक तरफ का ही टिकट लिया। इसलिए शुक्ल जी के प्रवचन का मेरे ऊपर कोई असर नहीं हुआ।

दूसरे दिन मैं निर्मल जी के पास उनके कटरा स्थित घर पर गया। वे जिला कचहरी के पास ही रहते थे। मैंने उनसे पूछा कि 'शुक्ल जी की क्या प्रतिक्रिया थी ?' उन्होंने बताया, वह उस समय मुझे बड़ा हास्यास्पद लगा, पर अब मैं सोचता हूँ कि उन्होंने अनायास ही मुझे दो बड़े आदमियों की पंक्ति में खड़ा कर दिया था। उन्होंने निर्मलजी से कहा कि 'हम तो समझते थे कि दो ही चतुर्वेदी 'दुष्ट' हैं, बनारसीदास चतुर्वेदी और श्रीनारायण चतुर्वेदी, पर तीसरा चतुर्वेदी भी 'दुष्ट' मालूम पड़ता है।' उस समय मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि मुझे 'विशाल भारत' के सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी या उत्तर प्रदेश के शिक्षा-प्रसार-अधिकारी राय-बहादुर पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी के समकक्ष भी कोई रख सकता है। पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी का दारागंज-स्थित मकान इलाहाबाद के साहित्य-कारों से भरा रहता था। कभी निराला जी वहाँ विराजमान दिखाई देते, तो कभी बाबू सम्पूर्णानन्द। अनेकों लेखक, प्रकाशक और अधिकारी या शिक्षा-सेवा में आने की इच्छा रखनेवाले, उनको दिन भर घेरे रहते थे। शुक्ल जी का उनसे मेल न बैठा हो, यह मेरी समझ में आता था और वे शक्ति-शाली व्यक्ति को 'दुष्ट' कहकर सम्बोधित करते हों, यह बात भी जँच सकती थी, पर मुझे उन्होंने केवल चतुर्वेदी होने के नाते ही भैया साहब की लाइन में खड़ा कर दिया !

शुक्ल जी सम्पादकाचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के सहयोगी रह चुके थे और उन्हीं के आसन पर विराजमान थे। द्विवेदी जी ने जिस गरिमा को अपनाया, उसे शुक्ल जी ने भी अङ्गीकार किया। वे उन लोगों में से थे, जो यह मानते थे, 'जो आपको न माने, ताके बाप को न मानिए'। यह स्वाभाविक था कि वह पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी की दरबारगीरी न करते हों, वैसे इण्डियन प्रेस के मालिक पटल बाबू तथा अन्य घोष बन्धु श्रीनारायण जी का बड़ा सम्मान करते थे। यह जानते हुए भी शुक्लजी अगर श्रीनारायणजी को पसन्द नहीं करते थे, तो ऐसा कहने में उन्होंने सङ्कोच नहीं किया।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, द्विवेदी जी के तो बड़े भक्त थे, परन्तु बाद में 'सरस्वती' ने श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के सम्पादकत्व में जो नीति बरती, वह उन्हें पसन्द नहीं थी। इण्डियन प्रेस जिस प्रकार पुस्तक-उद्योग पर अधिक ध्यान दे रहा था और 'सरस्वती' की प्राचीन प्रतिष्ठा को क़ायम रखने पर कम, इसके बारे में भी वे अपने विचार खुलकर प्रकट कर चुके थे। स्वाभाविक था कि जिस समय शुक्ल जी 'सरस्वती' के सम्पादक हों और कोई यह कहे कि 'सरस्वती' का अब वह स्तर नहीं रहा, जो द्विवेदी जी के समय था, तो शुक्ल जी का यह सोचना स्वाभाविक था कि उनकी सम्पादकीय योग्यता पर चोट की जा रही है। बनारसीदास जी के बहुत से

विचार ऐसे थे, जो शुक्ल जी को ही नहीं, उस पीढ़ी के बहुत से साहित्य-कारों को बड़े क्रान्तिकारी लगते थे— जैसे अराजकतावाद का प्रचार आदि-आदि। और यह समझना अनुचित नहीं होगा कि शुक्ल जी बनारसीदास जी के प्रति इस प्रकार की धारणा व्यक्त करते।

परन्तु जब उन्होंने मेरा नाम भी उन्हीं की श्रेणी में डाल दिया, तो मुझे यह समझने में देर नहीं लगी कि इस शब्द का प्रयोग शुक्लजी किसी व्यक्ति की विशेष प्रतिभा का वर्णन करने के लिए ही करते हैं, किसी द्वेष-भाव से नहीं। करीब-करीब इसी तरह का एक विचार उग्र जी ने 'वीणा' में लिखा था, जिसमें उन्होंने लिखा था—'दुष्ट होने के लिए पुष्ट होना चाहिए।' शायद शुक्ल जी ऐसा ही कुछ सोचते हों, पर यह जरूर हुआ कि मैं दोनों विद्वज्जनों स्वर्गीय श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी के इतने निकट आ गया, जितने निकट वे दोनों आपस में नहीं थे।

मैंने जो कुछ लिखा है, उससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि शुक्ल जी में लीक से हटकर सोचने की शक्ति नहीं थी। जिस सम्पादक ने अपने 'सरस्वती' जैसे पत्र में 'हरिऔध जी की बुड़भस' अथवा श्री वेंकटेशनारायण तिवारी द्वारा लिखित 'राधा स्वकीया थीं या परकीया' जैसे लेख छापे हों, जिन्होंने न केवल साहित्यकारों को झकझोरा बल्कि पाठकों में भी खलबली मचा दी, वे ऐसे सम्पादक नहीं थे, जो लीक से जुड़ा रहे। उन्होंने काफी समय तक 'सरस्वती' की सेवा की और जब उस पत्रिका का सम्पादन छोड़ा, तब तक पत्रिका हिन्दी-साहित्य-जगत् में अपना स्थान बनाये हुए थी।

●

'...पाश्चात्य देशों में लोक-शिक्षण के कार्य में रेडियो का जो उपयोग किया गया है, उसका कल्याण-कारी परिणाम हुआ है। प्रसन्नता की बात है कि भारत में भी उसके उपयोग की ओर समुचित ध्यान दिया जा रहा है...।'

—'सरस्वती', मई १९३८, सम्पादकीय नोट, पृष्ठ ५४४

महा-शक्ति के महा-पुत्र : 'देवीदत्त' शुक्ल

□ श्री जगदीशशरण बिलगइयाँ 'मधुप'

कोटि नमन देवता !

देवी के परम - भक्त,
देशिकेन्द्र, 'देवी-दत्त'।

दिव्य - देह - धारियों से,
जिनका मिलान था।

सुर-सरि सी पावन-तम,
जिनकी विचार-शक्ति।

गौरव, गुरु, गरिमा-मय,
जिनका व्यक्तित्व था।

हिन्दी के गौरव को,
बढ़ाने में सु-लग्न रहे।

शुद्ध ज्ञान - धारा की,
सरस्वती – प्रवाह की।

गोपनीय तत्त्वों का,
ज्योति-पथ दिखाने हेतु।

सूरज की किरण बने,
कोटि नमन देवता !

•

प्रज्ञा और पवित्रता का सङ्गम : स्व० शुक्ल जी

□ डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री

पण्डित देवीदत्त शुक्ल का स्मरण आते ही एक शान्त, मौन, सरस्वती-साधक का चित्र सामने आता है—'सरस्वती'-जैसी साहित्यिक पत्रिका के सम्पादक का। सम्पादक के रूप में उन्होंने लम्बा जीवन जिया—इतना लम्बा, जितना बहुत कम लोगों के भाग्य में होता है। मजेदार बात यह कि 'सरस्वती' का जो स्तर और यश उन्हें विरासत में मिला था, उसे उन्होंने बराबर बरकरार रखा। हाँ, उसकी आक्रमणात्मक मुद्रा को आमन्त्रक स्मिति में अवश्य बदल दिया। द्विवेदी जी के समान शुक्ल जी भी बैसवाड़े के थे, फिर भी उनके स्पर्श से बैसवाड़े का अक्खड़पन न जाने कैसे मार्दव में परिणत हो गया था। उनके विनय, सौजन्य किन्तु साथ ही वैचारिक और चारित्रिक दृढ़ता को हम 'सरस्वती' की पच्चीस-वर्षीय फाइलों में झाँकता, बोलता देख सकते हैं।

सम्पादक के आसन पर मैंने उन्हें देखा। आपात-दृष्ट्या लगा, शायद मैं भूल से गलत व्यक्ति के पास आ गया हूँ—किसी संस्कृत शास्त्री ब्राह्मण के पास! वेष, भूषा, वाणी—सभी तो इस धारणा की पुष्टि करते हैं। न द्विवेदी जी वाली अहम्मन्यता को छूती हुई तेजस्विता और न सम-कालीन लेखकों की 'अहमेवाद्वितीयं ब्रह्म' वृत्ति से उद्भूत सर्वज्ञता को आगुन्तक पर थोपने की, अकुलाहट-भरी चेष्टा। यह क्या करते होंगे 'सरस्वती' का सम्पादन! मैं तब "किञ्चिज्ञोऽहं गज इवा मदान्धः समभवम्" की ज्ञान-गली से गुजर रहा था। हमारी जैसी चवरामे की वृत्ति उनमें नहीं थी। व्यर्थ की बकवास न सुनने का वरदान उन्हें विधाता ने दे रखा था। भाँग के गोले की बात लोगों ने बता रखी थी, पर वह तो रामचन्द्र शुक्ल के विषय में भी प्रसिद्ध थी। फिर भी मुझे उनके मुख पर एक ऐसी अनासक्ति और स्नेह की मिली-जुली भाव-मुद्रा दिखी, जिसके लिए कोई उपयुक्त शब्द मेरे पास नहीं है किन्तु उसे और उनकी विलोकन-शैली को मिलाकर इतना तो मैंने तुरन्त पढ़ लिया था कि वे अवश्य ही वाम या दक्षिण-मार्गी शाक्त हैं।

मेरी पहली महत्त्व-पूर्ण कहानी 'महा-माया का प्रसाद' तब तक 'सरस्वती' में छप चुकी थी। बात उसी से शुरू हुई। मैंने कहा—'यह महा-माया आपकी नहीं है।' वस्तुतः वह विशेषण मैंने एक चालाक स्त्री के लिए प्रयुक्त किया था।

'अन्तर क्या है? वही तो आत्म-शक्ति के द्वारा विविध रूपों में व्याप्त है। आप उसे कोई भी नाम दे दीजिए।' शुक्ल जी ने सरल भाव से कह दिया।

इसके बाद ब्रज, अवधी, मैथिली और डिङ्गल से लेकर खड़ी बोली काव्य तक पर चर्चा हुई। मुझे आश्चर्य हुआ कि वह इन सबसे निकटता से न केवल परिचित थे, इन पर उनका अधिकार था। रस, अलङ्कार, छन्द, आदि का शास्त्रीय अध्ययन उनका था। व्रजभाषा के अनेक श्रेष्ठ कवियों के उदाहरण उन्होंने दिए। संस्कृत-साहित्य में उनकी पैठ गहरी थी। नवीन काव्य के तेवर वह खूब पहचानते थे, यद्यपि उनमें इनके लिए विशेष आकर्षण न था। फिर भी द्विवेदी जी की अपेक्षा वह अधिक उदार थे और किसी रचना को उसके अपने गुण-दोषों के आधार पर परखने का प्रयत्न करते थे—'वाद' और 'व्यक्ति' में न फँसकर।

इसलिए निराला जी ने जब 'कुल्ली भाट' की भूमिका में उनके प्रति हल्की भाषा का प्रयोग किया, तो मेरा मन दुःखी हुआ। उनका, शायद नहीं। द्विवेदी जी के लिए वह ऐसा लिखते, तो चल सकता था क्योंकि द्विवेदी जी प्रति-प्रहार में विश्वास रखते थे। किन्तु शुक्ल जी तो 'सर्वेभ्यः स्वस्ति' वाले जीव थे। मेरी जानकारी में उन्होंने किसी से कटु वचन नहीं कहे। पं० लल्लीप्रसाद पाण्डेय जब जबलपुर आते, तो उनके विषय में काफी चर्चा करते। ठाकुर श्रीनाथ सिंह जैसे उद्दीप्त व्यक्तित्व के साथ, ठकुर-सुहाती से दूर रहनेवाले शुक्ल जी का घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध शुक्ल जी की मृदु, मसृण प्रकृति का प्रमाण है।

जहाँ तक स्मरण है, पं० माखनलाल चतुर्वेदी की 'हिम-किरीटिनी' या 'हिम-तरङ्गिणी' पर मेरी लिखी समीक्षा भी उन्होंने 'सरस्वती' में छापी थी।

उनका 'वाम-मार्ग' मेरे हाथ बहुत देर से लगा। मेरे पुस्तकालय में वह काफी पहले से था। सम्भव है, उन्होंने ही दिया हो। तब उसका 'समर्पण' मुझे अच्छा नहीं लगा था। बाद में 'समर्पण' की पृष्ठभूमि जानकर सन्तोष हुआ। वाम-मार्गी साहित्य के अध्ययन की ओर मेरी प्रवृत्ति दतिया (म० प्र०) पीताम्बरा पीठ के दक्षिण-मार्गी सिद्ध पुरुष स्व० स्वामी जी महाराज के सत्सङ्ग से हुई थी, यद्यपि यह मेरे अध्ययन का स्वाभाविक अङ्ग था। स्वामी जी की स्मृति में प्रकाशित 'श्रीस्वामी-स्मृति-ग्रन्थ' का सम्पादन भी बाद में मैंने किया।

'कुलार्णव तन्त्र' पढ़ाते समय मुझे शुक्ल जी के 'वाम-मार्ग' का स्मरण आया। छोटी-सी यह पुस्तिका तन्त्र-साधना और उसके साहित्य में शुक्ल जी की पैठ और श्रद्धा दोनों का निदर्शन है। यह एक आधिकारिक रचना है। बाद में पी-एच० डी० के लिए कार्य कराते समय मैंने शोधार्थियों को सर्व-प्रथम इसी पुस्तक के द्वारा विषय-प्रवेश कराया। इनमें से दो ने क्रमशः 'कालिका पुराण का तान्त्रिक अनुशीलन' और 'शाक्त तन्त्रों का शास्त्रीय अध्ययन' विषयों पर पी-एच० डी० भी प्राप्त की।

शुक्ल जी का 'दुर्गा-सप्तशती' का शब्दशः अनुवाद भी श्रेष्ठ है—अनुवाद की कसौटी पर निर्दोष उतरनेवाला।

पिछले पचास वर्षों के साहित्यिक मञ्च पर दृष्टि-पात करता हूँ, तो मुझे स्वर्गीय शुक्ल जी का व्यक्तित्व सबसे अलग दिखाई देता है। एक भी लेखक-सम्पादक

ऐसा नहीं, जिसे मैं उनसे मिलता-जुलता कह सकूँ या नई पीढ़ी को समझाने के लिए उनके किसी परिचित किसी व्यक्ति की ओर संकेत कर सकूँ।

भाषा और विचारों में अपने अग्रज पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का साफ-सुथरापन, पराडकर जी की लगन व परिशुद्धि, पं० गोपीनाथ कविराज की वैदुषी और निष्ठा, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय की मानव गुण-गरिमा और आत्म-सङ्कोच—इन सबके मिले-जुले समीकृत रूप का नाम था **पण्डित देवीदत्त शुक्ल**। मैंने उन्हें ऐसा ही पाया—शक्ति और 'सरस्वती' के सह-शक्ति-पात से पूत, अवधूत।

पिता के दिए नाम की सार्थकता उन्होंने 'चण्डी' के माध्यम से सम्पन्न की। उनके अपत्य अब उनके ध्वज को वहन कर रहे हैं।

उनके बहुआयामी, सरल, प्राज्ञ व्यक्तित्व के लिए सिर झुकता है। भारत में धीरे-धीरे ऐसे महा-मना ब्राह्मण अब नाम-शेष होते जा रहे हैं।

●

'....भारतीय रेडियो की असफलता का कारण उसकी 'हिन्दुस्तानी भाषा' है, जो वस्तुतः विशुद्ध उर्दू होती है।....ऊँचे दर्जे के 'उस्तादों' के गाने तथा 'साहित्यिकों' के तराने उसे कदापि लोक-प्रिय नहीं बना सकेंगे।....'

'....ब्राडकास्टिंग के समस्त सञ्चालकों को नगर-वासियों की अपेक्षा पढ़े-लिखे ग्राम-वासियों का भी सहयोग प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि वे ग्राम-वासियों की अभिरुचि तथा उनके अभावों की नगर-वासियों की अपेक्षा अधिक जानकारी रखते हैं। ऐसा करके ही वह लोक-प्रिय हो सकेगा।....'

—'सरस्वती,' जुलाई १९३८, सम्पादकीय नोट, पृष्ठ १००

'सरस्वती'-सम्पादक पण्डित देवीदत्त शुक्ल : एक अमिट स्मृति

□ श्री कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा

'सरस्वती'-शब्द हिन्दी-साहित्य का कभी पर्याय था। कारण कि इसने हिन्दी खड़ी बोली के गद्य को प्रगति दी, उसका परिमार्जन किया, उसको विकसित किया। जनक तो थे उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र। प्रमाण हैं उनकी पत्रिका 'हरिश्चद्र-चन्द्रिका' और अनेक नाटक, जिनमें से 'अन्धेर नगरी' अमर है। स्वतन्त्रता के चालीस वर्ष बाद 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' चरितार्थ हो गया और 'चना जोर गरम' भी। आज सेब और अंगूर से मँहगी तरकारी और चने-मुरमुरे ही हैं, जिन्हें अब पिस्ता और चिलगोजा खानेवाले ही खा सकते हैं! भारतीय जन-साधारण को अब इनके दर्शन भी दुर्लभ हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली को हिन्दी काव्य की भाषा भी बनाया। मैथिलीशरण गुप्त उन्हीं के साहित्यिक पुत्र थे। और यदि 'तुक्कड़' किन्तु राष्ट्रीय अभ्युत्थान के दूसरे यज्ञ-देवता मैथिलीशरण न होते, तो न प्रसाद होते, न पन्त, न निराला और न महादेवी। आज का नया कवि और पुराना प्रगतिवादी कवि तो गर्भ में ही मर गया होता, बिना छायावादी हिन्दी की उत्कृष्टता और प्राञ्जलता के।

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के तट पर लाकर खड़ा करने का काम किया **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** ने। यदि मैं उन्हें रामायणी 'केवट' कहूँ, तो इसे मेरी अत्यन्त विनम्र, सार्थक और स्नेह-युक्त श्रद्धाञ्जलि ही मानिए। राम ने मुझे जन्म अवश्य दिया और बिना मेरे भक्त बने, साक्षात् जागृदवस्था में दर्शन भी, किन्तु उनके 'केवट' से मेरा साक्षात्कार शुक्ल जी के अवतार के रूप में 'सरस्वती'-कार्यालय में ही हुआ था : ताम्र-वर्ण, न्यून केश, उच्च भाल (जिस पर हनूमान जी का बड़ा-सा सिंदूरी टीका, मानो सूर्यांश ही वहाँ सुशोभित हो), गाढ़े का तनीदार सलूका और उसी की घुटनों तक बँधी धोती। हथेली खैनी की सूखन से लिप्त और वह स्वयं उनके श्री-मुख में विराजमान।

जुलाई सन् १९३७ ई० में मैं धर्म-समाज इण्टर कॉलिज से इण्टर (विज्ञान) पास करके इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में बी० ए० करने गया। तब तक अनेक छोटी पत्रिकाओं में मेरी हिन्दी की रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। हिन्दी में वहाँ उस समय इण्डियन प्रेस से मासिक 'सरस्वती' और साप्ताहिक 'देश-दूत' निकलता था। 'सरस्वती' का सम्पादन कर रहे थे **देवीदत्त जी** और 'देश-दूत' का पं० ज्योतिप्रसाद 'निर्मल', जो एकदम उनके विपर्यय थे।

शुक्ल जी ने सबसे पहले मुझे कुछ नई पुस्तकें 'सरस्वती' में समालोचनार्थ दीं, जिनमें रामेश्वर शुक्ल अंचल का प्रथम कविता-संग्रह 'मधूलिका' भी था। उसकी मैंने निर्मम होकर कड़ी आलोचना की। अंचल पं० मातादीन शुक्ल के सुपुत्र थे और यद्यपि उस समय ए० जी० आफिस में क्लर्क ही थे, पर दारागंज में रहते थे, जो साहित्यकारों का गढ़ था; सो बहुत प्रभावशाली थे। सो, बड़ा हल्ला हो गया। बदले में प्रसिद्धि मिली।

अक्टूबर सन् १९३८ ई० में मेरी विख्यात कहानी 'बटनवाली' आदरणीय शुक्ल जी ने 'सरस्वती' में प्रकाशित की। और उनके इस आशीर्वाद से मैं साहित्यकारों की प्रथम पंक्ति में आ खड़ा हुआ। 'सरस्वती' का वर्चस्व ही ऐसा था। आज की-सी चाटुकारिता अथवा भ्रष्टता उस पर-तन्त्र युग में नहीं चलती थी। साहित्य की समस्याओं अथवा प्रतिवादों को लेकर अभिन्न मित्र साहित्यकार साहित्यिक पत्रों के पृष्ठों पर वह-वह तलवारें और बछियाँ चलाते थे कि बस! पं० बनारसीदास चतुर्वेदी इन संग्रामों के राणा सांगा थे। सो, शुक्ल जी ने मुझे प्रथम बार साहित्यिक गरिमा प्रदान की। उसके शीघ्र बाद मेरी कहानी 'चौराहा' अज्ञेय जी ने 'विशाल भारत' में प्रकाशित की और एक प्रशंसा-पत्र भी भेजा, पन्द्रह रुपये पारिश्रमिक के साथ। 'बटनवाली' के दस रुपये मिले थे, क्योंकि पटल बाबू बड़े चालाक कंजूस थे। फिर भी उन दिनों ये दोनों पारिश्रमिक बड़ी रकमें थीं।

'मधूलिका' की मेरी रिव्यू छपी, तो अञ्चल जी एक दिन तमतमाए हुए दमदमाते 'सरस्वती'-कार्यालय में प्रविष्ट हुए और शुक्ल जी पर अपना 'प्रणाम' पत्थर की तरह दे मारा और सामने एक कुर्सी पर बैठ गए। शुक्ल जी की मन्द-मन्द मुस्कान में कोई तेवर नहीं बदला। पं० मातादीन शुक्ल के सुपुत्र होने कारण अञ्चल जी उन पर प्रणाम-पाषाण फेंकना अपना अधिकार समझते थे। गरमी के दिन थे। तीसरा प्रहर भी ढल रहा था। अञ्चल ने उस आलोचना के विरुद्ध वाक्-मशीन-गन चलानी शुरू कर दी और आलोचक को ठेठ गालियाँ देनी शुरू कर दीं। पास ही की कुर्सी पर मैं भी बैठा था।

जब अञ्चल का सारा गोला-बारूद समाप्त हो गया, तो शुक्ल जी ने हँसकर कहा, 'यही हैं सौनरेक्सा जी! इन्हें भी सुलटौ। हमारी जान तो आलोचना बड़ी सटीक है, अन्यथा कहाँ हम छापन?'

अञ्चल एकदम हतप्रभ हो गए, इस नाटकीय त्रासदी जैसे अन्त से। फिर भी कठोर स्वर में बोले, "जी, तो आप ही हैं! नाम तो सुन रखा था बहुत।"

मैंने हँसकर कहा, "मैं आपसे परिचित नहीं था। सो, कोई दुराग्रह भी नहीं था। वैसे मैं आलोचना नहीं, समालोचना करता हूँ, रचनाकार मित्र हो या शत्रु।"

शुक्ल जी जाने के लिए उठ खड़े हुए। पाँच बज चुके थे। वे अपने घर कटरे की ओर चले गए। अञ्चल अपनी सायकिल उठाकर मेरे साथ-साथ हिन्दू होस्टल की ओर चल दिए। तब मैं वहीं रहता था। जो कुछ मैंने लिखा था, उसको

अक्षरशः सिद्ध किया। कमरे में चाय पी गई। उस दिन से हम लोग प्रगाढ़ मित्र हो गए।

फिर कलकत्ते से साप्ताहिक 'विचार' का सम्पादन छोड़कर मैं इण्डियन प्रेस में ही नौकर हो गया, अक्टूबर सन् १६४० ई० में, 'सरस्वती-सीरीज' में पुस्तकें लिखने के लिए। साथ में थे राजेश्वरप्रसाद सिंह, सर्वदानन्द वर्मा और सुरेन्द्र वालूपुरी। वहाँ बहुत कठोर काम करना पड़ता था, ३५ रु० मासिक मिलते थे। व्यस्तता के कारण, शुक्ल जी के वहीं होते हुए भी, कम मिलना होता था।

सन् १६३८ ई० में ही, जब श्री सी० बी० राव आई० सी० एस० होकर इंग्लैण्ड से लौटे थे, तब शुक्ल जी के चरण स्पर्श करने वह 'सरस्वती'-कार्यालय में आए थे। शुक्ल जी ने मेरा परिचय उनसे कराया था। दो-तीन बार मैं उनके कटरे-वाले घर में भी गया था। अन्तिम भेंट वहीं बाजार में सन् १६४५ में हुई थी। हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित होने का सौभाग्य **पं० देवीदत्त जी** ने ही मुझे प्रदान किया। उनकी स्मृति मेरे लिए पुण्यवान है।

तब से मैं देश-विदेश में घूमा हूँ। दर्जनों सम्पादकों और हर भाषा के बड़े लेखकों से मिला हूँ, किन्तु **पं० देवीदत्त शुक्ल** जैसा सहज, सरल, परम मानवीय व्यक्तित्व मैंने एक भी नहीं देखा। एकदम निश्छल, निष्कपट, निर्मल। उस युग में विशेष रूप से इण्डियन प्रेस में वेतन बहुत कम मिलते थे। देवीदत्त जी को 'सरस्वती'-सम्पादक के पद पर इतना वेतन भी नहीं मिलता था कि वह अपने घर में बिजली तक लगवा सकते। यहाँ तक कि सरसों के तेल का दीपक पढ़ने के लिए भी नहीं जला सकते थे! रेण्डी के तेल के दिये से ही वह पढ़ते-लिखते थे, जिससे वह नेत्र-ज्योति को खो बैठे, सन् १६४६ में। निश्शेष जीवन के लगभग ३० वर्ष उन्होंने अन्धकार में ही व्यतीत किए। कैसी छलना थी यह नियति की अथवा विडम्बना थी विद्या की कि ज्ञान-ज्योति देनेवाला नयन-ज्योति से भी वंचित हो गया! अंग्रेजी भाषा का अमर काल-सिद्ध कवि मिल्टन भी इसी प्रकार अन्धा हो गया था और तब उसने लिखा था, "वे भी (मानवता की) सेवा करते हैं, केवल खड़े रहकर, (अपनी पारी की) प्रतीक्षा करते हैं।"

'सरस्वती' हिन्दी साहित्य के पचास बरसों का इतिहास ही नहीं, अमर-कोश है। **पं० देवीदत्त शुक्ल** उस कोश के महान् दाताओं में हैं। हिन्दी संस्थान जब प्रसाद, पन्त और निराला को ही भूल गया और उनके आदि पूर्वज भारतेन्दु को भी तथा मैथिलीशरण गुप्त की जयन्ती मनाने का मँहगा तथा साटनी स्वांग रचता है, तब उससे यह आशा करना कि वह इसी सन् १६८७ ई० में **पं० देवीदत्त शुक्ल जी** की भी जन्म-शताब्दी का स्मरण-मात्र भी करेगा, कोरी साहित्यिक प्रवंचना है।

स्वतन्त्र उत्तर प्रदेश एक ऐसा ही प्रदेश है, जिसमें पं० देवीदत्त शुक्ल का जन्म लेना और हिन्दी-भाषा-साहित्य की सेवा करना एक यूनानी त्रासदी थी।

●

सिद्धान्तों के लिए कभी समझौता न करनेवाले : पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ श्री बलदेवप्रसाद गुप्त

१६२८ से ४२ तक मैं प्रयाग में एक विद्यार्थी, हिन्दी के सेवक तथा साधारण कांग्रेसी कार्यकर्ता के रूप में रहा। इसलिए यह स्वाभाविक था कि मेरा हिन्दी के महारथियों तथा कांग्रेसी नेताओं से निकट-तम सम्बन्ध रहा।

इण्डियन प्रेस से 'सरस्वती' तथा 'बाल-सखा' नामक दो मासिक हिन्दी पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक थे और उन्हीं के उत्तराधिकारी के रूप में पं० देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार लिया था। उन्हीं के समय ठाकुर श्रीनाथ सिंह, श्री लल्लीप्रसाद पाण्डेय, श्री ठाकुरदत्त मिश्र एवं श्री शम्भूदयाल सक्सेना भी इण्डियन प्रेस में हिन्दी-सम्पादक के रूप में विख्यात थे। श्री शम्भूदयाल जी बाद में राजस्थान अध्यापन के कार्य से चले गए थे।

पं० देवीदत्त जी शाक्त थे और इसलिए चण्डी के प्रबल भक्त थे। हिन्दी-पत्रिकाओं में तन्त्र-शास्त्र की चर्चा कर उसे बढ़ाने का पूरा श्रेय **पं० देवीदत्त जी शुक्ल** को था। शाक्त होते हुए भी वे वैष्णव एवं शैवों का समादर करते थे।

मुझे अब भी याद है कि जब कभी मैं पं० शिवनाथ काटजू के यहाँ जाया करता था, तो कभी-कभी वहीं **पं० देवीदत्त** शुक्ल से भेंट हो जाती थी। मैं उनका बहुत आदर करता था, इसलिए उनके सामने कम बोलता था। कारण उनमें अहम्मन्यता बिल्कुल नहीं थी। यदि मैं भूलता नहीं हूँ, तो वे महादेव जी के प्रसाद के भक्त थे और जब वे प्रसाद को पाकर बात करते थे, तो ऐसा लगता था कि कोई अपना आदमी बात कर रहा हो। वे मुस्कराते रहते थे तथा हृदय से भी गद्‌गद रहते थे। अपने से छोटों से तो वे बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण ढंग से बात कर उसका मन मोह लेते थे। अपने छोटों को हमेशा नेक सलाह देते थे और उनकी गलतियों को सुधारने का ढंग भी बतलाते थे।

जिस समय शुक्ल जी ने सम्पादन का काम किया, उस समय इलाहाबाद राजनीति तथा हिन्दी का गढ़ था। इन दोनों क्षेत्रों में प्रवेश लेनेवाले को प्रयाग की निरन्तर यात्रा करनी पड़ती थी तथा हिन्दी के सेवकों को तो प्रयाग आकर एक बार हिन्दी के महारथी एवं यशस्वी सम्पादक शुक्ल जी की सेवा में भी उपस्थित होना पड़ता था।

मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी का छात्र था। पण्डित जी, जिन्हें हम लोग

भगवन् कहते थे, हमें पढ़ाते थे। उनका भी नाम सम्भवतः देवीप्रसाद जी ही था। भगवन् हिन्दू-बोर्डिंग हाउस के अधीक्षक थे। कभी-कभी उनके निवास में हमें भी शुक्ल जी के दर्शन हो जाते थे।

उस समय हिन्दी की सेवा एक साधना थी और इस साधना में शुक्ल जी हमेशा सफल रहे। शुक्ल जी अजात-शत्रु थे तथा उनकी समालोचना करनेवालों की संख्या नगण्य थी। शुक्ल जी हिन्दी के भवन की उस नींव की तरह थे, जिसको लोग आज नहीं देख पा रहे हैं, पर हिन्दी के प्रचार-प्रसार तथा उसके आज के वर्तमान रूप का श्रेय शुक्ल जी सरीखे त्यागी-तपस्वी हिन्दी-सेवकों को ही है।

महात्मा गांधी ने स्वयं एक बार कहा था कि मनुष्य की जिन्दगी समझौतों की एक शृङ्खला है क्योंकि सैद्धान्तिक सत्य को व्यवहार में लाना हमेशा सरल नहीं होता, पर गुलाम देश में कुछ ऐसे लोग भी थे, जिन्होंने देश-सेवा तथा हिन्दी के लिए काम करने में कभी कोई समझौता नहीं किया और **पं० देवीदत्त शुक्ल** भी ऐसे ही व्यक्तियों में थे, जिन्होंने अपने सिद्धान्त के लिए कभी किसी से समझौता नहीं किया, चाहे उन्हें कितनी ही कठिनाई का सामना करना पड़ा हो। यही कारण है कि १९४७ के पहले हिन्दी-सेवा की बात सुन कर हम गम्भीर रूप से प्रेरित होते थे। आज हिन्दी की चर्चा छिड़ने पर हम हँस पड़ते हैं।

शुक्ल जी की मुस्कराहट का मूल्य भी आँकना सम्भव नहीं। पण्डित जी अपनी मुस्कराहट से अपने मिलनेवालों को प्रसन्न कर देते थे और इसकी स्मृति उनके हृदय-पटल में हमेशा बनी रहती थी।

●

'....हमें हिन्दी की वर्तमान गति से पूर्ण सन्तोष है, क्योंकि हम देख रहे हैं कि उसकी चतुर्मुखी उन्नति हो रही है।....'

—'सरस्वती,' जून १९३८, सम्पादकीय नोट, पृष्ठ ६४८

साहित्य के तपस्वी : पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ 'पद्म-भूषण' डा० रामकुमार वर्मा

बात सन् १९३१ की है, जब मैं प्रयाग विश्व-विद्यालय में हिन्दी-विभाग में प्रवक्ता-पद पर कार्य कर रहा था। कविता लिखने में विशेष रुचि होने के कारण मैं समय-समय पर अनेक कवि-सम्मेलनों में भाग लेता था तथा उस समय की मासिक पत्रिकाओं में अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराने के लिए भेजा करता था। मेरी अनेक रचनाएँ 'चाँद', 'विश्व-मित्र', 'विशाल भारत' तथा 'वीणा' जैसी प्रतिष्ठित मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं, किन्तु अनेक बार भेजने के बाद भी 'सरस्वती' में उनका प्रकाशन न होने पर मैं बहुत कुछ निराश हो गया था।

मैंने निश्चय किया कि मैं स्वयं अपनी एक कविता लेकर प्रयाग में स्थित इण्डियन प्रेस में जाकर सम्पादकीय विभाग में सम्पादक महोदय से मिलूँगा और उनसे कहूँगा कि 'मेरी कविताओं में क्या कमियाँ हैं कि जिससे आप उन्हें प्रकाशित नहीं करते ?' मेरी जिज्ञासा इतनी अधिक थी कि मैंने उस दिन विश्व-विद्यालय से छुट्टी ली और ठीक ग्यारह बजे इण्डियन प्रेस पहुँच गया। वहाँ के चपरासी से मैंने कहा कि 'मैं 'सरस्वती' के सम्पादक महोदय से मिलना चाहता हूँ, मुझे उनके पास तक पहुँचा दीजिए।'

मैं सम्पादक महोदय के कक्ष में था, मैंने देखा कि कुर्सी पर ग्रामीण वेश-भूषा में स्थूल-काय, खद्दर का कुर्ता पहने हुए एक सज्जन बैठे हुए हैं। विशाल नेत्र, भस्म-भूषित मस्तक पर लाल चन्दन का टीका, उठी हुई नासिका और कुर्सी के बगल में रखा हुआ उनका डण्डा। वे बड़ी तन्मयता से किसी प्रूफ का संशोधन कर रहे थे। कुछ देर तक अपने कार्य में संलग्न रहने के बाद उन्होंने सिर उठाया और मुझसे पूछा कि 'आप महाशय कौन हैं ?'

मैंने कहा—'श्रीमन् ! मैं प्रयाग विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक हूँ और मेरा नाम रामकुमार वर्मा है।'

उनके मुख पर हास्य की रेखा उभर आई और कहा—'अच्छा-अच्छा ! क्या आप वही रामकुमार वर्मा हैं, जिनकी रचनाएँ मैंने 'चाँद' व 'विशाल भारत' में देखी हैं ?'

मैंने स्वीकारात्मक सिर हिलाकर 'जी' कहा और कहा—'पण्डित जी, सब जगह तो मेरी कविताएँ प्रकाशित होती हैं किन्तु 'सरस्वती' में मेरी कोई रचना प्रकाशित नहीं होती है। मैं इसमें प्रकाशित होने के लिये एक कविता लेकर स्वयं आया हूँ, आप देखिए।'

उन्होंने कहा—'अच्छा, देखते हैं। रुक जाइये।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने कुर्ते की जेब से एक बटुआ निकाला, उसमें से तम्बाकू निकाल कर अपनी हथेली पर मलते हुए चुटकी अपने मुँह में डाली और निश्चिन्त होकर उन्होंने मेरी कविता का कागज हाथ में ले लिया। पढ़ते समय उनकी भौंहों पर बल पड़े और उन्होंने कहा—

'इस कविता की दूसरी पंक्ति ठीक नहीं है।'

कविता थी—'जीवन-कथा'। पंक्तियाँ थीं—

'इस जीवन का खेल बहुत मैं खेला।
सहसा आज आ गई है जीवन की अन्तिम वेला।'

पण्डित जी ने कहा—'देखिये कवि जी, यह आप इतनी निराशा की बात क्यों लिखते हैं? कभी-कभी मुख से कही हुई बात सच हो जाती है। कहीं ऐसा न हो, इस कविता के लिखने के बाद आपकी अन्तिम वेला आ जाए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को तो आप जानते हैं, अच्छे-खासे कवि थे लेकिन उन्होंने लिखा—

'कहेंगे सबै हि नैन नीर भरि-भरि पाछे,
प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जाएगी।'

'देखो पैंतीस बरस की उम्र में वह संसार से चले गए, कहानी उनकी रह गई! आपको लिखना चाहिये—

'सहसा आज आ गई है जीवन की उज्ज्वल वेला।'

'अन्तिम वेला' नहीं।'

मैंने कहा—'आपका संशोधन बिलकुल सही है।'

उनके समीप एक सज्जन बैठे हुए थे। उनसे उन्होंने कहा—'रामकुमार जी तो अभी नवयुवक हैं। इनको अभी बहुत कुछ सीखना है लेकिन हमारे हिन्दी के बड़े-बड़े कवि भी बहुत-कुछ उल्टा लिख जाते हैं। छायावादी कविता मैं पसन्द करता हूँ, उसने काव्य जगत् में क्रान्ति की है किन्तु छाया-वादी कवि-गण अपनी उमङ्ग में बेसमझ शब्दों का प्रयोग करते हैं। अब प्रसाद जी ने लिख दिया—

'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे।'

'यहाँ भुलावा देने की बात क्यों? नाविक तो आपके कहने में है। जहाँ आप कहेंगे, वहाँ ले जायगा। इसी तरह निराला जी ने जूही की कली को पत्राङ्क-पर्यङ्क पर शिथिल सुला दिया और प्रेमी समीर से क्रीड़ा कराई है। उसने उसके कपोल मसल दिए। यह कैसा शृङ्गार है! पन्त जी ने कविता लिखी—

'मेरे मानस की तरङ्ग में, पुनः अनङ्ग बनो साकार।'

'विवाह तो किया नहीं और अनङ्ग को साकार कर रहे हैं! अभी कल के कवि बच्चन 'मधु-शाला' लिख रहे हैं। जन-जन में शराब का प्रचार कर रहे हैं! यह ठीक नहीं है। स्वस्थ मन से स्वस्थ कविता लिखनी चाहिए।'

मुझसे कहने लगे—'आप तो अध्यापक हैं। आप जानते होंगे कि कविता में भावना और कल्पना—ये दो तत्व रहते हैं। भावना ऐसी हो, जिसका आप अनुभव कर सकते हों। भावना अनुभूति-जन्य होनी चाहिए और कल्पना से उस अनुभूति का शृङ्गार कीजिये। रस है, छन्द है, ध्वनि है, पद-लालित्य है।'

इस भाँति लगभग ४५ मिनट तक उन्होंने मुझसे कविता के सम्बन्ध में बातें कीं और कहा—'मैं तुम्हारी कविता छापूँगा किन्तु संशोधन के साथ।'

मैंने प्रणाम करते हुए कहा— पण्डित जी, आपकी बड़ी कृपा है।

इसके बाद उनकी सेवा में मेरा आना-जाना आरम्भ हो गया और उन्होंने कृपापूर्वक मेरी रचनाओं को 'सरस्वती' में स्थान देने की कृपा की। ये सम्पादक-प्रवर **पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी** नियमित रूप से दस बजे आकर 'सरस्वती' के सम्पादन-विभाग का समस्त कार्य स्वयं देखते हुए सन्ध्या-समय ६ बजे घर पहुँचते थे। 'सरस्वती' में प्रकाशित होनेवाले लेखों का चयन ही नहीं, वे उन लेखों का अन्तिम प्रूफ स्वयं देखने के बाद ही प्रकाशन के लिए देते थे। न केवल 'सरस्वती' पत्रिका, इण्डियन प्रेस से प्रकाशित होनेवाले अनेक ग्रन्थों को अन्तिम रूप देने का समस्त दायित्व भी वे अपने ऊपर लेते थे। अपने कार्य में इतना अधिक समर्पण-भाव मैंने किसी अन्य सम्पादक में नहीं देखा।

इण्डियन प्रेस के स्वामी पटल बाबू भी जब शुक्ल जी के सामने आते थे, श्रद्धा के साथ अपना मस्तक झुकाते थे और उनके कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा वे मुझसे करते थे। लगता था कि एक महान् तपस्वी अपनी आध्यात्मिक साधना के अन्तराल में संसार के विविध कार्यों का निर्वाह करने के लिए इस कार्यालय में आ गया है। सामान्य वेश-भूषा में साहित्य का इतना गम्भीर और निष्णात पण्डित उस उदात्त जीवन का परिचय दे रहा है, जो हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

मुझ जैसे कविता में अभ्यास करनेवाले नव-कवि को शुक्ल जी ने इतना वात्सल्य दिया कि मैं रोम-रोम से अभिभूत हो गया। 'सरस्वती' में कार्य करते-करते और लगभग ३० वर्ष तक एक-एक पृष्ठ का प्रूफ देखते हुए उन्होंने अपनी आँखों की ज्योति खो दी। मैं समझता हूँ कि समस्त हिन्दी-जगत् में पत्रकारिता को उच्च-तम शिखर पर पहुँचाने में **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** का अप्रतिम योग-दान है। मैं तो समझता हूँ कि शाक्त होने के कारण देवी ने उन्हें ऐसी शक्ति से सम्पन्न कर दिया कि उन्होंने जीवन भर अपने दायित्व से अपना मुँह नहीं मोड़ा।

जब-जब मैं इण्डियन प्रेस के परिसर में जाता हूँ, तो **पण्डित देवीदत्त जी** की मूर्ति मेरे सामने साकार हो जाती है और मैं अपना मस्तक झुका लेता हूँ। साहित्य के ऐसे परम तपस्वी शुक्ल जी की स्मृति में मैं अपने शत-शत प्रणाम निवेदित करता हूँ।

●

श्रद्धाञ्जलि

□ श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया

लगभग ३० वर्ष पूर्व की बात है। पं० शिवनाथ काटजू ने मुझे अपने यहाँ साहित्यकारों की एक बैठक में आमन्त्रित किया। यह कोई लिखित निमन्त्रण नहीं था, स्वयं ही आकर कह गए थे। उनका कहना ही मेरे लिए आदेश था। मैं गई किन्तु तब मुझे अनुमान नहीं था कि मैं एक महत्त्वपूर्ण बैठक में जा रही हूँ।

उस दिन राज दिद्दा (श्रीमती राजकुमारी काटजू—मेरी स्कूल की मित्र) मेरे पास ही बैठी थीं। ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' (सम्पादक 'देशदूत'), शम्भुनाथ मिश्र, चित्रकार, परमानन्द मिश्र, निर्देशक केन्द्रीय श्रम कर्मचारी प्रशिक्षण संस्थान, आदि विद्वान् उपस्थित थे। मुख्य अतिथि, शिवनाथ जी के गुरु, प्रातःस्मरणीय **पं० देवीदत्त शुक्ल** आनेवाले थे।

मुझे प्रयाग में आए केवल तीन वर्ष ही हुए थे। मैं पूर्ण रूप से शुक्ल जी की गरिमा और प्रतिभाओं से परिचित नहीं थी। हम लोग शिवनाथ काटजू के यहाँ हाल में एकत्र थे। तभी एकाएक सब खड़े हो गए। शिव जी भाई द्वार की तरफ गम्भीरता से बढ़े और बड़े आदर तथा श्रद्धा से एक वृद्ध सौम्य को सहारा देकर धीरे-धीरे मंच की तरफ लाए।

इसके पूर्व मैंने उन वृद्ध सज्जन को कभी नहीं देखा था। दिद्दा ने धीरे से बताया, 'ये हमारे पूज्य गुरु **पं० देवीदत्त शुक्ल** हैं। इन्हें दिखाई नहीं देता।'

तब याद आया कि शुक्ल जी पहिले 'सरस्वती' के सम्पादक भी रह चुके हैं किन्तु केवल सम्पादक होने के नाते तो कोई बड़ा नहीं कहा जा सकता। इसी भ्रम में मेरे हृदय में उनके लिए अभी तक कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित नहीं था। अपना दुर्भाग्य ही कहूँगी इसे।

बाद में पण्डित जी की प्रतिभाओं और विशेषताओं को जानकर मेरा हृदय शुक्ल जी के प्रति श्रद्धा से भर गया। लगा, तीन वर्ष प्रयाग में मेरे व्यर्थ गए। उस दिन ऐसा अवसर भी, इतने लोगों में, नहीं मिला कि मैं उनके निकट आ पाती। शुक्ल जी मात्र संस्कृत के विद्वान् ही नहीं थे, अध्यात्म दर्शन तथा तन्त्र-मन्त्र के भी पारङ्गत महान् पुरुष थे। आज सोचती हूँ, यही क्या मेरा कम सौभाग्य था कि उस पावन विभूति का दर्शन कर पाई। इसे अपने किसी पुण्य कर्म की उपलब्धि ही कहूँगी।

●

प्रेरणा-स्रोत, प्रकाश-स्तम्भ : पण्डित शुक्ल जी

□ प्रो० कल्याणमल लोढ़ा

प्रसङ्ग उन दिनों का है, जब मैं इलाहाबाद विश्व-विद्यालय का स्नातक था; अर्थात् सन् १९४१ का। किशोर-जीवन के उन दिनों में अनेक लालसाएँ मन को घेरे हुए थीं। शिक्षा, संस्कृति, देश-प्रेम, स्वाधीनता-संग्राम, साहित्य, धर्म, अध्यात्म, दर्शन और राष्ट्रीय पुनर्जागरण का केन्द्र प्रयाग था। राजस्थान के सामन्ती वातावरण में पल कर मैंने प्रयाग में उन्मुक्त और जागरूक चेतना के साथ-साथ नूतन अभिनिवेश पाया, जिसने मन और प्राण को संसिक्त कर जीवन को नया मोड़, नई गति और नई स्फूर्णा दी।

मेरे गुरु पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल ने एक दिन काव्य की परिभाषा के प्रसङ्ग में मम्मट के प्रसिद्ध श्लोक के एक चरण 'शिवेतर क्षतये' की व्याख्या की। कक्षोपरान्त जब मैं कुछ शङ्काएँ लेकर उनसे मिला, तब बात-ही-बात में प्रसङ्गवश भगवती जगदम्बा शिवा का प्रसङ्ग चल पड़ा और उन्होंने मुझे तत्कालीन 'सरस्वती'-सम्पादक प्रातःस्मरणीय पं० **देवीदत्त जी शुक्ल** से मिलने को कहा। यही वह भूमिका है, जब मैं शुक्ल जी के सम्पर्क में आया।

दूसरे ही दिन मैं पण्डित जी के आवास पर गया—प्रातःकाल ९ बजे का समय रहा होगा। सम्भवतः वे पूजा में व्यस्त थे। कुछ समय के पश्चात् वे बाहर आए। सौम्य, स्निग्ध, सरल और सहज शालीनता से मेरा परिचय पूछा और फिर बाहर छोटे बरामदे में मुड्ढे पर बैठकर चर्चा होने लगी। मैंने देखा एक विराट् व्यक्तित्व, जिसके सारल्य के भीतर अमित गाम्भीर्य छिपा पड़ा है; जिसकी सहजता और शालीनता आयु-भेद को तोड़ कर साम्य-बोध से एक सम-वयस्क का आचरण कर रही है—चर्चा हुई थी शक्ति-तत्व और भक्ति-तत्व पर। मैंने नोट लेना चाहा। उनका उत्तर था—

'मन पर उतारो, विचार करो, स्वतः स्मरण रहे।'

प्रथम साक्षात्कार के उपरान्त अभिभूत होकर लौटा—एक दुर्निवार आकर्षण-अयस्कान्त मणि की भाँति ! तुलसीदास की यह पंक्ति मन में गूंज गई 'सूधौ मन, सूधौ वचन, सूधी सब करतूति'—सन्तों के स्वभाव का सूधापन ही उनकी अप्रतिम विशेषता है।

प्रथम साक्षात्कार के अनन्तर मैं पण्डित जी से कई बार मिला। उनसे साहित्य, दर्शन, समाज और 'सरस्वती'-सम्पादन पर चर्चा हुई। एक बार मैंने पूछा—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-कार्य से मुक्त होने पर क्यों 'सरस्वती' ने अपना मार्ग, मत और नीति बदल डाली एवं उन पर अनेक आक्षेप भी होने लगे ?

पण्डित जी केवल मुस्कुरा कर रह गए। बोले—

बीती ताहि बिसार दे ! अतीत मृत है, वर्तमान जीवन—उसे देखो—भविष्य को आँको।

उनके आदेश में दृढ़ता थी। वह केवल औपचारिक उत्तर नहीं था—उसमें जीवन की मान्यता और उसकी प्रतिबद्धता निहित थी। मैंने पाया, योगी व सन्त जहाँ सरल और सहिष्णु होते हैं, वहीं वज्रादपि दृढ़ भी (कठोर कहना उचित नहीं)। पण्डित जी के जीवन की प्रमुखता उनका 'विवेक' था। वे विवेक को ही मनुष्य की सही परख गिनते थे। वे मानते थे कि भारतीय संस्कृति की सारवत्ता भी मानवीय विवेक है, जो हमें नैतिक उच्चता और वैचारिक उत्कृष्टता प्रदान करता है। सङ्कल्प का शिव-मय होना—'शिवेतर क्षतये' का भी मूलाधार यही विवेक है। मैंने उनके सम्पर्क में आकर उनमें विवेक की साक्षात् जीवन्त शक्ति देखी। विवेक सत्-असत् का ज्ञान ही नहीं कराता, वरन् वह व्यक्ति को आत्म-विश्वास व आत्म-बल भी देता है—उचित-अनुचित के निर्णय की शक्ति। जो विकल्प से सङ्कल्प की ओर ले जाता है, वही विवेक 'प्रज्ञा' है।

मुझे आज भी पुण्य-श्लोक शुक्ल जी का बताया हुआ एक श्लोक स्मरण है। उस समय उस श्लोक का तत्त्वार्थ समझ नहीं पाया था। अपने शैक्षिक जीवन में नाम-माहात्म्य का जब कभी प्रसङ्ग आया है, मैंने इस श्लोक की आवृत्ति की है—

अव्यक्तस्य कथं पूजा, व्यापके किं विसर्जनम् ?
अमूर्तत्वात् कथं ध्यानं, नाम-मात्राय शुचिर्भवेत् ॥

जब कभी उनसे मिलने का सुयोग मिला, वे एकाध श्लोक अवश्य सुनाया करते। उनके बताए कई श्लोक आज भी स्मरण हैं, पर उन्हें दोहराना अनावश्यक है। उनके सम्पर्क में आकर ही मेरा शाक्त-भाव उदित हुआ, जिसका पल्लवन आगे चल कर कलकत्ता-आगमन पर, मेरे मन्त्र-गुरु पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती के द्वारा हुआ। रवीन्द्रनाथ की एक कविता है—

"आमरा आरम्भ करि शेष करि ना
आडम्बर करि, काज करि ना
जाहा अनुष्ठान करि ताहा विश्वास करि ना
जाहा विश्वास करि ताहा पालन करि ना
भूरि परिमान वाक्य रचना करिते पारि
तिले परिमान आत्म-त्याग करिते पारि ना
× × ×
आमरा सकल काजेई परेर प्रत्याशा करि
अथच परेर त्रुटि लइया आकाश विदीर्ण करते थाकि।"

इस कविता में उत्तम और अधम मनुष्य की पहचान स्वतः स्पष्ट है। उत्तम

मनुष्य वह है, जिसका व्यक्तित्व अपने अन्तर्बाह्य में एक हो; जिसका ज्ञान मिथ्या अहङ्कार से शून्य, जिसकी प्रज्ञा विवेक और विनय की उच्च-तम भूमि पर स्थिर हो, वही मनुष्य, मनुष्य है; जिसका जीवन औरों के लिए प्रेरणा-स्रोत और प्रकाश-स्तम्भ बन सके; जो ज्ञान और बुद्धि के द्वारा अपने कर्मों से प्रकाश विकीर्ण करे—वही महान् है। उसकी कीर्ति अक्षय है। काल के अवनरत प्रवाह में सब कुछ स्वाहा हो जाता है। 'महा-निर्वाण' कहता है—

'कलनात् सर्व-भूतानां महा-कालः प्रकीर्त्तितः।'

यही महा-काल है—पर इस सर्व-नाशवान् गति में भी कुछ काल-जयी होते हैं, जिनका काल कभी भक्षण नहीं कर सकता। शिव-स्तोत्र में शङ्कराचार्य का कथन है—

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रति-दिनं याति क्षयं यौवनम्।
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद्-भक्षकः॥

जो दिन बीत गए, वे पुनः लौट कर नहीं आएँगे, पर कुछ दिन, कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी हैं, जो सदैव स्मरण रहते हैं—बीत कर भी नहीं बीतते। प्रातःस्मरणीय **देवीदत्त जी शुक्ल** का ऐसा ही व्यक्तित्व था। आज कई दशकों के पश्चात् भी उनका सहज स्मरण होता रहता है। 'महाभारत' के उद्योग-पर्व में विदुर-नीति के प्रसिद्ध श्लोक हैं—

न प्राप्यमभिवांच्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्,
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डित-बुद्धयः।

निश्चत्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः,
अवन्ध्य-कालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते।

आर्य-कर्मणि रज्यन्ते भूति-कर्माणि कुर्वते,
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ !

न हृष्यत्यात्म-सम्माने नावमानेन तप्यते,
गांगो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते॥

स्वर्गीय **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** ऐसे ही पण्डित थे—ऐसे ही योगी—ऐसे ही विरले मनुष्य। उनकी जन्म-शती पर उन्हें मेरे अशेष प्रणाम।

●

शुक्ल जी के साहित्यिक अनुभव : आज भी सार्थक

□ डॉ० प्रभाकर माचवे

स्व० पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी से व्यक्तिगत सम्पर्क कम आया, पर दो पुस्तकें जो उनकी पढ़ीं, उनसे उनकी प्रामाणिकता, स्पष्टवादिता और हिन्दी तथा साहित्य के प्रति उनकी निरपेक्ष, निःस्पृह, निष्पक्ष निष्ठा का प्रमाण मिलता है ।

'कुछ खरी-खरी' में उन्हीं के शब्दों में—'मैंने अपने उन सब लेखों को पहले पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया, जिनमें मैंने कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध में अपने अत्यधिक स्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं ।' इन बाईस लेखों में जिनके शीर्षकों में 'हिन्दी' का नाम आया है, वे निम्न लेख हैं—

१. हिन्दी-प्रचार के कुछ बाधक कारण, २. हिन्दी के साप्ताहिक, ३. हिन्दी में धींगा-धींगी, ४. हिन्दी पर सङ्कट, ५. हिन्दी-पुस्तकों की खोज, ६. महात्मा गाँधी और हिन्दी, ७. हिन्दी दैनिक, ८ हिन्दी की मासिक पत्र-पत्रिकाएँ ।

१९१६ से १९३८ तक बिखरे हुए लेखों का यह सङ्कलन है । इनसे पता चलता है, शुक्ल जी को मुख्य चिन्ता हिन्दी-भाषा के गौरव और उसके साहित्य की अभिवृद्धि की है । शेष सब बातें गौण हैं । फिर इस प्रमुख चिन्ता की राह में बड़े-से-बड़ा नाम भी उनके लिए अर्थ नहीं रखता—चाहे महात्मा गाँधी हों, या कोई धन-कुबेर; बनारसीदास चौबे हों या मिश्र-बन्धु । वे सबको 'खरी-खरी' सुनाते हैं । कुछ उदाहरण देखिए, जिनमें उनके विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त हुए हैं और आज भी अर्थ-पूर्ण हैं—

१. हमारा यह मतलब नहीं कि सम्पादक लोग गम्भीर विषयों का समावेश अपने पत्रों में किया करें । और न हमारा यह उद्देश्य है कि कोई सम्पादक अलमस्त योगी बनकर स्वर्गीय गान का अलाप न करे । हमारा तो विनम्र निवेदन यही है कि जहाँ आप मौज में आकर अफरीका के जङ्गलियों के सम्बन्ध की सूक्तियाँ सुनाया करते हैं अथवा अपने पाठकों को प्रसन्न करने के लिए उत्तरी ध्रुव की सैर के वर्णन किया करते हैं, वहाँ कभी-कभी अपने देश की पतित जातियों और निरीह देहातियों पर भी करुण दृष्टि फेर दिया करें । (पृ० ५)—१९१७ का लेख ।

२. ऐसी आलोचनाओं के होने से हिन्दी के कई चोटी के लेखकों ने हिन्दी में लिखना छोड़ दिया है और वे उससे उदासीन हो गए हैं । यही नहीं, उनमें से कई ने दूसरे धन्धे उठा लिए हैं—परचून की दुकान तक खोल ली है ! (पृ० २५-२६)—१९३५ का लेख ['अश्क' ने उसी इलाहाबाद में परचून की दुकान पचास साल बाद खोली, जब कि उनका अपना प्रकाशन-व्यवसाय भी था ।]

३. अब रहे कलकत्ते के पत्र । इनमें 'विश्वमित्र' का अधिक प्रचार है और

यद्यपि 'लोक-मान्य' उसके पीछे नहीं रहना चाहता तथापि वह उसके बराबर कभी नहीं पहुँच सका है। ये दोनों दैनिक कलकत्ते के ही दैनिक हो सके हैं—बाहर जनता में इनकी वैसी पैठ नहीं हो सकी। इसके सञ्चालकों ने उधर ध्यान भी नहीं दिया है। उन्हें जनता की जरूरत भी कदाचित् नहीं है। वे कलकत्ते से ही अपना मतलब पूरा कर लेते हैं।....परन्तु हिन्दी के दैनिक जिस बँधे ढर्रे पर इस समय निकल रहे हैं, उससे उनका देश-व्यापी प्रचार नहीं हो सकेगा। उनका ढर्रा यह है कि वे समाचार भेजनेवाली एजेंसियों से या अंग्रेजी समाचार-पत्रों से ताजा समाचार लेकर छापते और मनोयोगपूर्वक अपने विचार-पूर्ण सम्पादकीय लिखते हैं।....इसी अनुकरण-दोष से वे पनप नहीं पाते।....हिन्दी के दैनिकों का व्यापक प्रचार न हो सकने का मुख्य कारण उनके सञ्चालकों की यह अज्ञानता ही है और जब तक वे अपने पाठक-समुदाय की क्षमता तथा उसकी रुचि का ध्यान रखकर काम नहीं करेंगे, तब तक उनके पत्रों की यही दशा बनी रहेगी। (पृ० ४६-४७—आज भी ये बातें सौ प्रतिशत सत्य हैं, लेख १९३५ का है)।

४. लोग कदाचित् यह जानकर भी भुला देना चाहते हैं कि हिन्दी का वह युग बीत गया, जब लोग दूसरों की आँखों से देखते थे। आज लोग इतना जानकार हो गए हैं कि वे सत् और असत् का भेद जान सकें। अतएव वे जानते हैं कि कौन साहित्यिक कितने पानी का है। ऐसी दशा में कोई व्यक्ति आन्दोलन द्वारा अपनी प्रतिभा या क्षमता की धाक जमाने का यत्न करेगा, तो उसके दावे की जाँच-पड़ताल करने से लोग कैसे विमुख होंगे। (पृ० ६८)

५. अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रदान की जो लीला अभी तक देखने में आई है, उससे तो यही प्रकट हुआ है कि जिनको उक्त ग्रन्थ अर्पित हुए हैं, उनका सम्मान तो नहीं, घोर अपमान अवश्य किया गया है।....उन अभिनन्दन-ग्रन्थों के प्रदान के सम्मान का क्या मूल्य हो सकता है, जिनके देने का प्रश्न केवल पानेवालों के कुछ घनिष्ठ प्रेमियों या भक्तों की ओर से उठाया गया हो?....हम यहाँ तक कहने का दुस्साहस करते हैं कि अभिनन्दन-ग्रन्थों को हिन्दीवालों ने तमाशा बना लिया है।....ऐसा कोई प्रस्ताव जब तक सार्वजनिक समर्थन नहीं पाता है और जब तक उसका आयोजन किसी संस्था-विशेष द्वारा नहीं होता है, तब तक उसका कोई मूल्य नहीं। (पृ० ८४-८६—यह बात आज तक उतनी ही प्रसङ्गोचित है)।

'सम्पादक के पचीस वर्ष' कल्याण-मन्दिर प्रयाग से 'साहित्यिक पुस्तक-माला' में १९५६ में प्रकाशित पुस्तक है। इसे उनकी 'साहित्यिक आत्म-कथा' भी कहा गया है। यह पूरे पचास वर्ष का आलेख है, बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में एक लेखक-सम्पादक के संघर्ष और प्रगाढ़ अविचलित हिन्दी-प्रेम की गाथा है। इसमें कई मनोरञ्जक जानकारियाँ मिलती हैं। साथ ही साहित्य के छात्र के लिए बड़ी उपयोगी सामग्री भी है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी को ५० रुपये मासिक पर इण्डियन प्रेस में नौकरी दिलवाई १९१९ में। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय १९१९ से १९४५ तक की

गतिविधियों के हैं—किन-किन लेखकों ने विशेष रूप से 'सरस्वती' के लिए लिखा, कैसी-कैसी साहित्यिक चर्चाएँ और विवादात्मक घटनाएँ हुईं; अन्य पत्र-पत्रिकाओं की क्या दशा-दुर्दशा थी, साहित्यिकों को आपस में कैसी नोंक-झोंक चलती थी, कई बार स्वयं सम्पादक को ही कैसे लेख और टिप्पणियाँ लिखनी पड़ती थीं, अमृतलाल चक्रवर्ती की ग्राहक जमा करने के लिए पद्य-बद्ध अपील 'विनम्र निवेदन', 'रीडरबाज' (पाठ्य पुस्तकें लिखनेवाले) कुँजीवादी लेखकों की निन्दा, कई नए-नए लेखकों को आगे लाने का प्रयत्न—यह सब बड़े ही मनोयोग से लिखा गया है। उदाहरणार्थ नेहरूजी का प्रथम स्वयं हिन्दी में लिखा लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित करने का श्रेय शुक्ल जी को है (पृ० ७६)। राहुल सांकृत्यायन, पं० सुन्दरलाल, पन्त, निराला, महादेवी, 'मिलिन्द', मोहनलाल महतो, 'अश्क', ऋषभचरण जैन, जैनन्द्रकुमार, अज्ञेय आदि की प्रथम रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित की गईं। सन्तराम बी० ए०, सम्पूर्णानन्द, काका कालेलकर, लीलावती मुंशी, कमलाबाई किबे, दिल्लीरमण रेग्मी (नेपाली), चन्द्रबली पाण्डेय, मुन्शी महेशप्रसाद आलिम फाजिल आदि कौन नहीं थे, जो 'सरस्वती' में नहीं लिखते थे! पर सम्पादक शुक्ल जी आस-पास के सामाजिक-राजनैतिक वातावरण से बेखबर नहीं थे।

अप्रैल १६३६ की 'सरस्वती' में शुक्लजी का नोट 'क्या यही स्वराज्य है?' आज भी ४८ वर्ष बाद कितना सही है—

'जहाँ तक दिखाई देता है, 'स्वराज्य' की कौन कहे, 'सुराज्य' भी अभी तक अस्तित्व में नहीं आ सका है। यही नहीं, हालत तो और भी खराब होती जा रही है, जिससे सुख-शान्ति का लोप-सा हो गया है। वही लूट-मार, वही चोरी-चाण्डाली, वही त्रास और प्रतारणा ज्यों-की-त्यों बनी ही नहीं है, किन्तु उनके अतिरिक्त और नये सङ्कट उठ खड़े हुए हैं। ....दङ्गों ने वर्ष के सभी त्योहारों के खुशी के दिनों को गम के दिनों में परिणत कर दिया है। जमीदारों और किसानों में भारी संघर्ष छिड़ा हुआ है। अछूत और सवर्ण एक होने के बजाय अलग होने को छटपटा रहे हैं। उधर दरिद्रता की वृद्धि में ह्रास का चिह्न तक नहीं है। इस अवस्था को स्वराज्य का राज्य कहना उस पवित्र शब्द का उपहास करना होगा।

"ऐसा क्यों है? इसलिए कि स्वराज्य-सरकार, प्रजातन्त्रात्मक सरकार है। इसके सिवा पहले की नौकर-शाही है। सङ्गठन के भीतर रहकर ही उसे अपना काम-काज करना पड़ता है। और अंगरेजी नौकरशाही दफ्तरी काम-काज में अपना सानी नहीं रखती। उसकी फाइल-बाजी जगत्-प्रसिद्ध है। हमारे लोक-नेता सरकार के घर पहुँच कर उसी फाइल-बाजी के जाल में फँस गए हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि नौकरशाही का बोलबाला है।....

"कांग्रेस देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था थी। परन्तु प्रजातान्त्रिक रूप रखते हुए भी उसका सारा सञ्चालन कुछ विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा ही

सदा होता रहा।...यह भले प्रकार स्पष्ट हो गया है कि कांग्रेस के क्षेत्र में भी नेता-शाही का जोर है और वहाँ अब प्रजातन्त्रवाद को उतना महत्व नहीं दिया जाता है। चोटी के १०-१२ नेता आपस में जो कुछ तय कर लेते हैं, उसी का कांग्रेस को बाध्य होकर समर्थन करना पड़ता है। इसका एक भयानक परिणाम यह हुआ है कि कांग्रेस के बहुतेरे नौजवान नेताओं तथा कार्य-कर्ताओं में असन्तोष का भाव घर कर गया है।" (पृष्ठ ९९-१००)

ये बातें कांग्रेस की अर्ध-शताब्दी के समय लिखी गई हैं, जब सुभाष बाबू उससे अलग हुए थे। आज आधी सदी और बीत गई। 'स्वराज्य' भी आ गया। पर स्थितियों में बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं आ पाया है। शुक्ल जी के विचार आज उतने ही सटीक हैं, जैसे पहले थे।

पृष्ठ ११५ पर 'हिन्दी पर सङ्कट' के ये वाक्य देखिये—

"हिन्दी के सङ्कट का कोई ठिकाना नहीं। और ठिकाना भी कैसे हो! जब वह अपने जन्म-स्थान में ही अपने नैसर्गिक स्वरूप से वञ्चित है, तब उसे दूसरी जगह बैठने का स्थान कैसे मिल सकता है, भले ही उसके चाहनेवाले उसकी चाह किया करें और भले ही उनकी वह चाह न्याय-पूर्ण तथा परम आवश्यक क्यों न हो? सिन्ध के प्रधान मन्त्री श्री अलाबख्श की सरकार ने आज हिन्दी का यह कहकर बहिष्कार कर दिया है कि उसके सिन्ध में स्थान देने के लिए सरकार के पास पैसा नहीं है, यद्यपि गुजराती, मराठी, उर्दू को वहाँ पनपने देने के लिए पैसा है। जब एक लोक-प्रिय प्रधान मन्त्री की सरकार का यह हाल है, तब यदि पंजाब की यूनियनिष्ट सरकार हिन्दी को अपने यहाँ ठहरने न दे, तो क्या बेजा है? इसी जून के पिछले सप्ताह में लाहौर की म्यूनिसिपेल्टी के शिक्षा-विभाग ने दो सज्जनों पर इसलिए मुकदमा चला दिया है कि उनमें से एक ने अपने लड़के को हिन्दी और दूसरे ने अपने लड़के को गुरमुखी पढ़ने के लिए प्राइवेट स्कूलों में भर्ती कराया था! लाहौर में लोग अपने बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा दिलाने के लिए कानून के अनुसार सरकार द्वारा स्वीकृत स्कूलों में ही भर्ती करा सकते हैं।'

यह लेख अगस्त १९४१ का है। हम देख सकते हैं कि भाषा-विवाद के बीज हमारे देश में कितने पुराने हैं। भाषावार प्रान्त-रचना तो '५६ से '६० के बाद की बात है।

नमूने के लिए एक और प्रसङ्ग शुक्ल जी की उदारता का, राहुल जी के 'सरस्वती'-प्रेस में जाने और उनका प्रथम लेख छापने का दूँगा। यह प्रसङ्ग इस पुस्तक में पृष्ठ ५२-५३ पर है, और प्रसङ्ग १९२९ का है—

"श्री दामोदर (होना चाहिए था रामोदार) सांकृत्यायन भिक्षु ने 'लंका के लोग और भिक्षु' शीर्षक एक लेख लिखा था, जिसे मैंने २९ की 'सर-

स्वती' में छापा था। लंका से लौटने पर वे प्रयाग पधारे और इण्डियन प्रेस में आकर मुझे दर्शन दिया। कदाचित् उन्हें 'सरस्वती' का वह अंक नहीं मिला था, जिसमें उनका वह लेख छपा था। इसकी उन्होंने शिकायत की। तुरन्त मैंने वह अंक लाकर उन्हें दिया। बात-चीत के सिलसिले में मुझे भासित हो गया कि सांकृत्यायन जी विज्ञ पुरुष हैं और वे हिन्दी में बौद्ध साहित्य का प्रणयन करने के लिए विशेष रूप से उत्सुक हैं। यह भी ज्ञात हुआ कि वे इसी प्रदेश के निवासी हैं, परन्तु कहाँ के निवासी हैं और वे कौन हैं, यह उन्होंने प्रकट नहीं किया। 'सरस्वती' में बराबर लिखने का उन्होंने वचन भी दिया। बाद में वे महा-पण्डित राहुल सांकृत्यायन नाम से प्रसिद्ध हुए।"

शुक्ल जी के सभी लेखों का और अब दुर्लभ रचनाओं का पुनर्मुद्रण होना चाहिए। मुझे तो बहुत आश्चर्य हुआ, जब मैंने जाना कि मुझ जैसे नाचीज का भी नामोल्लेख पृष्ठ १३८ पर यों है—

"इस वर्ष (यानी १६४३) 'सरस्वती' में पं० चन्द्रदेव विद्यालङ्कार, पं० ई० वी० राम शर्मा, श्री राम इकबाल सिंह 'राकेश', श्री अनन्तप्रसाद विद्यार्थी, पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री, प्रो० प्रभाकर माचवे एम० ए०, श्री सुधामयी देवी, श्री सी० बी० राय, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० बलदेवप्रसाद मिश्र आदि लेखकों, कवियों, कथाकारों की महत्वपूर्ण रचनाएँ छापने को मिलीं।"

●

'दिमाग़ी गुलामी', लेखक श्री राहुल सांकृत्यायन : 'हमारे देश में रूढ़िवाद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन चल रहा है। लेखक महोदय ने उसके नेता की हैसियत से अपने तद्-विषयक विचार बड़ी निर्भीकता, युक्ति-मत्ता और अधिकार-पूर्वक प्रदर्शित किए हैं....पर कहीं-कहीं शैली आवश्यकता से अधिक तीखी हो गई है, जिसकी आशा इतने गम्भीर लेखक से नहीं थी....।'

—'सरस्वती', जनवरी १६३६, नई पुस्तकें, पृष्ठ ८६

निष्ठा के प्रतीक : स्व० देवीदत्त शुक्ल

□ डा० गिरिजाशङ्कर त्रिवेदी

धुँधली स्मृतियों के झरोखों में झाँकता हूँ, तो याद आता है कि बचपन में अपने गाँव खेमानखेड़ा (पोस्ट : दौलतपुर, रायबरेली) से बड़े-बूढ़ों के साथ किसी त्योहार पर गङ्गा स्नान करने और माँ चण्डिकाजी देवी के दर्शन करने ३ मील पैदल चलकर बक्सर (जिला : उन्नाव) जाया करता था, तो किसी ने एक बार कहा था कि सुप्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक **पं० देवीदत्त शुक्ल** इसी गाँव (बक्सर) में रहते हैं।

मैं मिडिल स्कूल का विद्यार्थी था। पर पढ़ने-लिखने में रुचि थी, तभी तपाक से बोल उठा—'उसके सम्पादक तो अपने दौलतपुर के महावीर बाबा थे।' मेरी नादानी पर मुस्कराते हुए एक सम्भ्रान्त सज्जन ने समझाया कि 'थे, पर अब नहीं हैं।'

फिर मन-ही-मन निश्चय कर लिया था कि कभी उन्हें प्रणाम करने उनके घर जरूर जाऊँगा।

पर वाह री बम्बई! इतनी दूर आ गया और उनके जीवन-काल में जब भी गाँव गया—आपा-धापी में गया। उनके दर्शनों से वञ्चित रह गया और २० मई १९७१ को उनका वैकुण्ठ-वास हो गया।

आज जब मैं स्वयं 'नवनीत हिन्दी डाइजेस्ट' का सम्पादक हूँ, तो सोचता हूँ कि यदि उनसे मिलकर उनके जीवन के अनुभव सुनने-समझने का अवसर मिल पाता, तो कितना लाभान्वित हो सकता था।

फिर भी सन्तोष है कि एक भाई श्री व्रतशील शर्मा की कृपा से इसी २५ मार्च की लखनऊ-यात्रा में उनकी पुस्तक 'सम्पादक के २५ वर्ष' मेरे हाथ लग गई और जीवन भर खटकनेवाली वह अवसर चूक जानेवाली कमी कुछ तो दूर हो सकी।

पं० देवीदत्त शुक्ल ने अपनी उक्त पुस्तक में सम्पादकीय अनुभवों का जो स्पष्ट लेखा-जोखा किया है, उसी से उनके स्वच्छ और निष्कपट, साधुता-भरे जीवन का अनुभव सहज ही हो जाता है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' से मुक्त होने के बाद उसके सम्पादक पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी हुए थे और **पं० देवीदत्त शुक्ल** द्विवेदी जी की प्रेरणा से 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक बने थे। कुछ समय बाद जब बख्शी जी ने 'सरस्वती' छोड़ दी, तो शुक्लजी ने पूरा दायित्व संभाला और पत्रिका को इतना निखारा कि लोग आचार्य द्विवेदी के दिन याद करने लगे।

स्वभाव से सन्तोषी, परम भक्त, लगनशील, कर्तव्य के प्रति सजग और धुन के पक्के शुक्लजी ने हिन्दी-जगत् की पत्रिकाओं में 'सरस्वती' की पहचान को अलग से बनाये रखा।

सम्पादक बनने के पूर्व उन्होंने प्रेस तक नहीं देखा था, पर 'बालसखा' को सँभालते हुए उन्होंने पूरी तरह वे सारे गुण अपने में आत्म-सात् कर लिए, जो एक उच्चकोटि के सम्पादक में होने चाहिये।

वे सन् १९२१ से १९४६ तक सफलतापूर्वक सरस्वती का सम्पादन करते रहे। उन्होंने 'सम्पादक के पचीस वर्ष' के अलावा 'कुछ खरी-खरी', 'अवध के गदर का इतिहास', 'स्वाधीनता के पुजारी', 'क्रान्तिकारी', 'एक आत्म-कथा', 'जापान का हाल', 'कालरात्रि', 'एकादशी', 'पकौड़ीवाली', 'बालकविता माला', 'द्विवेदी कविता-माला' आदि रचनाएँ लिखकर हिन्दी-साहित्य के भण्डार को भरा है। उनकी कई कृतियाँ तो अभी प्रकाशित होनी भी हैं।

स्व० शुक्लजी ने जिस निःस्पृह भाव से हिन्दी की सेवा की, उसे हिन्दी-जगत् अभी तक मूल्याङ्कित नहीं कर पाया है। आचार्य द्विवेदी की तरह ही शुक्लजी भी भाषा की सरलता, शुद्धता और उसकी व्यावहारिकता के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे।

रचनाकार प्रायः भाषा की शुद्धता पर ध्यान नहीं देते थे। कई बार तो वे टंकित रचनाओं को पढ़ते तक नहीं थे। गलत छपने पर प्रेस को उत्तरदायी ठहराते थे। शुक्लजी प्रेस-कापी की शुद्धता पर विशेष जोर दिया करते थे। उनका कहना था कि रचनाकार अपने विषय का ज्ञाता तो हो सकता है, पर भाषा की शुद्धता उसकी समझ से बाहर की बात होती है। यह काम सम्पादक को बखूबी करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना उसका दायित्व है।

मैं स्व० शुक्लजी के प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करता हूँ और 'सम्पादक की वाणी' तथा उनकी जन्म-शती पर 'ग्रन्थमाला' प्रकाशित करने का दायित्व जो लोग उठा रहे हैं, उन्हें हार्दिक साधुवाद देता हूँ। उनका यह कार्य हिन्दी-जगत् के लिए बहुत महत्वपूर्ण होगा।

•

'....आवश्यकता है कि राष्ट्रीय भावना अधिक विकसित की जाय। इसके लिए हम एक महत्त्व के साधन का यहाँ उल्लेख करते हैं। वह है देश के प्राचीन ऐतिहासिक चिह्नों तथा व्यक्तियों के महत्त्व की ओर लोगों को आकृष्ट करना....।'

—'सरस्वती', जनवरी १९३९, सम्पादकीय नोट, पृष्ठ १२२

परम पूज्य गुरुवर : शुक्ल जी महाराज

□ कैप्टेन श्री शूरवीर सिंह

परम पूज्य गुरुवर **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** जी महाराज का वरद हस्त मेरे ऊपर सदैव विराजमान रहा। यह मेरा परम सौभाग्य है कि सन् १९६३-६४ में उनके चरण-कमलों में प्रणाम कर मैं धन्य हो गया। तब से मैं गुरुदेव से मार्ग-दर्शन प्राप्त करता हुआ महत्त्वपूर्ण शोध-कार्यों में आगे बढ़ता ही गया। जब कभी अवसर पाता था, गुरुदेव के चरणों में उपस्थित होकर आगे के लिए प्रोत्साहन तथा दिशा-निर्देश भी प्राप्त करता रहता था। गुरुदेव द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' पत्रिका के सन् १९२७ से आगे १२ वर्ष तक की कुछ प्रतियाँ मेरे पास सुरक्षित हैं, जिनका दर्शन मैं समय-समय पर करता ही रहता हूँ।

बकसर (उन्नाव—उ० प्र०) में स्वतन्त्रता-संग्राम के अमर सेनानी शहीद राव रामबक्श सिंह के स्मारक की स्थापना गुरुदेव के ही आशीर्वाद एवं निर्देशन का फल है। मेरे हृदय-पटल पर गुरुदेव के चरणों की अमिट छाप निरन्तर विद्यमान है। सन् १९८२ में सौभाग्यवश मैं आपने भानजे मेजर जनरल कुँवर एल० के० सिंह के पास गया था, उस समय पुण्य-स्थली अलोपीबाग भी पूज्य पं० रमादत्त शुक्ल के दर्शन करने गया था। पण्डित जी के पास बैठकर पुरानी स्मृतियाँ उजागर हो गईं। स्नेह-पूर्वक पण्डित जी ने अपना आशीर्वाद दिया तथा 'चण्डी' की कुछ प्रतियाँ भी दीं। साथ में परम पूज्य गुरुदेव का फोटो चित्र भी वहाँ से मिला। सुबह उठते ही मैं सर्व-प्रथम इस चित्र को प्रणाम कर अपने को भाग्य-शाली मानता हूँ।

यह जानकर बहुत ही हर्ष हुआ कि परम पूज्य गुरुदेव का स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित होनेवाला है। इस सम्बन्ध में गुरुदेव द्वारा १२-९-१९५५ को लिखित कृपा-पत्र को यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ, जिससे स्पष्ट है कि साहित्य-सेवा के लिए गुरुदेव किस प्रकार ठोस मार्ग-दर्शन किया करते थे—

सा/१९१/५५

कल्याण मन्दिर, कटरा
प्रयाग-२*
१२-९-५५

आदरणीय कप्तान साहब,

जगदम्बा आपका कल्याण करें। आपका कृपा-पत्र मिला। उससे आपका पूर्ण परिचय भी प्राप्त हुआ। आप एक प्रतिष्ठित राज-वंश के नर-रत्न हैं, यह जानकर हृदय को विशेष आनन्द प्राप्त हुआ। मुझे आश्चर्य

---

* सम्प्रति : कल्याण मन्दिर प्रकाशन, अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—२११००६

हुआ था कि फतेहपुर जैसे एक पिछड़े हुए जिले के ये नियोजन अधिकारी कहाँ से आ गए, जिन्होंने उसे कुछ ही दिनों के भीतर प्रान्त में अगली पंक्ति में लाकर बिठा दिया !

अब आपके इस पत्र से मालूम हुआ कि वास्तविक बात क्या है। आप धन्य हैं। आप में परम्परागत संस्कृति और देश के प्रति विशेष अनुराग विद्यमान है। यही कारण है कि आप अपने विशेष कार्य-भार के साथ-साथ फतेहपुर जिले के निवासियों को उनकी संस्कृति और उनके गौरव-पूर्ण इतिहास की ओर इस प्रकार उद्बोधित करने का पुण्य कार्य कर रहे हैं।

इस कृपा-पत्र के पहले मुझे लक्षदास की रचना का कुछ अंश भी पढ़ने को आपने भेजने की कृपा की थी। उसे मैंने बड़ी उत्सुकता से पढ़वाकर सुना। रचना प्रौढ़ और अलंकृत है। परन्तु मानस में जो प्रसाद-गुण है, वह उसमें उतना नहीं जान पड़ता। संभव है, पूरी रचना के पढ़ने से उसकी यह विशेषता भी प्रकट हो। 'सरस्वती' में आप इनके सम्बन्ध में लेख लिख रहे हैं, यह और भी प्रसन्नता की बात है। लक्षदास की तरह ललकदास हलवाई की रचना भी दुर्लभ रही है। अब यह देखना है कि इन प्राचीन कवियों की रचनाओं में कितनी मौलिकता है, तथा उनके प्रणेता किस कोटि के कवि हैं। यह बात तो तभी ज्ञात होगी, जब धीरे-धीरे लोग इनका अध्ययन करेंगे।

मैंने देखा है कि पुराने कवियों की रचनाएँ खोजी जाती हैं, इकट्ठा भी की जाती हैं परन्तु उनको कोई पढ़ता नहीं है। आज के हिन्दी साहित्यकारों की ऐसी ही प्रवृत्ति है! मैंने एक प्राचीन सन्त कवि की बहुत बड़ी रचना साहित्य-सम्मेलन को दिलवा दी थी। उन सन्त जी का हिन्दी के इतिहास में कहीं भी उल्लेख नहीं है परन्तु वह रचना आज भी सम्मेलन के पुस्तकालय में रखी हुई है। किसी ने उस पर दृष्टि-पात तक नहीं किया ! मैंने बहुत चाहा कि कोई उस पर लिखे परन्तु किसी ने ध्यान तक नहीं दिया।

यदि आप अपनी खोज में प्राप्त प्राचीन कृतियों के सम्बन्ध में छोटे-छोटे परिचयात्मक लेख छपवाते रहेंगे, तो इससे उन रचनाओं का महत्व लोगों को ज्ञात रहेगा और कदाचित् कोई साहित्यिक मनोवृत्ति का व्यक्ति उन रचनाओं को पढ़कर उन पर निबन्ध आदि भी लिखकर उनके सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डाले। आप जिस सत्कार्य में लगे हैं, मुझे विश्वास है कि आपको उसमें बहुत बड़ी सफलता मिलेगी और फतेहपुर के कितने ही मरे हुए कवियों का पुनर्जीवन हो जायगा।

आप प्रयागराज पधार रहे हैं, यह जानकर बड़ी खुशी हुई। यदि आप अपने आने की तिथि तथा ठहरने के स्थान की सूचना पहले ही से दे देने की कृपा करेंगे, तो यह मेरे लिए बड़े सुभीते की बात होगी। मैं आसानी

से आपके स्थान पर उपस्थित होकर आपके दर्शन कर सकूँगा। उस समय यदि समय मिला, तो फतेहपुर के सम्बन्ध में और भी बातचीत करूँगा। मैं फतेहपुर जिले से विशेष परिचित तो नहीं हूँ, परन्तु उन्नाव जिले का निवासी होने के कारण वहाँ का थोड़ा बहुत हाल जानता हूँ। गुनीर के उस पार गंगाजी के तट पर मेरा जन्म-स्थान बक्सर ग्राम स्थित है। यह गाँव बैसों के प्रसिद्ध राजा तिलोकचन्द की राजधानी रहा है। यहाँ रहने के कारण फतेहपुर की थोड़ी-बहुत जानकारी होती रही है। इसी से मैं आपको लक्षदास के सम्बन्ध में उपयुक्त सूचना दे सका।

आशा है, आप आनन्द-पूर्वक हैं।

विनीत

देवीदत्त शुक्ल

इसी प्रकार के अनेक कृपा-पत्र गुरुदेव द्वारा लिखित मेरे पास सुरक्षित हैं और उनके कितने ही उद्बोधक संस्मरण हैं। अस्वस्थता के कारण मैं वह सब लिख भेजने में सक्षम नहीं हूँ, इसका हार्दिक खेद है। लिखने-पढ़ने में बड़ी कठिनाई होती है, यह सब अपने एक सम्बन्धी के हाथों लिखवाकर भेज रहा हूँ, जिससे परम पूज्य गुरुदेव के स्मृति-ग्रन्थ में श्रद्धाञ्जलि-स्वरूप इसका भी समावेश हो सके। गुरुदेव पूज्य शुक्ल जी महाराज की पुण्य-स्मृति को शतशः नमन !

●

ओ, हिन्दी के तुम पुण्य प्राण, इस भू-मण्डल के मधुर गान !
तुमने उस पल्लव को सींचा, जब सोते थे सब नर अनजान !!

—'सरस्वती', फरवरी १६३६, पृष्ठ १६२

विनय-शील वामोपासक : पं० देवीदत्त शुक्ल

☐ डा० जगदीश गुप्त

सामाजिक संतुलन की दृष्टि से आज वाम-मार्ग राजनीति में जैसा अर्थ-पूर्ण लगता है, धर्म के क्षेत्र में मध्य-काल में भी वह उससे अधिक अर्थपूर्ण था। जैन, बौद्ध और ब्राह्मण-वर्ग में मुक्ति-कामी जीवन-दृष्टि से, साधकों को सांसारिकता की ओर जाने से रोकने के लिए, प्रतीक रूप में 'नारी-निन्दा' की प्रवृत्ति लोक-व्यापी हो गई थी, फलतः संस्कृति और साहित्य दोनों एकांगी हो गए। इह-लौकिकता पर-लोकोन्मुखता के आगे परास्त हो गई, यहाँ तक कि 'नारी' अभिशाप के रूप में अवांछित और अग्राह्य समझी जाने लगी। ऐसे में तान्त्रिक जीवन-दृष्टि ने 'नारी' को ही सर्वोच्च स्थान देकर मातृ-रूप में उसे इतना सम्पूज्य बना दिया कि 'नारी'-निन्दा स्वयं अपराध लगने लगी। एक बड़े सांस्कृतिक परिवर्तन के बाद आधुनिक युग में भारतेन्दु यह कहने का साहस कर सके—नारि नर-सम होहिं।

भारतवर्ष में आज भी यह स्थिति जीवन में स्थापित नहीं हो सकी। उसके लिए लम्बा संघर्ष चाहिए। वाम-मार्ग हमें उसकी ओर ले जाने में असाधारण शक्ति देता है। उसकी मान्यता है कि "साधक-शरीर ही विश्व है, और उसमें जो आत्म-शक्ति स्थित है, वही उसका आराध्य देव है।" "कौल-कल्पतरु" **पं० देवीदत्त शुक्ल** की यही मान्यता उनके 'वाम-मार्ग' के मुख-पृष्ठ पर अङ्कित है।

शुक्ल जी द्वारा प्रवर्तित और निर्देशित 'चण्डी' के अङ्कों में तान्त्रिक साधना की प्राचीनता और उपादेयता के अनेक आयाम उद्घाटित हुए हैं। दुर्गा-सप्तशती प्रेरक रूप में उसकी ही नहीं, समस्त भारत के सिद्ध-पीठों में जीवित-जागृत मान्यता रखती है।

आज विज्ञान शक्ति को नये रूपों में उपास्य बना रहा है। मनुष्यता शक्ति को साधन बनाने में संलग्न है परन्तु उसका साध्य रूप चिन्मयता के साथ भारतीय दर्शन में युगों पूर्व प्रतिष्ठापित हो चुका है। आवश्यकता इस बात की है कि शक्ति को जड़ न मान कर उसके चेतन और मानवीय रूप को लोक-मङ्गल की दृष्टि से जन-जन में व्याप्त किया जाय। आत्म-शुद्धि के साथ भूत-शुद्धि की भावना प्रदूषण का परिहार करने में आज भी सहायक हो सकती है। शिव-पार्वती के सम्वाद के रूप में मनुष्य के प्रति प्रगाढ़ कल्याण-कामना आगम साहित्य को निगम से कम सिद्ध नहीं करती। वैदिक और वेदेतर समस्त मत-मतान्तरों का सार आधुनिक युग में आत्म-बल तथा नैतिक उत्थान की ओर ले जाए तो शुभ होगा। त्रिपुर-सुन्दरी के रूप में विश्व-व्याप्त सौन्दर्य-भाव निरन्तर मङ्गलकारी हो, यही अभीष्ट है।

'सम्पादक के पचीस वर्ष' तथा कुछ 'खरी-खरी' को आद्यन्त पढ़ने के बाद मेरे

मन में कृतार्थता का जो भाव आया, वह मुझे शब्दातीत लगता है। काव्य-गुरु श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी की अजस्र कृपा का लाभ जिसने पाया हो, उनका सहकर्मी तथा उत्तराधिकारी होकर जिसने 'सरस्वती' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका का, प्रायः उनकी नीतियों के अनुसार, दशकों तक सम्पादन किया हो, समय-समय पर साहस-पूर्ण ढँग से सत्य का पक्ष लेकर विरोधियों को मुँह-तोड़ जवाब दिया हो तथा अन्त तक अपने विचारों में दृढ़ रहा हो, वह जानकारों की दृष्टि में अवश्य वन्दनीय है। लेखों में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से पहचाना जाता है, भले ही उन्होंने अपनी लेखनी को 'गुमनाम' रक्खा हो।

एक बात अवश्य मुझे असाधारण लगी और यह कि ऐसा क्या हुआ कि आजीवन शाक्त-वृत्ति रखनेवाला वैष्णव-भाव से अभिभूत होकर 'क्षमा-याचना' की मुद्रा में पश्चात्ताप की वाणी बोलने लगे। 'उनका स्वर शिष्टजनानुमोदित नहीं हो सकता', 'मेरा हृदय उनके लिए अत्यधिक दुःखी हो रहा है', 'मैंने इन लेखों में अनुचित तथा अशिष्ट भाषा का प्रयोग किया है' और 'इस स्वीकारोक्ति से मेरे कृत अपराधों का प्रायश्चित्त हो जायेगा'—जैसे उद्‌गार शब्द-शब्द को व्यथा-सिक्त करते हुए पढ़नेवाले को यह सोचने के लिए बाध्य करते हैं कि वे वर्षों तक ऐसा भाव मन में क्यों लिए रहे ? लगता है, आक्रामक मुद्रा में लिखे गए अधिकांश लेख गुरु-जनों के प्रति अवज्ञा करते हुए तारुण्य के अतिशय उत्साह में लिखे गए थे और वार्धक्य के कठिन अनुभव ने उन्हें पुनर्विचार के लिए प्रेरित किया। उनके भीतर का मनुष्य निष्कलुष होकर चैन की साँस लेना चाहता था। अपने मानसिक भार को उतार फेंकना बहुत कठिन होता है, विशेषतः ऐसे व्यक्ति के लिए, जो दायित्व के साथ काम करने का अभ्यासी रहा हो। उनके भीतर का अन्तर्द्वन्द्व इस प्रकार प्रकट होगा, यह मैंने कभी नहीं सोचा था। दोनों परिस्थितियों को मात्र भावुकता कहना मेरे लिए सम्भव नहीं है क्योंकि मैंने उनके लेखों में सत्य के प्रति उनकी निष्ठा की प्रतीति की है। मैं यही कह सकता हूँ कि उनका शील सत्य के ऊपर उठ गया। इस संदर्भ में मुझे तीन प्रसङ्ग याद आते हैं। एक पद्मसिंह शर्मा का, दूसरा मैथिलीशरण गुप्त का और तीसरा है मिश्र-बन्धुओं का, जिसमें हिन्दुस्तानी एकेडमी भी लपेट में आ गई।

'शर्मा जी का गौरव' शीर्षक लेख में उनकी विशिष्ट जीवन्त शैली की पर्याप्त प्रशंसा करते हुए उन्हें 'समालोचनाचार्य' की पदवी का उल्लेख किया। उनका कहना है कि यह पदवी उन्हें भावुक पत्रकारों ने प्रदान की थी। 'सतसई-संहार' पर सम्मेलन के द्वारा उन्हें सर्व-श्रेष्ठ पुरस्कार प्रदान किया गया। ऐसे आलोचक की आलोचना करते हुए शुक्ल जी ने लिखा—

'उनकी साहित्यिक विवेचना तात्विक निदर्शन करने की अपेक्षा चुहलबाजी और शोखपने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान चुकी थी।'

लेख का अन्त करते हुए उन्होंने उनके आतङ्क पर निगाह रखते हुए कहा, '....खेद की बात है कि यह मनुष्य-पूजा है, परमात्मा की नहीं।' अपने शाक्त सिद्धान्त

में उन्होंने मनुष्य को सृष्टि से एकात्मक माना है अतः मनुष्य और परमात्मा में भेद की भूमिका उन्हें बाद में कष्ट-कर प्रतीत हुई होगी, ऐसा मैं सोचता हूँ।

इसी तरह 'गीता-धर्म और गुप्त जी' पर लिखे उनके लेख में १२ जनवरी १९३७ में जो प्रसङ्ग उठाया गया है, वह इस समय नया अर्थ रखता दिखाई देता है। जीवन-काल में किसी की जयन्ती मनाना गांधी जी को इष्ट नहीं था। दस-पाँच इष्ट-मित्र, जिनमें नवीन जी आदि भी थे, गुप्त जी की जयन्ती का अभियान चला रहे थे। स्वयं गुप्त जी 'प्रताप' के 'ट्रस्टी' थे। राय कृष्णदास भी उनमें शामिल हो गए। उस अवसर पर बापू जी ने जो कुछ भी कहा, उसका पक्ष-धर लोगों ने भिन्न अर्थ लिया। शुक्ल जी ने गांधी जी के भाषण का पूरा उद्धरण देकर यह सिद्ध कर दिया कि वे उनकी प्रशंसा में कुछ भी कहना नहीं चाहते थे क्योंकि उन्हें आत्म-प्रशंसा इष्ट नहीं थी। अब आत्मीयता और आशंसा के विभेद को उद्घाटित करना कठिन कार्य था, शुक्ल जी ने किया, पर गुप्त जी द्विवेदी के कृपा-पात्र भी थे। ऊहा-पोह बना रहा।

'मिश्र-बन्धु-विनोद' का चौथा भाग प्रकाशित होने पर शुक्ल जी ने निर्भीकता के साथ विस्तार से उनकी भूलें बताते हुए जो लेख लिखा, उसका शीर्षक था—'मिश्र-बन्धुओं की भद्दी भूलें !' आलोचना में फबतियाँ ही नहीं, सीधे ऐसी-तैसी करने-वाली भाषा में जगह-जगह उनकी पूजा की गयी है। यथा—

'वहाँ मिश्र-बन्धुओं ने अपने विनोद का बम चलाकर एक अमङ्गल-कार्य करने का श्रेय लूटा है। परन्तु जो वर्णन मिश्र-बन्धुओं ने इस ग्रन्थ में किया है, वह भ्रान्त, ऊल-जलूल और क्रम-रहित है।...इससे भी अन्दाज लग जायेगा कि इस ग्रन्थ में किस तरह की बे-सिर-पैर की बातें लिखी गई हैं।...पर-उपदेश का यह एक सुन्दर नमूना है। पर कलम तो मिश्र-बन्धुओं के हाथ में है। वे चाहें जिसका नाम लिख दें।....मिश्र-बन्धुओं को हिन्दी के अभ्युदय-काल में ऐसी भोंडी पुस्तक नहीं लिखनी चाहिए थी।'

ऐसे और न जाने कितने वाक्य शुक्ल जी की पैनी लेखनी से निकले और विरोध का इतिहास बना गए। जो बातें उन्होंने कहीं, वे निराधार नहीं थीं। तथापि उनको बाद में लगा होगा कि उनका कहना जरूरत से ज्यादा हो गया।

हिन्दुस्तानी एकेडमी के सन्दर्भ से इसे जोड़कर उन्होंने स्वयं 'सम्पादक के पचीस वर्ष' में पृष्ठ १५२ पर लिखा है "राव-राजा पण्डित श्यामबिहारी मिश्र के 'मिश्र-बन्धु विनोद' के चौथे भाग की मैंने 'सरस्वती' में जो आलोचना की थी, वह उन्हें रुचिकर नहीं हुई। फलतः उन्होंने अपने रोष को मेरी पुस्तक का छापना रुकवाकर शान्त किया।...वास्तव में मैं स्वयं ही एकेडमी के साथ अन्याय करने जा रहा था।"

यहाँ पश्चात्ताप मिश्र-बन्धुओं के प्रति नहीं, वरन उसके कारण किसी दूसरे पर अपनी असाधारण मनःस्थिति के रूप में सामने आया। यहाँ भी अन्याय न करने का भाव प्रधान है।

इन तीनों उदाहरणों से मैं शुक्ल जी की उस मनो-दशा को जानने का उप-

क्रम कर रहा हूँ, जिससे उनके भीतर की साहित्यिक चेतना और आलोचना-वृत्ति के साथ मानवीय संवेदना उजागर होती है। उनके अन्य लेख में कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो हिन्दी की आलोचनात्मक शब्दावली के जीवन्त रूप कहे जा सकते हैं और जिन्हें भुलाना सम्भव नहीं है। 'धींगा-धींगी', 'विभीषिका', 'वितण्डावाद', 'फतवेबाज आलोचक', 'निन्दा-वाद', 'साहित्य-वंचक', 'टोड़ी बच्चा', 'गाली-पुराण-प्रेमी', 'कत-रन-बटोर सम्पादक', 'बिगड़ेदिल', 'तीसमारखाओं', 'भटियारिनों-सा प्रलाप', 'लेख-लीला', 'वर्णसङ्करी भाषा' और 'लँहगहे साहित्यिक'—जैसे न जाने कितने रोचक प्रयोग मिलते हैं, जो साहित्यिक युद्ध के हथियार बने और विजय दिलाई। यों ही हिन्दी का संघर्ष नई दिशाओं तक नहीं पहुँचा। जिन लोगों ने यह भार अपने सबल कन्धों पर ढोया, उनमें एक नाम पं० देवीदत्त शुक्ल का भी है।

उस समय की पत्रिकाओं और समाचार-पत्रों की सूची उनके अनेक लेखों में अनायास आ गयी है, जिनमें से कुछ को मैं भी नहीं जानता था। उदाहरणार्थ 'जयाजी-प्रताप', 'हिन्दी-केशरी', 'पण्डित-पत्र', 'प्रजा-मित्र', तथा अन्यान्य कितने नाम हैं, जो मैंने नहीं देखे। 'हिन्दी के दैनिक' तथा 'हिन्दी के साप्ताहिक' नामक दोनों लेख आज भी पठनीय और ज्ञान-वर्द्धक हैं। विशेषतः उस समय की मानसिकता और चिन्ता-का स्वरूप सामने लाने के लिए वे निश्चय ही उपादेय हैं। 'सम्पादक के पचीस वर्ष' में १९१९ से १९४५ तक की अन्तर्कथा आठ अध्यायों में रोचकता और सूचना-बहुलता के साथ वर्णित है।

उनकी विनय-शीलता यहाँ भी ध्यान आकृष्ट करने लगती है। 'मैं सचमुच एक प्रकार का साहित्यिक बन बैठा, यद्यपि उसकी मुझमें गन्ध तक नहीं थी। जो थी वह सर्वथा झूठी थी....मैं ठोंक-पीटकर वैद्य-राज बनाया गया हूँ।'

जो लोग अपने कृतित्व को अहङ्कार की भाषा में बार-बार सामने लाते हैं, उनसे शुक्ल जी नितान्त भिन्न सिद्ध होते हैं। वे इसीलिए स्मरणीय और वन्दनीय हैं कि उनका हिन्दी के प्रति आत्मीय भाव सच्चा और अनुकरणीय है।

•

'....क्या हमारी सरकारें प्रजा-तन्त्र की यही परिभाषा समझती हैं कि जो करे, उसे अधिक से अधिक दे दिया जाय और जो चुप रहे, उसे ही दबाया जाय? यदि 'स्व-राज्य' का यही नमूना है, तो ऐसा स्वराज्य हमें नहीं चाहिए...।' —'सरस्वती', जून, १९३९, सम्पादकीय नोट, पृष्ठ ६३६

सम्पादक के संस्मरण

☐ प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी

द्विवेदी-युग और उसके बाद का समय आधुनिक हिन्दी साहित्य के बनने का युग रहा है। मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी जैसे कवि, प्रेमचन्द जैसे कथाकार और रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक का कृतित्व इसी युग में विकसित होता है। इस विकास का एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य और प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है 'सरस्वती' पत्रिका। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल में 'सरस्वती' जैसे एक पत्रिका न होकर एक समूचा संस्थान बन गई हो। बड़े-से-बड़े रचनाकार ने उसे गुरु-स्थानीय माना। आचार्य द्विवेदी ने इस पत्रिका के लिए अपने उत्तराधिकारी-रूप में चुना पं० देवीदत्त शुक्ल को।

'सम्पादक के पचीस वर्ष' शीर्षक अपनी संस्मरणात्मक आत्म-कथा में देवीदत्त शुक्ल ने बताया है कि कैसे उन्हें 'सरस्वती' के सम्पादन का दायित्व सौंपा गया, जिस दायित्व को स्वीकार करने में उन्हें सहज ही सङ्कोच का अनुभव पहले हुआ। सम्पादक और रचनाकार के पारस्परिक सम्बन्धों का इस प्रसङ्ग में बड़ा सटीक चित्रण हुआ है। देवीदत्त शुक्ल आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समान अधीत लेखक और कवि न थे, फिर भी अपने सम्पादकीय कर्म में वे बहुत ऊने नहीं पड़े। रचनाकार की पहिचान और रचना के चुनाव में वे बराबर सतर्क रहे। बीच-बीच में पूर्व सम्पादक का हस्तक्षेप भी होता था। जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' की रचनाओं को संस्तुत करते हुए आचार्य द्विवेदी ने तिथि ५-६-२६ के पत्र में उन्हें लिखा—

'कानपुर के पं० जगदम्बाप्रसाद (हितैषी) बड़े अच्छे कवि हैं। 'सरस्वती' के कविता-स्तम्भ को चमकाने के लिए मैंने उनसे कहा था कि आपको कभी-कभी कविता भेजा करें। उन्होंने शायद भेजा भी। पर पुरस्कार देना तो दूर, आपने उन्हें 'सरस्वती' तक न भेजी! अब भेजिए। पहाड़ी पन्त से उनकी कविता हजार दर्जे अच्छी होती है।'

('सम्मेलन-पत्रिका' : पत्र-विशेषांक) यह ठीक है कि पत्रों में व्यक्त मत एक सीमा तक तात्कालिक होता है, और सुचिन्तित भी नहीं कहा जा सकता, पर उससे पत्र-लेखक की मानसिकता का पता अवश्य चलता है। जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' और सुमित्रानन्दन पन्त खड़ी बोली के सम-कालीन कवि थे; आचार्य द्विवेदी ने दोनों को प्रोत्साहन दिया, एक परम्परित कवित्त-सवैया शैली में लिख रहे थे, दूसरे उस नई काव्य-धारा से जुड़े थे, जिसे बाद में छायावाद नाम दिया गया। आज १६८७ में यह जान कर बड़ा अटपटा लगता है, जब कि तीनों सम्बद्ध व्यक्ति शरीर-रूप में नहीं हैं कि आचार्य द्विवेदी हितैषी और पन्त की तुलना में हितैषी को बड़ा कवि मानते हैं।

पत्र के रूप में उन्होंने अपने मन की बात प्रकट कर दी है, सार्वजनिक रूप में शायद वे ऐसा लिखते या कहते नहीं।

इस पत्र-व्यवहार से एक महत्त्वपूर्ण बात यह प्रकट होती है कि **पं० देवीदत्त शुक्ल** 'सरस्वती'-सम्पादक के रूप में सम्पादन-कला के अपने गुरु तथा उपकारक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हर मन्तव्य को आँख मीच कर नहीं मान लेते।

'सम्पादक के पचीस वर्ष' (१९५६ ई०) के दूसरे अध्याय (१९२१-१९२५) में उन्होंने सुमित्रानन्दन पन्त के प्रभाव-शाली व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखा है। इस प्रसङ्ग का समापन उन्होंने इस प्रकार किया है, "इसमें सन्देह नहीं, पन्त जी एक क्रांतिकारी कवि थे और उनकी रचना का प्रभाव अन्य कवियों पर काफी अधिक पड़ा।" (पृ० २३) आगे चौथे अध्याय (१९२९-१९३०) में कानपुर के सनेही-वृत्त का कुछ वर्णन है। यहाँ स्वभावतः जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' का उल्लेख आता है। देवीदत्त शुक्ल लिखते हैं, "हितैषी जी भी 'सरस्वती' में लिखने को उत्सुक हुए। इनके सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने भी लिखा था कि इनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में अवश्य छपनी चाहिए। फलतः अनूप जी की रचनाओं के साथ-साथ इनकी भी रचनाएँ हमने 'सरस्वती' में सादर छापीं।" (पृ० ५३)

आचार्य द्विवेदी के पहले उद्धृत पत्र का समर्थन यहाँ **पं० देवीदत्त** के संस्मरण से हो जाता है, तिथि-क्रम और घटना-क्रम दोनों दृष्टियों से। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सुमित्रानन्दन पन्त और जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' का सापेक्ष महत्त्व-क्रम **देवीदत्त शुक्ल** उस रूप में स्वीकार नहीं करते, जिस रूप में महावीरप्रसाद द्विवेदी अपने उत्तराधिकारी को संकेतित करते हैं। और यहीं **देवीदत्त शुक्ल** की सम्पादन-कला का बुनियादी सूत्र पकड़ा जा सकता है कि वे जितने सदाशय और विनम्र हैं, उतने ही निर्भीक भी! वे बिना वितण्डा में पड़े हुए अपने गुरु-स्थानीय आचार्य द्विवेदी के मन्तव्य को चुपचाप अस्वीकार कर देते हैं। पन्त को वे 'एक क्रान्तिकारी कवि' और 'युग-प्रवर्त्तक' के रूप में देखते हैं, हितैषी की कविताओं को संस्तुति पर छापते हैं।

पर वितण्डा से बचना सम्पादक के लिए हर समय सम्भव नहीं। साहित्यिक पत्रिका का सम्पादक अपने युगीन रचना-क्रम का साक्षी होता है और उससे प्रतिक्रिया भी करता है। हर बड़े लेखक की आरम्भिक महत्त्व-पूर्ण कृतियाँ अपने युग की साहित्यिक पत्रिकाओं में ही पहले प्रकाशित होती हैं। ऐसी पत्रिकाओं में 'सरस्वती' का अन्यतम स्थान है। मैथिलीशरण गुप्त की कविताएँ, प्रेमचन्द और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियाँ, रामचन्द्र शुक्ल का बुनियादी आलोचना-निबंध 'कविता क्या है?' पहले-पहल 'सरस्वती' में छपते हैं। नयी प्रतिभा का अभिज्ञान और उसका प्रकाशन वितण्डा को—जिसे आज 'पॉलीमिक्स' कहते हैं—जन्म दे, यह स्वाभाविक है।

'सम्पादक के पचीस वर्ष' में वितण्डा के प्रसङ्ग आते हैं, पर उनका विस्तृत रूप मिलता है 'कुछ खरी-खरी' (१९४९) में। यहाँ **देवीदत्त शुक्ल** द्वारा लिखित कुछ

आलोचनात्मक निबन्ध सङ्कलित किए गए हैं, जिनका प्रकाशन-काल १९१७ से लेकर १९३८ ई० है। ये निबन्ध प्रकाशन के समय बिना लेखकीय नाम के छपे थे। इस दृष्टि से लेखक ने अपना नैतिक कर्त्तव्य समझा कि समय आने पर उन तीखे निबन्धों के लेखक-रूप में अपने-आप को हिन्दी जनता के समक्ष प्रस्तुत करे। जैसा नाम से स्पष्ट है, इन लेखों में अपने विचारों को बड़े निर्भीक भाव से रक्खा गया है, लक्ष्य चाहे राष्ट्र-पिता गांधी हों या तब के शीर्षस्थ आलोचक मिश्र-बन्धु।

'सम्पादक के पचीस वर्ष' शीर्षक आत्म-कथा को प्रकाशित करने के पूर्व लेखक ने अपना यह कर्त्तव्य माना कि इन बेनामी निबन्धों को वह अपने नाम के साथ पहले छाप दे। स्पष्ट ही इन निबन्धों में ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं, जो लेखक की आत्म-कथा के प्रमुख उपजीव्य बने हैं। इस दृष्टि से इन दोनों पुस्तकों का अन्तर्वर्त्ती रचनात्मक सम्बन्ध स्पष्ट है।

'कुछ खरी-खरी' के बाईस निबन्धों में बहुत-से स्थलों पर सम्बद्ध व्यक्तियों के नाम दबा दिए गए हैं, शिष्टाचार या अन्य परिस्थितियों के कारण। ऐसे स्थलों पर अनुमान-प्रयोग से भूल की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। पर इसके बावजूद अपने समय का बहुत स्पष्ट परिदृश्य इनके माध्यम से उभरता है। हिन्दी से सम्बद्ध संस्थाएँ, पत्र-पत्रिकाएँ और राज-नेताओं के अनेक सार्थक सन्दर्भ यहाँ आते हैं, उस समय के लेखकों और सम्पादकों का चरित्राङ्कन तो है ही।

कुल मिला कर **पं० देवीदत्त शुक्ल** के इस संस्मरणात्मक लेखन के माध्यम से द्विवेदी-युग और छायावादी युग की आरम्भिक तथा परवर्ती गतिविधियों का बड़े मानवीय रूप में अङ्कन हुआ है, और सर्वत्र सम्पादक की एक ही छवि उभरती है—आत्मीय परन्तु निर्भीक। तब के युवा और प्रयोगशील, पर अब प्रतिष्ठित और मान्य कवि शमशेर बहादुर सिंह ने अपने आरम्भिक युग के काव्य-विकास-क्रम को रेखाङ्कित करते हुए सम्पादक **देवीदत्त शुक्ल** को इन शब्दों में ठीक ही स्मरण किया है :

"....'सरस्वती' के वात्सल्य भरे परम कृपालु सम्पादक आदरणीय **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** मुझे बड़े हर्ष से बराबर प्रोत्साहित करते रहते।" ('साक्षात्कार' : ८१-८४)

यह एक नये लेखक का वरिष्ठ सम्पादक के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन है, जिससे प्रयोग और परम्परा का साहित्य में सही रिश्ता बनता है।

●

'....किसी के मार्ग में बाधक न होने के सद्गुण ने सदा शाक्त-धर्म की ढाल का ही काम किया है और वह अपनी इसी ढाल से विरोधियों के प्रहारों को सदैव निष्फल करता रहा है....।' —'शाक्त-धर्म क्या है ?', पृष्ठ ५८

स्व-नाम-धन्य पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल

स्वर्गीय **देवीदत्त जी शुक्ल** का सम्पूर्ण जीवन तपो-निष्ठ साधक का जीवन था। माँ भारती हिन्दी की अर्चना में, उसी की उपासना में आप सतत संलग्न रहे। आज वे कीर्ति-शेष महा-पुरुष के रूप में हमारे स्मृति-पटल पर समासीन हैं। हमारा यह सौभाग्य है कि आज हमें अपने श्रद्धेय की पुनीत स्मृति में श्रद्धा-सुमन समर्पित करने का सुअवसर सम्प्राप्त हुआ है।

शुक्ल जी स्वस्ति-पथ के पथिक थे। स्वस्ति ही उनके जीवन का साध्य था। अपने जीवन के उत्तरायण-काल में तो उन्होंने परम कल्याण-कारिणी भगवती के श्री चरणों में अपने को समर्पित कर दिया था। भगवती चण्डी की उपासना में आप तप और दीक्षा द्वारा उस प्रकाश की ओर अग्रसर हुए, जो समस्त विश्व का प्रकाशक है। तथ्य तो यह है कि वे सदैव आत्म-प्रकाश में विचरण करते हुए अपने समाज को प्रकाश-दान करते रहे।

शुक्ल जी का युग निर्माण का युग था। उस समय साहित्य, समाज, धर्म और राजनीति में समवेत रूप से एक स्फूर्ति, एक चेतना, एक प्रेरणा, एक अलौकिक उत्साह एवं कुछ कर गुजरने की स्पृहणीय लालसा लहरें ले रही थीं। उस पीढ़ी का यह सौभाग्य रहा है कि उसने परम त्यागी, तपस्वी, आत्म-बलिदानी देश-भक्त, समाज-सुधारक एवं भगवती सरस्वती के वरद पुत्रों को केवल दूर से देखा ही नहीं, अपितु उनसे विचार-विनिमय भी किया है, उनकी कथनी और करनी को अपनी खुली आँखों से देखा है, उनके आदर्शों को यथार्थ के रूप में अवतरित होते हुए समझा-बूझा है और नव-निर्माण की प्रत्येक गति-विधि को अपनी सक्रियता में अत्यन्त निकट से अनुभव किया है। इसी यज्ञ-मय वातावरण में **श्री देवीदत्त जी शुक्ल** ने 'सरस्वती'-पत्रिका के सम्पादन-कार्य को जिस कुशलता एवं निष्ठा के साथ पूर्ण किया है, उससे उनकी देश और साहित्य के प्रति समर्पित आस्था का परिचय प्राप्त होता है।

सम्पादक का दायित्व एक जागरूक प्रहरी का-सा दायित्व होता है। उसे अपनी खुली आँखों से जन-जीवन की समस्त गति-विधियों को तो देखना ही होता है, साथ ही अपनी अन्तर्दृष्टि-विवेक के आधार पर दिशा-बोध भी करना होता है। इस सन्दर्भ में जब हम शुक्ल जी के सम्पादकीय लेखों को पढ़ते हैं, तब हमें उनकी अद्भुत प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। 'कुछ-खरी-खरी' शीर्षक से एक पुस्तिका प्रकाशित हुई है, जिसमें समय-समय पर उनके द्वारा लिखित सम्पादकीय लेख-टिप्पणियाँ संगृहीत हैं। इन लेखों से शुक्ल जी की निर्मल दृष्टि, विवेक-सम्पन्नता, स्पष्टता और निर्भीकता का परिचय मिलता है। उनकी दृष्टि एकाङ्गी नहीं थी। वे जीवन के

सभी पक्षों को अत्यन्त निकटता से देखते-समझते हुए चलते थे, 'ठकुर-सुहाती' करने-वाला व्यक्ति अपने कथन को निष्प्राण एवं प्रभावहीन बना देता है, इसके प्रतिकूल निष्पक्ष भाव से कहा गया विवेक-पूर्ण स्पष्ट मत जीवन का पाथेय बनता है। **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** का व्यक्तित्व सम्पादन-पटुता एवं समालोचन-दक्षता से पूर्ण था। आपने अपनी अभिव्यक्ति में सद्भावना को बड़ी जागरूकता एवं कुशलता के साथ सँजोया और विवेक-पूर्ण स्पष्टता को सदैव वरीयता प्रदान की। 'कुछ खरी-खरी' शीर्षक पुस्तक में आपने अनेक ज्वलन्त समस्याओं पर एक चिन्तक एवं विचारक के रूप में जो अपने अभि-मत व्यक्त किए हैं, वे बड़े महत्त्व के हैं। 'हिन्दी-प्रचार के बाधक कारणों' पर आपका स्पष्ट मत यह है कि 'संस्कृत-साहित्य-सागर मथ कर भी सुन्दर-सुन्दर रत्न निकालने चाहिए।' प्रारम्भ में प्रायः 'अंग्रेजी और बँगला' भाषा की पुस्तकों के आधार पर ही हिन्दी-पुस्तकों का प्रणयन हो रहा था, जो उन्हें प्रिय नहीं था।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः सम्पादक अपने देश को न देखकर विदेशों की समस्याओं को अथवा वहाँ की विभिन्न परिस्थितियों की चर्चा में अधिक चाव रखते हुए पाए जाते हैं। अतः शुक्ल जी का यह कथन था कि सम्पादक-गण 'विदेश की समस्याओं, स्थितियों को ही न देखें, अपने देश की पतित जन-जातियों और निरीह देहातियों पर भी करुण दृष्टि डाला करें।' साथ ही 'सर्व-साधारण की रुचि का ध्यान रखें। ऐसी बातें लिखें, जिनसे सर्व-साधारण का लाभ हो।' (पृष्ठ ५)

'साहित्यिक का स्वरूप' शीर्षक लेख में आपने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति महात्मा गांधी पर तत्कालीन कुछ पत्रों में योजना-बद्ध रूप में जो आक्षेप किए गये थे, उनकी घोर भर्त्सना की। इसी प्रकार दो-चार अंग्रेजी की पुस्तकें उलट-पलट कर और कुछ पाश्चात्य समीक्षकों के चलताऊ नाम रट कर हिन्दी साहित्य की गरिमा को नकारनेवाले अधकचरे समालोचकों को 'फतवेबाज आलोचक' शीर्षक टिप्पणी में आपने आड़े हाथों लिया है। (पृष्ठ ३३)

आपने अपनी इसी पुस्तक में तत्कालीन हिन्दी के दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं का उनकी रीति-नीति, स्तर, आदर्श और जन-जीवन के हित में उनकी सेवाओं का मूल्याङ्कन करते हुए बड़ी निष्पक्षता के साथ उनका परिचय प्रस्तुत किया है।

प्रत्येक मानव अपनी प्रवृत्तियों के आधार पर स्वयं ही लघुता एवं महत्व को वरण करता है। जीवन के सत् और असत् रूप किसी एक विशिष्ट काल की ही निधि नहीं हैं। ये प्रवृत्तियाँ प्रत्येक देश में और प्रत्येक काल में न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती रही हैं। आज भी उनका अस्तित्व है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, श्री मैथिलीशरण गुप्त आदि हिन्दी के महारथियों को दिए जानेवाले अभिनन्दन-ग्रन्थों के सन्दर्भ में आपने ऐसे-ऐसे रहस्यों का उद्घाटन किया है, जिनसे सामान्य जनों का आश्चर्य से स्तब्ध रह जाना स्वाभाविक है। देवा-

र्चन में देव कहे जानेवाले ही क्या कभी बाधक बन सकते हैं ? यही तो आश्चर्य का विषय है ।

शुक्ल जी 'हिन्दुस्तानी'-भाषा-आन्दोलन के कट्टर विरोधी थे। उन्हें हिन्दी के हिन्दुस्तानी-रूप से घृणा थी। उन्होंने बड़ी स्पष्टता के साथ कहा कि 'हिन्दी को वर्ण-सङ्करी भाषा बना डालने की तैयारी की जा रही है।'...'हिन्दी और हिन्दुस्तानी के नाम पर हिन्दी और हिन्दी वालों को दिन-दोपहर धोखा दिया जा रहा है।' (पृष्ठ ८७-८८)

प्रसन्नता का विषय है कि उनका यह आत्म-विश्वास कि 'हिन्दुस्तानी के रूप में हिन्दी आत्म-हत्या नहीं करेगी।' सत्य सिद्ध हुआ।

स्व-नाम-धन्य **पं० देवीदत्त शुक्ल** का सम्पूर्ण जीवन ऋजुता का जीवन था। उसमें संयम और साधना की व्याप्ति थी। ऋषियों की सी परम्परा में अपने जीवन को व्यतीत करते हुए आपने अपने व्यक्तित्व को चुम्बकीय आकर्षण से संयुत कर दिया था। आपकी सम्पादकीय टिप्पणियों एवं लेख हिन्दी-जगत् के लिए दस्तावेज के रूप में स्मरण किए जायँगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

अपने जीवन के उत्तरायण में आपकी प्रज्ञा-चक्षुता एक प्रकार से वर-दान सिद्ध हुई। आपने अपनी अन्त:दृष्टि के पावन आलोक में जो भी अनुभव किया, वह सब-का-सब हमारी साहित्यिक निधि के रूप में है। आपके द्वारा वर्णित साधना और उपासना की वीथियाँ जिज्ञासुओं के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करने की क्षमता से पूर्ण हैं।

प्रज्ञा-चक्षु शुक्ल जी की पावन एवं प्रेरक स्मृति को—

शत-शत प्रणाम !
शत-शत प्रणाम !!
शत-शत प्रणाम !!!

●

'....शाक्त-धर्म की अपनी अनेक विशेषतायें हैं और वे सभी अपने-अपने क्षेत्र में अपूर्व हैं, तथापि उनमें से उसकी एक विशेषता सबसे अधिक विलक्षण है। वह है किसी के भी मार्ग में बाधक न होना, साथ ही अपने अस्तित्व को भी बराबर बनाये रखना....।'

—'शाक्त-धर्म क्या है ?', पृष्ठ ५८

द्विवेदी-युग की परम्परा को विकसित करनेवाले : पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा

किसी भी महान् व्यक्ति के साथ उसके द्वारा निर्धारित परम्पराओं का निर्वाह करने और उसके बाद उस परम्परा को मृत न होने देना—प्रायः सामान्य अनुगामी के लिए सरल होता है। इससे भी कठिन काम यह होता है कि अनुगामी उस परम्परा का निर्वाह करते हुए उसे आगे ले जाय, और अधिकतम रूप में उसे विकसित करे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-पत्रकारिता और सम्पादन-कला में भाषा, वर्तनी और वाक्य-विन्यास से लेकर उनके पद-विभाजन आदि का जो प्रमाणीकरण किया था, वह उनकी प्रतिभा का परिचायक था। भाषा, भाव और अभिव्यक्ति को उन्होंने संश्लिष्ट किया था। साथ ही हिन्दी भाषा को आधुनिकतम संवेदनाओं का वाहक बनाने में अपना अदम्य साहस दिखाया था। वर्नाक्यूलर भाषा की दयनीय स्थिति से उठाकर हिन्दी को राष्ट्र-भाषा-पद के योग्य बना देना उन्हीं का पुरुषार्थ था।

ऐसे मनस्वी आचार्य द्विवेदी ने स्वयं ही **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** को चुनकर अपना उत्तराधिकारी बनाया था। शुक्ल जी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और उनका हिन्दी-भाषा का बड़ा अच्छा ज्ञान था। द्विवेदी जी की दूरदर्शिता जब उन्हें मिली, तो उनकी प्रतिभा को चार चाँद लग गए।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० देवीदत्त शुक्ल—दोनों ने मिलकर 'सरस्वती' का जो रूप प्रतिष्ठित किया और पत्रकारिता के क्षेत्र में हिन्दी को नितान्त सम-कालीन भावों और संवेदनाओं को वहन करने का जो सामर्थ्य प्रदान किया, वह हिन्दी-पत्रकारिता का स्वर्ण अक्षरों में लिखा जानेवाला व्यक्तित्व था।

आचार्य द्विवेदी जी धर्म-निष्ठ सनातनी परम्पराओं में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति थे; **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** उससे भी आगे शक्ति के उपासक थे और शक्ति की साधना में तन्त्र-पक्ष के अनुगामी थे। तन्त्र वास्तव में अक्षर-ब्रह्म को मूल प्रकृति के सहारे प्राप्त करने का साधन है।

पण्डित देवीदत्त शुक्ल का हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-पत्रकारिता वाला एक स्वरूप है और उनकी तन्त्र-साधना दूसरा पक्ष है। उनकी तन्त्र-साधना की सिद्धि इतनी प्रखर थी कि दूर-दूर से लोग उनके पास माँ भगवती की कृपा प्राप्त करने के लिए आते थे। और वह बड़े स्नेह और प्रेम से उनको इस मार्ग का ज्ञान देते थे।

शुक्ल जी की विशेषता यह थी कि वह अपनी पत्रकारिता और अपनी साधना को एक-दूसरे के ऊपर आरोपित नहीं करते थे। तन्त्र-विद्या में इतने गम्भीर चिन्तक होते हुए भी उन्होंने 'सरस्वती' में उस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। 'सरस्वती' को अपने

समय की प्रति-छाया और सम-सामयिक पुनर्जागरण एवं राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक के रूप में अपनी आध्यात्मिक साधना से मुक्त रखा। एक लम्बे समय तक अपनी साधना-सम्बंधी विद्या को उन्होंने तब प्रकाशित किया, जब उनके अन्यतम शिष्य पण्डित शिवनाथ काटजू ने उनकी प्रेरणा से सन् १९४२ में 'चण्डी' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्रिका के माध्यम से उन्होंने शक्ति-उपासना एवं तन्त्र के शुद्ध आध्यात्मिक रूप को प्रकाशित करने में बहुत बड़ा योग-दान किया।

पण्डित देवीदत्त शुक्ल और हमारी पीढ़ी सम-कालीन होते हुए भी दोनों में दो युगों का अन्तर था। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि शुक्ल जी थे किन्तु द्विवेदी जी के प्रिय कवियों में थे मैथिलीशरण गुप्त, ठा० गोपालशरण सिंह, पं० रामचरित उपाध्याय और श्रीधर पाठक आदि। इनके बाद जो कुछ भी लिखा जाता था, उसे वे महत्त्व नहीं देते थे। शुक्ल जी द्विवेदी जी की समस्त परम्पराओं का निर्वाह करते हुए उनसे आगे इस अर्थ में थे कि वह भविष्य में आनेवाली पीढ़ी के प्रति सहानुभूति रखते थे। वास्तव में किसी भी महान् व्यक्ति की परम्परा का निर्वाह करनेवाले में जब तक यह दृष्टि नहीं होगी, तब तक वह कठमुल्ला ही बना रहेगा। वह उस परम्परा का विकास नहीं कर पाएगा। **देवीदत्त शुक्ल** का महत्त्व इस अर्थ में बड़ा ही सुन्दर रहा है। परम्परा के प्रति वह विनीत थे पर परम्परा से आगे आनेवाली कड़ी के प्रति वे आश्वस्त और श्रद्धा का भाव रखते थे। उनके व्यक्तित्व का यह अंश नितान्त सराहनीय है।

यदि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी परम्परा में **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** को शिक्षित किया था, तो शुक्ल जी ने भी 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक पं० उमेशचन्द्र मिश्र को द्विवेदी जी की और अपनी परम्पराओं में शिक्षित किया था। शुक्ल जी के अवकाश प्राप्त करने के बाद उन्होंने बड़े सही ढँग से उन दोनों परम्पराओं का निर्वाह किया किन्तु दुर्भाग्यवश वे असमय ही दिवङ्गत हो गए और उनके बाद उस परम्परा का अन्त ही हो गया। 'सरस्वती', जिसने खड़ी बोली हिन्दी के विकास, उन्नयन और मानक-निर्धारण में युगान्तर-कारी काम किया था, वह समाप्त हो गई।

मेरी पीढ़ी को 'सरस्वती' का योग नहीं मिला क्योंकि जब हम आए, तो 'सरस्वती' में न तो परम्परा शेष थी और न दृष्टि। दूसरे महा-युद्ध के प्रारम्भ से हमारी पीढ़ी का उदय होता है और दूसरे महायुद्ध के अन्त होते ही 'सरस्वती' के ह्रास का युग प्रारम्भ होता है। इसलिए 'सरस्वती' की जगह 'हंस' ने ले ली थी। यह एक विचित्र इतिहास है, जिसका यदि गहराई के साथ अध्ययन किया जाए, तो कई प्रकार के नतीजे निकलते हैं, जिनका आकलन किया जाना चाहिए।

'सरस्वती' से लेकर 'चण्डी' के सम्पादन-काल का बड़ा रोचक इतिहास है। सम-कालीन पत्रकारिता से लेकर नितान्त आध्यात्मिक पत्रिका के सम्पादन में जो पाण्डित्य और दृष्टि का विस्तार आवश्यक है, वह तो शुक्ल जी में था ही, साथ ही दोनों में दक्षता भी उनमें थी। 'चण्डी' पत्रिका पढ़नेवाला कभी यह अनुमान नहीं

लगा सकता कि यह वही व्यक्ति है, जो 'सरस्वती' में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट या लीग आफ नेशंस या चीन-जापान-युद्ध पर सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखता था या जो मुस्लिम लीग और राष्ट्रीय कांग्रेस की गतिविधियों पर टिप्पणी करता था।

'चण्डी' में शुक्ल जी का उद्देश्य था तन्त्र-विद्या और शक्ति-उपासना को उन समस्त आडम्बरों से मुक्ति दिलाना, जो समय-असमय नितान्त गर्हित दृष्टि से देखे जाने लगे थे। शुक्ल जी का 'चण्डी' निकालने का उद्देश्य शक्ति-उपासना और तन्त्र को एक वैचारिक एवं दार्शनिक पृष्ठ-भूमि प्रदान करना था। वे जिस प्रकार के साधक थे, उससे चाहते तो तन्त्र के माध्यम से पैसा भी पैदा करते और कुछ यश भी कमाते लेकिन उन्होंने वह मार्ग नहीं चुना। निजी साधना को निजी स्तर तक ही रखा और वैचारिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष को अधिकाधिक उजागर करने पर बल दिया। तन्त्र के क्षेत्र में उनका यह योग-दान उनके उत्सर्ग का ज्वलन्त प्रमाण है।

भारत की प्राच्य विद्या का बहुत कुछ लुप्त है। जो है भी, वह पाण्डुलिपियों के रूप में यहाँ-वहाँ बिखरा पड़ा है। जिन संग्रहालयों में ये पाण्डुलिपियाँ हैं, वहाँ उनके महत्त्व को समझनेवाले नहीं हैं। संग्रहालयों की सूचियाँ भी अपूर्ण हैं। बहुतों की सूचियाँ तो प्रकाशित भी नहीं हैं। जिन व्यक्तियों के पास पाण्डुलिपियाँ हैं, वे उन्हें अपनी सम्पत्ति समझकर केवल उनको बाँधकर सड़ा रहे हैं। ऐसी स्थिति में प्राच्य विद्या का बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण अंश अन्धकार ही में पड़ा हुआ है। फिर भी यह शुक्ल जी की सक्रियता का प्रमाण है कि उन्होंने तन्त्र से सम्बन्धित बहुत सी पाण्डुलिपियों का जीर्णोद्धार किया और उन्हें प्रकाश में लाकर उन्होंने बहुत सी अन्ध धारणाओं का व्यूह तोड़ा। चण्डी-कार्यालय से प्रकाशित पुस्तकों की सूची देखने से यह ज्ञात होता है कि शुक्ल जी ने अपने जीवन की अन्तिम साँस तक शक्ति-उपासना और तन्त्र-साधना को उसके मानक रूप में प्रस्तुत करने का अकथ प्रयास किया था।

दुर्भाग्य की बात यह थी कि जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में उनकी दृष्टि जाती रही थी। मेरा अनुमान है कि इसके कारण बहुत से काम, जो वे पूरा करना चाहते थे, नहीं हो सके। उनकी योजना क्या थी और वे किस रूप में उसे क्रियान्वित करना चाहते थे, यह तो 'चण्डी' के वर्तमान सुयोग्य सम्पादक तथा शुक्ल जी के आत्मज ही जानें, पर प्राच्य विद्याओं में से तन्त्र-विद्या के क्षेत्र में उनके द्वारा निर्धारित दिशा-निर्देश निश्चय ही प्रशंसनीय हैं। हमें आशा है कि उत्तराधिकार रूप में मिले हुए दायित्व को उनके पुत्र और पौत्र योग्यता के साथ निभाएँगे।

अन्त में यह कहना उचित ही होगा कि राष्ट्रीय फलक पर **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** की पत्रकारिता और उनके योग-दान के विषय में निश्चित रूप से शोध होना चाहिए। मुझे आशा है कि हिन्दी-जगत् इस दिशा में कोई ठोस कदम उठाएगा और शीघ्र ही एक सङ्कल्प के साथ यह काम किया जायगा। वस्तुतः यह कार्य किसी राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था द्वारा कराया जाना चाहिए। उस युग की तीनों धाराओं—राष्ट्रीय आन्दोलन, राष्ट्रभाषा-आन्दोलन और पुनर्जागरण की बेचैनी तथा लुप्त-प्राय प्राच्य विद्याओं को एक साथ जोड़कर जब कोई शोध-प्रबन्ध लिखा जायगा, तभी **पण्डित देवीदत्त शुक्ल** जैसे व्यक्तियों का उचित मूल्याङ्कन हो पाएगा। ●

कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष : श्री शुक्ल जी

□ पण्डित श्यामनारायण पाण्डेय

'श्री शुक्ल जी की जय !!!'—के भारी निर्घोष के बीच **पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी** मुस्कराते हुए पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के समर्थन से अध्यक्ष-पद पर विराजे। तालियों की गड़गड़ाहट से वातावरण गूँजने लगा। सारे पण्डाल में उत्साह की विद्युद्-धारा दौड़ने लगी।

शायद काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का वह स्वर्ण-जयन्ती-समारोह था। तत्कालीन राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसाद जी ने उद्घाटन किया था। उनके चले जाने पर कवि-सम्मेलन आयोजित था—पचासों हजार का हङ्गामा ! दूर-दूर से आए प्रसिद्ध कवियों की रसात्मक कविताएँ सुनने की आतुरता थी। उसी में **पं० देवीदत्त जी शुक्ल** काफी झगड़े के बाद, सभापति चुने गए थे।

सच पूछिए, तो जन्म-जात संस्कारी कवि ही सच्चा नेता होता है। उसकी लेखनी की शक्ति पर राष्ट्र का उत्थान-पतन है। वह भविष्य-द्रष्टा होता है। अनेक भाषणों का जो असर नहीं होता, उसका एक छन्द ही जन-मानस की गहराई तक पहुँच जाता है। इसलिए कहा गया है कि वह राष्ट्र का निर्माता होता है। बड़े-बड़े राजा उसकी पालकी तक ढो चुके हैं—'शिवा को सराहौं कि सराहौं छत्रसाल को।'

श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी नागरी-प्रचारिणी सभा की प्रबन्धकारिणी समिति के अध्यक्ष थे तथा कवि-सम्मेलन के संयोजक। श्री द्विवेदी जी ने अध्यक्ष शुक्ल जी से कहा कि 'किसी अच्छे सुकण्ठ को उठाइए, जो अपने काव्य-पाठ से शोर-शराबा शान्त कर दे।' उस हङ्गामे के शोर-शराबे में किसी कवि का साहस नहीं हो रहा था कि कविता सुनाए। अन्त में किसी कवि ने मेरी ओर इशारा करके कहा कि 'पाण्डेय जी को उठाइए।'—'हाँ-हाँ, पाण्डेय जी से कवि-सम्मेलन आरम्भ हो !'

मेरा कलेजा काँप गया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मेरी बाँह पकड़ कर उठाना चाहा। मैंने कहा, 'किसी दूसरे कवि को उठाइए। इसके बाद मैं काव्य-पाठ करूँगा।'

अन्त में अध्यक्ष **पं० देवीदत्त शुक्ल** और पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने साथ ही कहा, 'नहीं, तुमको ही कविता सुनानी पड़ेगी ! उठो, हल्दीघाटी के छन्दों से ललकारो।'

साहस के साथ उत्साह ने अँगड़ाई ली। मैंने 'हल्दीघाटी' का एक सर्ग घोर गर्जना के साथ सुनाया। तालियों की गड़गड़ाहट टाउन हाल तक गूँजती चली गई। पूज्य शुक्ल जी तथा पू० चतुर्वेदी जी ने पीठ ठोंकी। वह दिन नहीं भूलता है।

श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रसन्न होकर कहा, 'आपने नागरी-प्रचारिणी सभा की इज्जत रख ली। कल सवेरे अवश्य मिलिएगा।

शोर-शरावे के बीच कवि-सम्मेलन चलता रहा। सुकण्ठ कवि पसन्द किए गए।

पूज्य शुक्ल जी के पुण्य दर्शन का यही पहला और अन्तिम अवसर था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सबसे अधिक पुरस्कार देकर कहा, 'सभा जब आपको आमन्त्रित करे, तो अवश्य पधारें।'

दूसरे दिन टाउनहाल के समीप एक सुकण्ठ वरिष्ठ कवि ने कहा कि 'पूज्य शुक्ल जी एक अच्छे तान्त्रिक और चण्डिका के उपासक हैं। उनके आशीर्वाद से ही आपकी कविता जमी।'

•

'....शाक्त साधक स्त्री को 'शक्ति' रूप में मानते हैं। कन्या रहते वे उसकी भिन्न-भिन्न देवियों के रूप में सोलह वर्ष की वय तक पूजा करते हैं। जब उसी का विवाह हो जाता है, तब अपनी पत्नी की—शक्ति के रूप में पूजा करते हैं....।'

'....स्त्रियों को शाक्त-धर्म ने जो सम्मान-पूर्ण स्थान प्रदान किया है, वह संसार का कोई धर्म उन्हें आज तक न दे सका और हिन्दू-शाक्तों का 'भैरवी-चक्र' तो वह चक्र है, जिसमें मनुष्य मनुष्यता के पूर्णरूप का दर्शन करता है और ब्राह्मण तथा चाण्डाल एवं गुरु तथा शिष्य समानता की भावना को वास्तव में चरितार्थ करते हैं...।'

—'शाक्त-धर्म क्या है ?', पृष्ठ ६३-६४

सत्व-गुण-सम्पन्न : पं० देवीदत्त जी शुक्ल

□ पण्डित मुंशीराम शर्मा

मानव जन्म लेता है। माता का दूध पीकर बढ़ता है। दाँत निकलने पर अन्न भी खाने लगता है। माता-पिता, समाज तथा परिवार उसे शिक्षित करते हैं। तरुण होकर अपना पृथक् परिवार बनाता है। पुत्र-पौत्रादि पुष्प-फलों से समन्वित होता है। और फिर पक जाता है। पकने पर उसके काले बाल श्वेत हो जाते हैं। यह श्वेत रङ्ग सतोगुण का है और यश का द्योतक है। 'शुक्ल' श्वेत का पर्याय-वाची शब्द है।

सत्त्व-गुण-सम्पन्न ऐसे ही एक कुलीन परिवार में **पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी** का जन्म हुआ था। नाम-करण में मुझे एक विशेषता लक्षित हुई। यह विशेषता 'देवी' शब्द में विद्यमान है। देवी की उपासना, शक्ति की आराधना, आध्यात्मिक साधना का प्रमुख अङ्ग रही है। विना शक्ति के शक्ति-मान् कहाँ! देवी के भीतर देव निहित है। 'आत्मानत्मानमभिसंविवेश'—इस माँ के चरणों में जो पहुँच गया, वह 'शुक्ल' हो गया, उसका समस्त तम समाप्त हो गया। माता-पिता ने कितना अच्छा नाम रखा। पुत्र ने भी अपने जीवन द्वारा उसे सार्थकता प्रदान की। 'सरस्वती' का सम्पादन तो किया ही, जो प्रज्ञा की अधिष्ठात्री देवी है, साथ ही 'चण्डी' का भी सम्पादन किया और अपने घर या कार्यालय का नाम-करण भी उसी शब्द को लेकर किया, जिसकी प्रचण्डता समग्र पापों को भस्म कर देती है।

शुक्ल जी ने २५ वर्षों तक 'सरस्वती' का सम्पादन किया। मैं उन दिनों दया-नन्द कॉलेज में अध्यापक था। स्वर्गीय द्विवेदी जी और शुक्ल जी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' के अङ्कों को पढ़ता रहा। उन दिनों 'सरस्वती' के अङ्कों की धूम थी क्योंकि उनमें साहित्यिक, सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं पर विद्वानों के गूढ़ विचार पढ़ने को मिलते थे। 'सरस्वती' के एक प्रसिद्ध लेखक पं० पद्मसिंह शर्मा प्रयाग से चल कर मेरे ही पास कानपुर में ठहरे थे। फिर तो साहित्य-प्रेमियों का अपूर्व सङ्गम ही वहाँ हो गया था।

शुक्ल जी 'देवी' के दोनों ही 'दत्त' या प्रसाद-प्राप्त थे। जहाँ वे अध्यात्म के धनी थे, देवी की दिव्यता में निवास करते थे, वहीं वे उसके चण्डी के रूप में असत् के विध्वंसक भी थे। 'सरस्वती' के तत्कालीन अङ्कों को यदि पढ़िए, तो आपको आज की समस्याओं का भी किसी-न-किसी रूप में समाधान मिल जाएगा। नीचे की पंक्तियों में निहित अध्यात्म पर दृष्टि डालिए—

'....ऋग्वेद में परमात्म-तत्व का सुन्दर ढंग से निदर्शन किया गया है। हिन्दू-धर्म की विचार-धारा तो प्रारम्भ से यही रही है कि एक का अनेक में दर्शन करें। यही कारण है कि वेद में भिन्न-भिन्न अलौकिक वस्तुओं में परमात्म-तत्व का अधिष्ठान

करके उनके भिन्न-भिन्न नामों द्वारा परमात्म-तत्व के साक्षात् करने का उपक्रम किया गया है...।'

सत् के प्रशंसक शुक्ल जी सत्-कार्य की सफलता पर लिखते हैं—'....सौभाग्य से इस सत्-कार्य का प्रस्ताव 'प्रताप' के सम्पादक और कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने किया था। इससे यह कार्य पूर्ण सफलता के साथ सम्पन्न हुआ।....' ('सरस्वती', जुलाई १६३६)

'....'विशाल भारत' एक उच्च कोटि का पत्र है और वह वंगीय साहित्यिक भाव-धारा के प्रवाह द्वारा उपर्युक्त पत्रिकाओं को सफल ही नहीं बना रहा, अपितु उनके गन्तव्य मार्ग को अधिक प्रशस्त करने का भी कार्य कर रहा है।...'

'....प्रसन्नता की बात है कि काशी के कहानी-पत्र 'हंस' ने 'विशाल भारत' से अब एक कदम और आगे बढ़ा दिया है। उसमें गुजराती के सिवा मरहठी आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं की सुन्दर रचनाओं का समावेश रहेगा जो साहित्यिक दृष्टि से महत्व का सिद्ध होगा....।' —'सरस्वती', नवम्बर, १६३५।

इसी प्रकार अन्य उद्धरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनसे शुक्ल जी की सत्य-निष्ठा और सत्प्रेम का परिचय प्राप्त होता है। उनकी रचनाओं में 'हिन्दुओं की पोथी' उनकी धर्म-प्रियता की प्रकाशिका है, जिसमें प्रमुख धार्मिक कृत्यों का विधान सरल भाषा में दिया हुआ है। शुक्ल जी कवि थे। अप्रकाशित 'खद्योत-प्रकाश' में उनकी कविताओं का संग्रह है। शुक्ल जी के दोनों रूप सभी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं।

ऊपर सत् के उद्धरण हैं। नीचे ऐसे उद्धरण दिये जा रहे हैं, जिनमें उन्होंने असत् पर प्रहार किया है—

'....अभी इस देश की जनता में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो 'कौआ कान ले गया' की पुकार पर झट कौए के पीछे दौड़ पड़ते हैं और यह नहीं देखते कि सचमुच कौआ कान ले गया है या नहीं। यही कारण है कि ये निन्दक निन्द्य कार्य करते हुए भी तीसमार खां के रूप में मान-दान पाते रहते हैं।....' —'सरस्वती', मई, १६३५।

'....संस्कृत से हिन्दू जाति का गहरा सम्बन्ध है। जन-साधारण कृष्णद्वैपायन का जितना आदर करता है, उतना स्पेंसर का नहीं। अतएव प्रणेताओं को पहले अपने घर की ओर निगाह करनी चाहिए, तब दूसरी ओर।....' —'सरस्वती', जुलाई, १६३७

'....हिन्दी में जगह-जगह लोगों ने अपने-अपने अखाड़े खोल रखे हैं और अधिकारी न होते हुए भी उनके महन्त बन बैठे हैं। अपनी सरदारी का दम्भ किए बिना इनके निगरानी अहं को संतोष नहीं होता। फल यह हो रहा है कि इनकी निगरानी में जो साहित्य निकल रहा है, वह देश-काल के सर्वथा विरुद्ध है।...'

अधिक उद्धरण न देकर हम यही कहना चाहेंगे कि हिन्दी-प्रेमी शुक्ल जी द्वारा निर्देशित सत् की ओर बढ़ें और असत् का तिरस्कार करें। तभी यह देश उन्नत होगा और तभी हमारी भाषा और उसकी साहित्यिक समृद्धि गौरव-शाली बनेगी। ●

परमोदार तथा दयालु शुक्ल जी

□ डॉ० कृपाशङ्कर शुक्ल

प्रातः-स्मरणीय स्व-नाम-धन्य **पं० देवीदत्त शुक्ल** हिन्दी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के यशस्वी सम्पादक तथा तान्त्रिक शक्ति-साधना के आचार्य के रूप में जाने जाते हैं परन्तु अपने वैयक्तिक जीवन में वे कितने उदार तथा अन्य सद्‌गुणों से ओत-प्रोत थे, ऐसा विरले ही लोग जानते होंगे। इस सम्बन्ध में अपना एक संस्मरण पाठकों की जानकारी के लिए दे रहा हूँ, जिससे उनके उक्त गुणों पर प्रकाश पड़ेगा।

आज से प्रायः ५० वर्ष पूर्व की घटना है। मैंने इण्टरमीडिएट की परीक्षा लखनऊ से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी और आगे की पढ़ाई के लिए प्रयाग गया हुआ था तथा शुक्ल जी के आवास के निकट ही एक छोटा-सा मकान किराए पर लेकर अपनी माँ के साथ उन्हीं के संरक्षण में रहता था। मेरी माँ अत्यन्त मिलनसार महिला थीं और शुक्ल जी के परिवार से उनका सम्पर्क हो गया और प्रायः रोज का आना-जाना हो गया। कालान्तर में सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ हो गया कि हम लोग भी शुक्ल-परिवार के अंग ही हो गये।

मेरी माँ प्रायः दो वर्ष तक प्रयाग में मेरे साथ रहीं। इसके बाद रोगाक्रान्त होने से वे लखनऊ से प्रयाग न जा सकीं और मुझे अकेले ही प्रयाग जाना पड़ा। इन दिनों मैं पं० राजनारायण मिश्र, रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर, के मेयो रोड स्थित बँगले पर उन्हीं की छत्र-छाया में रहता था। शुक्ल जी भी वहाँ प्रायः रोज आते थे। जब उन्हें विदित हुआ कि मैं इस बार अकेले ही प्रयाग आया हुआ हूँ, तो मेरे प्रयाग पहुँचने के पहले ही दिन मुझसे मिलने आए और जब उन्होंने देखा कि मैं अपना भोजन स्वयं बनाने का उपक्रम कर रहा हूँ, तो नाराज हुए और मुझे अपना भोजन स्वयं न बनाने को विवश कर दिया तथा मेरे भोजन की व्यवस्था अपने यहाँ कर दी। और यह क्रम प्रायः दो वर्ष तक, जब तक मेरी पढ़ाई समाप्त नहीं हो गई, चलता रहा। उनकी इस कृपा का सत्फल यह हुआ कि मेरी पढ़ाई सुचारु रूप से सम्पन्न हो गई। उनकी इस कृपा के लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ और उनके प्रति नत-मस्तक हूँ।

शुक्ल जी मुझे अपने पुत्र के सदृश मानते थे। उनकी इच्छा थी कि मैं उनके सद्‌गुरु से, जो शक्ति-उपासना के अनन्य आचार्य थे, दीक्षा ग्रहण कर लूँ परन्तु दुर्भाग्य-वश मेरे चाहने पर भी उनके गुरु के दर्शन मुझे न हो सके और मैं उनका शिष्य बनने से वंचित रह गया। तो भी उन्होंने हंसयामल-तन्त्रोक्त श्री बाला त्रिपुरसुन्दरी सहस्र-नाम स्तोत्र, गौरीसार-तन्त्रोक्त श्री बाला कवच तथा रुद्रयामल-तन्त्रोक्त श्री बाला स्तोत्र तथा श्री बाला देवी की सम्पूर्ण पूजा-पद्धति मुझे लिखा दी। नवरात्र के अवसर पर जब वे विधि-पूर्वक देवी की पूजा-अर्चा करते थे, तो अन्तिम दिन वे मुझे उसमें अवश्य सम्मिलित करते थे। ●

वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो !

□ 'पद्म-भूषण' पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी

मेरा जन्म उन्नीसवीं शती में हुआ था। अतएव मुझे अपने से ज्येष्ठ और गुरु-जनों के प्रति कुछ कहने या लिखने में सङ्कोच होता है। हम लोगों को उनके प्रति केवल श्रद्धा अर्पण करना ही सिखाया गया था।

इसलिए जब मुझसे **पं० देवीदत्त जी शुक्ल** के स्मृति-ग्रन्थ में कुछ लिखने को कहा गया, तो मुझे स्वीकार करने में सङ्कोच हुआ, किन्तु बीसवीं शती में इतने दिनों रहते-रहते और अभिनन्दन और स्मृति-ग्रन्थों का प्रचुर प्रकाशन देखते-देखते मेरा आरम्भिक युग का सङ्कोच बहुत ठहर न सका और मैंने श्रद्धेय शुक्ल जी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि देने की स्वीकृति दे दी।

इस स्वीकृति का एक कारण यह भी था कि श्रद्धेय शुक्ल जी लम्बे समय तक 'सरस्वती' के प्रख्यात और सफल सम्पादक रहे। विधि के विचित्र विधान या विडम्बना से उनके सम्पादकत्व छोड़ने के बहुत बाद मैंने भी बीस वर्ष 'सरस्वती' का सम्पादन किया। वे मेरे लिए एक अनुकरणीय साहित्यिक पूर्वज थे। अतएव उनके प्रति इस अवसर पर अपनी श्रद्धा व्यक्त करना मेरा कर्तव्य हो गया।

श्रद्धेय शुक्ल जी एक बात में बड़े भाग्यशाली थे। उन्हें सम्पादन की कला सीखने का अवसर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से मिला था। उन्होंने आचार्य जी के पत्रकारिता और साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों को जितना समझा, उतना मेरी जान-कारी में और किसी ने नहीं समझा। वे बड़ी सावधानी और निष्ठा से 'सरस्वती' का सम्पादन आचार्य जी के सिद्धान्तों के अनुसार करते रहे। बाद में भी वे जब देखते कि 'सरस्वती' में उन सिद्धान्तों का कहीं उल्लंघन हो रहा है, तो वे तत्कालीन सम्पादक को सावधान कर देते थे। एक बार मैंने 'सरस्वती' में एक ब्रज-भाषा की कविता छाप दी थी। शुक्ल जी ने मुझे सावधान किया कि यह आचार्य द्विवेदी की चलाई परम्परा के विरुद्ध है। इसी प्रकार वे मुझे 'सरस्वती' की परम्पराओं के बारे में समय-समय पर बराबर बतलाते रहते थे।

श्रद्धेय शुक्ल जी का 'सरस्वती' के सम्पादन-विभाग में चयन स्वयं द्विवेदी जी ने किया था। द्विवेदी जी कानपुर में रहते थे, किन्तु प्रयाग में रह कर शुक्ल जी 'सरस्वती' के प्रकाशन का सारा काम उनके मार्ग-दर्शन में करते थे। अतएव उनको स्वयं द्विवेदी जी से सम्पादन-कार्य सीखने का सौभाग्य मिला था।

शुक्ल जी संस्कृत और हिन्दी दोनों के विद्वान् थे। यही नहीं, वे सम-कालीन हिन्दी-साहित्य की प्रगति और प्रवृत्तियों को समझते और परखते भी थे। वे नए

लेखकों और कवियों को प्रोत्साहन देते थे, और उनके सम्पादन-काल में 'सरस्वती' में कितने ही लेखकों को और कवियों को प्रोत्साहन मिला।

इण्डियन प्रेस से मेरा पुराना सम्बन्ध था। उसके संस्थापक स्वर्गीय श्री चिन्तामणि घोष के सामने तो मैं विद्यार्थी था। इस समय न मालूम क्यों मुझे भी तुक-बन्दी करने की प्रबल इच्छा हुई। मुझमें काव्य-प्रतिभा बिलकुल नहीं है, किन्तु उस समय मैं तुक-बन्दी को ही कविता समझता था। आज मैं यह समझता हूँ, किन्तु उस समय अपनी तुक-बन्दी को बड़ी उपलब्धि समझता था। मैंने बाबू जी (श्री घोष) से उसे इण्डियन प्रेस से प्रकाशित करने को कहा। उन दिनों इण्डियन प्रेस से किसी पुस्तक का प्रकाशन, या 'सरस्वती' में किसी लेख का प्रकाशन बहुत बड़ी बात समझी जाती थी। किन्तु 'आंशुलब्धे फले लोभात् द्विद्वाहुरिव वामनः' की तरह मैंने बाबू जी से उसे प्रकाशित कर देने को कहा। यह १९१४ की बात है। उनकी मुझ पर कृपा और वात्सल्य था कि उन्होंने प्रोत्साहित करने के लिए मेरा वह 'बाल-प्रयास' प्रकाशित कर दिया। उनके पुत्र स्व० श्री हरिकेशव घोष मेरे बाल-मित्र थे। मैं बहुधा इण्डियन प्रेस जाया करता था। किन्तु उन दिनों शुक्ल जी मेरे लिए इतने महान् साहित्यिक और विद्वान् थे कि मैं उनसे मिलने का साहस बहुत कम कर पाता था। फिर भी जब कभी साहस कर उनके पास जाता, तो वे बड़े स्नेह से मिलते और मैं उनसे हिन्दी और साहित्य के सम्बन्ध में कुछ सीख कर ही लौटता था।

श्रद्धेय शुक्ल जी ने एकान्त-भाव से आचार्य जी के पद-चिह्नों पर चलते हुए दीर्घ-काल तक 'सरस्वती' की सेवा की और उसके स्तर को सदैव ऊँचा रखा। वे प्रचार से सदैव दूर रहे। इसलिए साहित्य-संसार उनसे वह लाभ न उठा सका, जो वह उठा सकता था।

इस लोकेषणा से विरक्ति का एक कारण था। वे कौल-सम्प्रदाय के गहन अध्येता ही नहीं, उसके बड़े मर्मज्ञ और सफल साधक भी थे। मेरे जो मित्र इस सम्प्रदाय में रुचि लेते थे, वे उनकी उस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के गहन ज्ञान की बड़ी प्रशंसा करते थे। उनका जीवन 'सरस्वती' की सेवा और कौल-सम्प्रदाय की गहन साधना में बँटा हुआ था। अतएव उन्हें समय ही नहीं मिलता था कि साहित्य के तत्कालीन विवादों या समस्याओं पर आधिक ध्यान देते। फिर भी उन्होंने जो पुस्तकें लिखी हैं, वे हिन्दी और हिन्दी-साहित्य तथा हिन्दी-पत्रकारिता में रुचि लेनेवालों के लिए सदैव महत्वपूर्ण रहेंगी।

मैं स्मृति-ग्रन्थ के आयोजकों का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे शुक्ल जी के समान महान् सम्पादक, हिन्दी-प्रेमी और विद्वान् के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित करने का अवसर दिया। उनकी स्मृति को बार-बार प्रणाम।

●

शुक्ल जी की खट्टी-मीठी भाषा

□ डॉ० हरदेव बाहरी

सर्व-विदित है कि पं० देवीदत्त शुक्ल हिन्दी के सिद्ध-हस्त और सफल पत्रकार तथा लेखक थे। उन्होंने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की शैली का पूरी तरह निर्वाह किया। उनका रुझान साहित्यिकता की ओर अधिक होने के कारण संस्कृत-शब्दावली का प्राचुर्य उनकी भाषा में स्वभावतः पाया जाता है, यद्यपि उन्हें सहज रूप में आने-वाले अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग करने में कभी संकोच नहीं था। तत्कालीन शुद्धता-वादी कहने लगे थे कि संस्कृत-संज्ञा के साथ अरबी-फारसी विशेषण और अरबी-फारसी संज्ञा के साथ संस्कृत-विशेषण कुछ विचित्र और अटपटे लगते हैं, परन्तु शुक्ल जी ने खुलकर ऐसे प्रयोग किए हैं, जो जरा भी अखरते नहीं हैं। उदाहरण—

काफी संख्या, दैनिक अखबार, सरकारी कोष, सादे व्यक्ति, जिम्मेदार सम्पादक, उग्र हिमायती, फतबेबाज आलोचक, निरीह देहाती, विद्वत्ता के कायल, अलमस्त योगी।

अनुमानतः विदेशी शब्द एक प्रतिशत से अधिक नहीं हैं। परन्तु अंग्रेजी के अच्छे जानकार होते हुए भी वे अंग्रेजी-मिश्रित फैशनी भाषा के कट्टर विरोधी थे। वे 'वर्ण-संकरी' भाषा नहीं चाहते थे। उर्दू में जो जाहानी है, जो नमकीनी है, उसका वे यत्र-तत्र अच्छा और आवसरिक लाभ उठा लेते थे। कभी-कभी खरी बात कहने में उर्दू ही काम आती थी। जैसे—

'क्या तूफान-बदतमीजी उठाए रहते हैं।'
'दूसरे लोग उसको तरह नहीं देते।'
'उसकी राह-रस्म एक धनकुबेर से है।'
'वे पत्र दोजख के कीड़े बताए गए।'
'किसी व्यक्ति की बेहुरमती नहीं करनी चाहिए थी।'

●●

शुक्ल जी की खरी-खरी बातों के दो पहलू हैं। एक तो प्रशंसात्मक और दूसरा भर्त्सनात्मक। एक में गुणों का बखान और दूसरे में अवगुणों और त्रुटियों की चर्चा। दोनों पहलुओं की भाषा में भारी अन्तर है। मीठी बात में सकारात्मक और ठोस शब्दों का प्रयोग मिलता है : जैसे—

साहित्य या पत्र के विषय में—मनोमोदक, नेत्र-रञ्जक, आकर्षक, सर्वाङ्ग-सुन्दर, उच्चता-सम्पन्न, शिष्ट, प्रशंसनीय, शुद्ध, स्थायी, उपादेय, सामयिक, पाण्डित्य-पूर्ण, मार्मिक, महत्त्व-पूर्ण, सुरुचि-पूर्ण, विचार-पूर्ण, भाव-सम्पन्न, ज्ञान-वर्धक, आधुनिक,

गम्भीर, प्राञ्जल, आदर्श, यशस्कर, श्रेयस्कर, निर्भीक, अद्वितीय, अनूठा, सन्तोष-जनक, सफल, मौलिक, विवेक-पूर्ण।

व्यक्ति के बारे में—प्रतिभावान्, लोक-प्रिय, साहित्यिक, सांस्कृतिक, उदार, प्रेमी-हृदय, सदय, मार्मिक विद्वान्, मार्मिक ज्ञाता, शान्त, शिष्ट, गम्भीर, मिलनसार, विनम्र, स्नेह-शील, समादृत, गौरव-शाली, गौरवपूर्ण, सम्मानित, प्रतिष्ठित, प्रतिष्ठा के अधिकारी, कर्तव्य-निष्ठ, देदीप्यमान, गरीब-परवर, शालीन, सुजन, सक्षम, सुविख्यात, साहित्य-रसिक, व्यापार-कुशल, महारथी।

दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र-पत्रिकाओं की बात हो, अथवा युग के बहुत बड़े साहित्यकारों की चर्चा हो, शुक्लजी सदा पहले उनके गुणों को ग्रहण करते हुए बड़े मधुर और सुन्दर विशेषणों का प्रयोग करते हैं। उसके बाद खट्टी बात कहते हैं। खट्टी बात कुछ लम्बी होती है, परन्तु उसमें खटास कम होती है। ऐसी चर्चा में नकारात्मक शब्द मिलते हैं, जैसे—

महत्त्व-हीन, विचार-शून्य, नगण्य, बेतुका, अनर्गल, अयोग्य, अनावश्यक।

'उन्होंने कोई अमिट छाप नहीं डाली।'

'खेद है कि वे ऐसा नहीं कर पाये।'

'उनकी शैली आदर्श शैली नहीं मानी जाएगी।'

'इसकी प्रामाणिकता नहीं है।'

'इसमें सुरुचि का अभाव है।'

'वे इसके आगे नहीं बढ़ पाए।'

कभी-कभी ठोस और कड़े शब्द भी मिल जाते हैं, जैसे—

साहित्य और पत्र – दूषित, वाद-ग्रस्त, विगर्हणीय, त्याज्य, निन्द्य, भ्रान्ति-पूर्ण, अण्ड-बण्ड, उपेक्षणीय, ढीठ, ग्रामीण, बाधक।

व्यक्ति—टुटपुँजिया, चतुर, अस्त-व्यस्त, साहित्य-बेंचक, ऊल-जलूल, गया-बीता, चुलबुला, चुहुल-बाज, शोख, अहम्मन्य।

खेद है कि आज ऐसी खरी-खरी, खट्टी और मीठी दोनों तरह की बात कहने-वाले आलोचक दुर्लभ हैं। गुटबाजी में या तो केवल मीठी-मीठी प्रशंसात्मक आलोचना करेंगे या केवल कड़वी, खट्टी और विध्वंसात्मक। कहीं सन्तुलन नहीं रहा।

●

सम्पादक-शिरोमणि : पण्डित देवीदत्त शुक्ल

□ पण्डित बालकृष्ण पाण्डे

इलाहाबाद में रहते हुए हिन्दी पत्रकार-जगत् की महान् विभूति, 'सरस्वती' के यशस्वी सम्पादक, शाक्त-धर्म के अद्वितीय विद्वान् व्याख्याता तथा प्रचारक और तान्त्रिक योगी पण्डित देवीदत्त शुक्ल सेवा-निवृत्त होने के बाद अपरिचय की सी स्थिति में रहे, इसका मुख्य कारण तो था उनका दृष्टि-विहीन हो जाना और यह भी कि हिन्दी के पत्रकार व साहित्यकार के प्रति हिन्दी-जगत् का उपेक्षा-भाव एक स्वयं-सिद्ध तथ्य है।

दूसरे दशक से देश के स्वतन्त्र होने तक की लम्बी अवधि की साहित्य व पत्रकारिता की गतिविधियों के जीवन्त साक्षी पं० देवीदत्त शुक्ल की यशो-गाथा शाक्त-धर्मावलम्बियों तक ही सीमित रह गई। उनकी जन्म-शती के अवसर पर तब के साहित्यकारों व पत्रकारों के संस्मरणों को पढ़ कर लगता है, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्य व साहित्यकार के निर्माण की गौरव-मयी परम्परा का श्रेयस्कर ढङ्ग से निर्वाह सम्पादक-शिरोमणि पं० देवीदत्त शुक्ल ने जीवन-पर्यन्त किया है। हिन्दी-जगत् सदैव शुक्ल जी का ऋणी रहेगा और राष्ट्र-भाषा के उन्नयन के साथ ही शुक्ल जी के सम्मान की भी अभिवृद्धि होती जायेगी।

सम्पादक-शिरोमणि पण्डित देवीदत्त शुक्ल के दर्शन करने का अवसर इन पंक्तियों के लेखक को बचपन में मिला, जब उसकी कोई समझ तो न थी, लेकिन यह अनुमान था कि जिसका इतना आदर-सम्मान ठाकुर गोपालशरण सिंह, इलाचन्द्र जोशी, गङ्गाप्रसाद पाण्डेय, केशवदेव शर्मा (सम्पादक 'भारत') करते हैं, वह अवश्य कोई महान् विभूति है।

'भारत' के सम्पादक पं० केशवदेव शर्मा से पारिवारिक सम्बन्ध था मेरा। और उनके यहाँ इकट्ठा होनेवाली साहित्यकारों की मण्डली की बैठकें ठाकुर गोपालशरण सिंह (नई गढ़ी, रीवा) के बँगले पर (हाईकोर्ट के समीप) अक्सर होती थीं। जलपान पाने के लोभ में पहुँचनेवाली किशोर-मण्डली को तब बड़ा कौतूहल होता था, जब एक स्वस्थ विशाल-काय 'देहाती' पण्डित (आदरणीय शुक्ल जी) कभी आकर पुकारते— 'गोपालशरण !' और सभी अचकचा कर खड़े हो जाते तथा ठाकुर गोपालशरण सिंह लपक कर बाहर आते और पण्डित देवीदत्त शुक्ल का आशीर्वचन हँसते हुए सुनते।

• •

सन् '३६ या '३७ की रात। जैन हॉस्टल में कवि-सम्मेलन हो रहा था।

मैथिलीशरण गुप्त अपनी नई रचना 'यशोधरा' का कुछ अंश सुना कर जैसे ही बैठे कि आवाज उठीं—'मधुशाला—मधुशाला ! बच्चन जी को बुलाएँ।'

एक विशाल-काय व्यक्तित्व, माथे पर भभूत लगाए उठा और बिना किसी उत्तेजना के गुरु-गम्भीर शब्दों में बोला—'कविता-पाठ हो लेने दें, तब 'मधु-शाला' की रट लगाएँ। शान्त !'

और सचमुच शान्ति हो गई। एक बजे रात जब कवि-सम्मेलन समाप्त हो गया, तब कहीं हम लोग बच्चन जी की 'मधु-शाला' को सुन पाए थे—भोर ४ बजे तक। वहीं लोगों ने बताया, ये थे पण्डित देवीदत्त शुक्ल—'सरस्वती' के सम्पादक ! एक सज्जन भुनभुना रहे थे—'ये तो कहीं कभी कवि-सम्मेलन में जाते नहीं। यहाँ कैसे आ गए !' दूसरे ने कहा, 'देखते नहीं, खसखसी दाढ़ीवाले डण्डा लिए व्यक्ति को। यही हैं मैथिलीशरण गुप्त। इन्हीं की वजह से शुक्ल जी कवि-सम्मेलन में आए हैं।'

• •

१९४५ से जो इलाहाबाद से उच्छिन्न हुआ, तो १९६१ में वापस आया। संयोग से कटरे में जो मकान किराए पर मिला, वह पण्डित देवीदत्त शुक्ल के पड़ोस में था, लेकिन यह तो बाद में पता चला।

एक दिन पं० ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' जी पधारे, तो उन्होंने बताया और सावधान किया, 'खबरदार ! आँखें तो नहीं रहीं, पर सँभल के जाना। बड़े गुस्सैल हैं। तुम्हारी कम्युनिस्ट की बात जान ली, तो तुम्हारी खैर नहीं !'

महीनों बाद एक दिन मौका पाकर इन पंक्तियों का लेखक जब पण्डित देवीदत्त शुक्ल के चरणों पर अपना मत्था टेके था और वह बड़े प्रेम से उसकी पीठ सहलाते हुए कह रहे थे—'खुस रहौ, जियौ। कौन हो, बोलो तौ।' तो सारी हिचक दूर हो गई और पहले उन्हें विस्तार से बताया कि बचपन में उन्हें कब-कब देखा था। उस दिन गरी के कुछ टुकड़े प्रसाद-स्वरूप मिले।

पड़ोस में रहने की बात बताई, तो बड़े प्रसन्न हुए। फिर कहा—'पाण्डे हो, कौन पाण्डे ? अखबार में रिपोर्टर हो। अच्छा। मेरे बारे में कहीं कुछ न लिख देना।' रिपोर्टर की बात सुन कर मुझे लगा, जैसे पण्डित जी कुछ असहज हो उठे थे। कुछ देर मौन रह कर बोले—'यू जान लेव। हमार बात, कौनो बात, नाम या कुछ छापै का ख्याल भी न कर्यो।'

बात आई-गई हो जाती, लेकिन 'भारत' के सम्पादक श्री शङ्करदयालु श्रीवास्तव से जिक्र किया, तो उन्होंने विस्तार से शुक्ल जी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला।

फिर जब मौका मिलता, पूज्य शुक्ल जी के समीप बैठ कर उनकी बातें सुनता। कुछ पूछता भी, जिज्ञासा उठाता, तो बहस टाल जाते। जब बोलने लगते, तो तब तक न रुकते, जब तक कोई प्रश्न न उठाता। फिर एकदम चुप्पी साध लेते। आचार्य-

प्रवर के उस एकालाप की जो भी स्मृति शेष है, उसका उल्लेख करने के पूर्व मैं यह यह सार्वजनिक रूप से स्वीकार करता हूँ—क्षोभ व ग्लानि के साथ कि सम्पादक-शिरोमणि पण्डित देवीदत्त शुक्ल के निषेध के अंकुश को शिरोधार्य कर मैंने पत्रकारिता के दायित्व का निर्वाह नहीं किया और यह पश्चात्ताप मुझे सदैव रहेगा कि उनसे सुनी बातों को छापता न, तो कम-से-कम लिपि-बद्ध तो कर लिया होता, तो आज मेरे पास यह एक अमूल्य धरोहर होती; साहित्य व पत्रकार-जगत् के लिए भी एक अमूल्य निधि।

आदरणीय शुक्ल जी की बातें, उनके संस्मरण, उनके प्रवचन और कभी-कभी संस्कृत, हिन्दी, उर्दू की काव्य-सम्पदा का उद्धरण सुनते अघाता न था, पर इसे अभाग्य ही कहिए कि कभी उन्हें सँजोने के लिए लिपि-बद्ध करने की नहीं सोचा। जब अलोपीबाग आकर रहने लगा, तो शुक्ल जी भी अलोपीबाग-स्थित अपने नव-निर्मित भवन में आ गए और यह क्रम अनवरत जारी रहा।

• •

शुक्ल जी से सुनी तमाम बातों में से कुछेक जो स्मरण आ रही हैं, उनमें से ही कुछ को प्रस्तुत कर रहा हूँ।

यह पूछने पर कि 'पण्डित जी, आपका स्वास्थ्य तो ठीक है, बल्कि कहें बहुत ठीक। चलने-फिरने की असुविधा है, तो फिर कैसे इतने स्वस्थ हैं ?''

आदरणीय शुक्ल जी को कम ही तो ठठा कर हँसते मैंने देखा है, पर स्वास्थ्य के प्रश्न पर खिल से उठे। बोले—''दृष्टि-हीनता को मैं अभिशाप नहीं मानता। साधना के लिए, मनन के लिए यह वरदान-स्वरूप है। रही स्वस्थ रहने की बात (पण्डित जी ने एक श्लोक पढ़ा), सो धन्वन्तरि महाराज कह गए हैं कि जो हितकारी पदार्थ खाता है; जो आवश्यकता से अधिक नहीं खाता; जो अपनी सभी इन्द्रियों पर अधिकार रखता है; जो भोजन के बाद सौ कदम चलता है और उसके बाद बाईं करवट विश्राम करता है; वह निरोगी होगा।''

• •

कम्युनिस्टों के बारे में पण्डित जी ने कहा—''देखो, कम्युनिस्ट अपने यहाँ जो हैं, परिवार की जिम्मेदारी नहीं निभाते। रूस की बात करते हैं, अपने देश-धर्म को जानते तक नहीं। उनकी क्रूरता की कहानी और भगवान् के अस्तित्व के नकारने की बात भी खलती है, लेकिन दुनियाँ में कम्युनिस्ट फूल-फल भी रहे हैं। इससे यह नहीं मानना होगा कि 'सत्यमेव जयते' या 'धर्मं चर' की उक्ति व्यर्थ है। देखो, जाने-अनजाने कम्युनिस्ट भी 'प्रकृति' कह कर ईश्वरीय सत्ता के समक्ष नत-मस्तक होते हैं। मानव व समाज की सेवा न करते, तो दुनियाँ के बहुत बड़े हिस्से में उनका शासन कैसे होता ! फिर रूस में जितनी हत्याएँ कम्युनिस्टों ने कीं, उससे ज्यादा वे खुद दूसरे महा-युद्ध में मारे भी तो गए।''

• •

निराला की दयनीय स्थिति का उल्लेख करने पर शुक्ल जी ने कहा—"हिन्दी में साहित्यकार व पत्रकार वही सफल हैं, जो धनी घर का है या पैसा कमाने की कला में महारत पाये है। बाकी को निर्धनता, आर्थिक सङ्कट और निर्लज्ज जीवन बिताने की मजबूरी सहनी ही पड़ती है। चाहे महात्मा तुलसीदास को ले लो या अपने समय के यशस्वी साहित्यकारों-सम्पादकों को—अमृतलाल चक्रवर्ती, शिवपूजन सहाय, रुद्रदत्त शर्मा हों या महावीरप्रसाद द्विवेदी, वृन्दावनलाल वर्मा हों, चाहे निराला और इन जैसे अनेक—सभी को आर्थिक विपन्नता झेलनी पड़ी है। इनकी साहित्य-सेवा ने इन्हें क्या दिया? हिन्दी की उन्नति के लिए इन्होंने जो किया, उसे कौन स्मरण कर रहा है। समाज का उपेक्षित, कभी तिरस्कृत वर्ग-सा है हिन्दी का साहित्यकार और पत्रकार! लेकिन गुट-बाजी से—छिद्रान्वेषण से एक दूसरे की टाँग खींचने से बाज नहीं आते।"

• •

"जनता को कोई चिन्ता नहीं रही कभी कि हिन्दी की पत्र-पत्रिका चलती रहे। पहले भी मालिक सम्पादक था, अब भी। पहले थोड़ी लोक-लाज का ध्यान रखते थे, अब क्या कहें!"

थोड़े मौन के बाद शुक्ल जी ने बताया—"१९२० में कलकत्ते में 'स्वतन्त्र' अखबार निकला। कई हाथों में बिक कर झाँसी में १९४५ में काल-कवलित हो गया। कोई याद करता है!"

• •

एक दिन साम्प्रदायिकता के सन्दर्भ में आदरणीय शुक्ल जी भावुक हो उठे। बोले—'पहले शासन-स्तर पर चाहे जो बदलाव आए, लड़ें-कटें मरें, लेकिन समाज की एकात्मकता अक्षुण्ण बनी रहती थी। गाँवों में कभी साम्प्रदायिकता का प्रवेश नहीं हो पाता था। अंग्रेज भी 'बाँटो और हुकूमत करो' की नीति चला ले गए, लेकिन दंगे शहरों तक ही सीमित रहे। अब पाकिस्तान बन गया, तो साम्प्रदायिकता का जहर गाँव-गाँव में पहुँच गया। वोट की राजनीति। धर्म के प्रति अरुचि। विलासिता और धन-पशुओं का वर्चस्व समाज व शासन पर! कल्याण का मार्ग तो भगवद्-भक्ति में है—भगवान् सभी का है। वह जाति-सम्प्रदाय में बँटा थोड़े है। स्वार्थ-वश भगवान् को बँटवा कर रखा है लोगों ने।'

और फिर तो जब शुक्ल जी ने अकबर इलाहाबादी के शेर सुनाए, तो इन पंक्तियों का लेखक रोमाञ्चित हो उठा—

ऐ बरहमन मेरा और तेरा है एक आलम
हम ख्वाब देखते हैं, तू देखता है सपना

× ×

लड़ें क्यों हिन्दुओं से हम यहीं के अन से पनपे हैं
हमारी भी दुआ यह है कि गंगा जी की बढ़ती हो

• •

सम्पादक-शिरोमणि पण्डित देवीदत्त शुक्ल बैसवाड़ी, अवधी, खड़ी बोली के अद्भुत सङ्गम थे। ऐसी प्रवहमान भाषा में अपनी बात कहते थे कि श्रोता मन्त्र-मुग्ध सुनता रह जाता था। फिर अचानक मौन धारण कर लेते थे। समाधि की सी अवस्था ग्रहण कर लेते थे। उनकी वाणी को सुनना एक अनिवर्चनीय आनन्द का अवसर होता था—एक ऐसा अनुभव, जो अन्यत्र दुर्लभ-अप्राप्य है।

एक प्रश्न इन पंक्तियों का लेखक अक्सर दुहराता था—'पण्डित जी, आप हर बार 'ठोंक-पीट कर वैद्यराज बनाने' की बात अपने पर क्यों लागू करते हैं? आपने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा छोड़े गए अधूरे काम को निष्ठापूर्वक पचीस वर्ष तक सम्पन्न किया; अनगिनित साहित्यकारों को प्रतिष्ठित किया। 'सरस्वती' की गरिमा को अक्षुण्ण रखा।'

इस पर पण्डित जी अक्सर चुप रह जाते। दूसरों को श्रेय देने को उतावले हो उठते। अपने श्रम व निष्ठा की बात का उल्लेख तो करते, लेकिन उसमें भी इनके या उनके प्रोत्साहन-निर्देशन का सन्दर्भ जुड़ा रहता। ऐसे वीतरागी, महापुरुष, निरभिमानी और प्रचार-प्रसिद्धि से कोसों दूर रहनेवाले आदरणीय पण्डित देवीदत्त शुक्ल का पुण्य स्मरण करने का अवसर पाकर मुझे असीम सन्तोष है और श्रद्धावनत हो शुक्ल जी के प्रति नत-मस्तक हूँ।

•

'....शाक्तधर्म सनातन धर्म है। इसका उपदेश महेश ने सृष्टि के प्रारम्भ में लोक-कल्याण के लिए किया था। निष्काम ब्रह्म में सकल ब्रह्म का रूप धारण करके इस ब्रह्माण्ड का अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा उद्भव किया था। उसी की इच्छा-शक्ति के परिणाम-स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पत्ति हुई। उनको अपने-अपने कार्य में सक्षम रखने के लिए उसने ब्रह्मा को सरस्वती की शक्ति, विष्णु को लक्ष्मी की शक्ति प्रदान की। महेश के लिए स्वयं सकल की शक्ति काली-रूप से स्थित हुई....।'

—'शाक्त-धर्म क्या है?', पृष्ठ ६६

'...आज इस बात की भारी आवश्यकता है कि सारे देश में स्थान-स्थान पर अधिकारानुसार भैरवी-चक्र तथा कथा-सभाएँ आयोजित हों और उनमें ब्राह्मणादि सभी वर्ण समान-भाव से साथ-साथ भाग ग्रहण करें। तभी वर्णाश्रम-धर्म की असली भावना हमारे सम्मुख आ सकेगी....।'

—'शाक्त-धर्म क्या है?', पृष्ठ ५१-५२

देव-पुरुष शुक्ल जी की आस्था-निष्ठा का सङ्कल्प

□ पण्डित रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'

पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी मेरे तान्त्रिक गुरु थे। उनके निकट रहा। मेरे परिवार के लोग शुक्ल जी द्वारा प्रवर्तित एवं सम्पादित 'चण्डी' पत्रिका से जुड़े रहे हैं। इधर मुझे उनकी दो साहित्यिक कृतियाँ—'सम्पादक के पचीस वर्ष' और 'कुछ-खरी-खरी'—पढ़ने का सौभाग्य मिला। मैंने कई बार इन्हें पढ़ा। हिन्दी के विकास और अवरोध का जो धुन्ध मेरे मन में स्वतन्त्रता के बाद छाया रहा, वह हटता चला गया। मुझे लगा कि वह तान्त्रिक ऋषि अपनी साधना और गणना में हिन्दी के प्रति कितना समर्पित रहा है! उनके लेखों को क्यों हिन्दी वाले समझ नहीं पाए? कैसे हिन्दी के प्रति लोगों को बहकाया गया और स्वार्थों में हिन्दी फँस गई! आज तो कम-से-कम साफ-साफ एक दस्तावेज आगे रखना ही होगा, ताकि नई पीढ़ी काल और समय को पहचान कर आगे के लिए सावधान हो सके।

शुक्ल जी का जन्म सन् १८८६ में हुआ था। उस समय फिरंगी की राज-सत्ता व्यवस्थित हो चुकी थी। अरबी-फारसी का मोह-भङ्ग हो गया था और फोर्ट विलियम में हिन्दी-उर्दू की नींव पड़ चुकी थी। अंग्रेजी के प्रति आग्रह बढ़ रहा था किन्तु पण्डित-परिवार अपने बच्चों को प्राच्य शिक्षा के लिए बनारस भेज रहे थे। शुक्ल जी की प्रारम्भिक शिक्षा परिवार में हुई और प्राच्य वेदों, उपनिषदों का ज्ञान पाकर आगे स्कूल की पढ़ाई की। वे बचपन से मौन रहते थे। ज्ञान प्राप्त करने की पिपासा थी। निपट देहाती, पर सचेत।

अंग्रेजों के आने से देहातों का ढाँचा बदला था। खेतों की मालगुजारी तिगुनी हो गई। गाँव का चौकीदार चौगुना वसूलता। ग्रामीण पेशे, कला-कौशल नष्ट हो गए थे। अकाल की मार अलग झेल रहे थे। संयुक्त परिवार टूट रहे थे। बच्चे बाहर रोजगार की तलाश में भटकते। ग्रामीण जनता नगर के व्यापारियों पर आश्रित हो गई। खेती पेट भर अन्न नहीं दे पाती थी।

सन् १८५७ के बाद, प्रथम स्वाधीनता-संग्राम के फलस्वरूप राष्ट्रीय चेतना का एक उभार हो रहा था। अपने क्षेत्र के शहीद राना बेनीमाधव के प्रति बैसवारी का लोक-प्रिय गीत शुक्ल जी ने भी सुना होगा—

अवध में राना भयो मरदाना,
पहिल लड़ाई बक्सर मार्‌यो सेमरी के मैदाना।
जहाँ ते जाय पुरवा माँ जीत्यो तबै लाट घबराना॥

सन् १९०४ में 'भारत-मित्र' के दर्शन किए और 'भीषण डकैती' रचना उत्सुकता के साथ पढ़ी। छापे में छपी हिन्दी पत्रिका ने पिपासा बढ़ाई। ढूंढ़-ढूंढ़ कर

अखबार पढ़ने लगे : लेकिन वह पितामह के दीक्षित पौत्र की हिन्दी के प्रति आस्था की गई दिशा थी। कहाँ तो तान्त्रिक भाषा 'अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं' आदि, जिसका उच्चारण आँखें बन्द करने से परम ज्ञान मिलता और कहाँ यह जीवन-व्यापार की हिन्दी-भाषा...! दोनों से तारतम्य तभी से जोड़ा और भौतिक जीवन को आध्यात्मिक साधना से जोड़कर एक सही कर्म-मार्ग पर अग्रसर हो काशी शिक्षा प्राप्त करने गए।

काशी में जहाँ काली मठ जैसी धर्म-स्थलियों में कुछ खोजते रहे, वहीं पढ़ाई में लगे। परीक्षाएँ पास कीं, लेकिन कवि और लेखक मित्रों के साथ कविता रचने का अभ्यास किया। उभरती साहित्यिक रुचि के साथ लेख लिखे और वे छपे भी। यही नहीं, पुस्तकें पढ़ीं और 'चन्द्रकान्ता' बहुत भाई। पहले 'डकैती' ने स्तब्ध किया, तो दूसरा पाठ मिला 'ऐयारी' का, लेकिन दोनों के प्रति रुचि तो नहीं बढ़ी किन्तु अपने सम्पादन-काल में 'बौद्धिक डकैतों' से और 'ऐयारों' से पाला पड़ा, तब अपनी नम्रता और वाद-ग्रस्त स्वभाव न होने के कारण मध्य मार्ग अपना कर सब निभाया।

यह जगदम्बा की अनुकम्पा थी कि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से भेंट हुई और पारखी द्विवेदी जी ने भी पट्ट शिष्य पहचान लिया। वे उनको अपना साहित्य-गुरु मान बैठे और उनके आदेश पर जीवन-यात्रा शुरू की। वे शुद्ध देहाती समाज के भारतीय जीव थे। जब कि नगरीय विद्वान् भारतीय राष्ट्रीयता को पश्चिम की देन कहते, तो वे वैदिक साहित्य की मीमांसा करते कि प्राच्य तन्त्र-साहित्य के रूप में अपार ज्ञान-भण्डार है। वे कहा करते कि महाभारत की रचना के पूर्व व्यास जी 'भारत राष्ट्र' को नमन करते हैं। इस प्रकार प्राच्य ऋषियों के समान दिव्य दृष्टि से उन्होंने पुरातन को आज के कलजुगी समाज से जोड़ने का उद्योग किया।

द्विवेदी जी ने एक प्रतिभावान् युवा को पहचाना, शुक्ल जी ने उनकी आत्मा में झाँककर महा-ज्ञानी को अभिभावित किया। कभी शुक्ल जी ने इण्डियन प्रेस की इमारत देखी थी। संयोग और समय की बात कि वे एक दिन वहीं प्रवेश कर इण्डियन प्रेस के सञ्चालक को उनका पत्र देते हैं। उन्होंने स्वागत किया। वे 'बाल-सखा' का काम देखने लगे।

नौकरी का पहला अनुभव कामताप्रसाद गुरु जी ने 'बाल-सखा' का प्रूफ कुर्सी पर बैठते ही सौंप दिया। वे भौंचक्के रह गए, तो प्रूफ देखने का छपा कार्ड दिया कि इसे देखकर संशोधन करें। एक नौसिखिया पण्डित लौट कर निवास पर आया, तो पूजा-पाठ-कर्म से निपट कर चारपाई पर लेटा हुआ आधी रात तक न जाने क्या-क्या सोचता रहा। अन्त में निर्णय लिया कि कर्म-पथ पर दृढ़ता से चलना है। लगता है कि 'बड़ा काम करना होगा, तभी सफलता मिलेगी।'

'सरस्वती'-कार्यालय में षड्यन्त्र चल रहा था। द्विवेदी जी छुट्टी पर थे। सम्पादक-पद के लिए जोड़-तोड़ हो रहा था। कई महारथी दौड़ लगा रहे थे। 'सरस्वती' की इस प्रतिष्ठा से पण्डित जी के मन में द्विवेदी जी के प्रति श्रद्धा उमड़ी

और सोचा कि उनका विश्वास निभाना है। मालिकों का मधुर व्यवहार और अपना आत्म-विश्वास। पथ कँकरीला था किन्तु दृढ़ता के साथ काम में जुट गए। काम कम होता, तो गप-शप न कर मालिकों से कहते, 'कुछ और काम दें।' 'महाभारत' के लघु संस्करण का सम्पादन कर डाला। यही नहीं, 'बाल-सखा' के सम्पादन-काल (१९२१-२५) में सम्पादकीय टिप्पणियों के अतिरिक्त १४४ लेख, कविता आदि 'बाल-सखा' में लिखे। 'सरस्वती'-सम्पादक का पद मिलने पर अपने कार्य-काल में १६४ टिप्पणियाँ, लेख लिखे। किन्तु धन्य है हिन्दी-जगत्! दो चार पुस्तकों के अलावा या जो ग्रन्थ इण्डियन प्रेस के लिए सम्पादित किए, हिन्दी-विकास-काल के एक जीवित दस्तावेज-स्वरूप उनके पूर्ण साहित्य का प्रकाशन आज तक नहीं हो पाया, जबकि वह सन् १९२१-१९४८ की अवधि के हिन्दी के इतिहास और उसकी नियति की एक ज्वलन्त कथा है !!

'बाल-सखा' के सम्पादक की कुर्सी पर बैठकर, लगता है, एक-एक अङ्क मानों वे कथा-वाचक के समान बच्चों को सुना रहे हों या गीत गाते हुए उनके साथ उमङ्ग और उल्लास में खिलखिला रहे हों। बच्चों के साहित्य का निर्माण-कार्य दुष्कर कार्य है। माँ की गोदी से उतर कर बच्चा पाठशाला जाता है, तो पाठ्य-पुस्तकें जीवन का यथार्थ ज्ञान नहीं दे पाती हैं। शुक्ल जी निरन्तर 'बाल-सखा' की रचनाओं से अबोध बच्चों को राष्ट्रीयता, साहस, देश और समाज के प्रति अनुशासित रहकर भाईचारे और प्रेम की बात उनके मन में बिठाने में 'गुरु देवता' के समान सफल रहे। 'बाल-सखा' की लोक-प्रियता का यही कारण था।

द्विवेदी जी अस्वस्थ होने पर भी आते-जाते रहे, किन्तु अन्त में वे बहुत अस्वस्थ हो गए। इस बीच गुरु जी और बख्शी जी ने भी कार्य-भार 'जहाज के पंछी' की भाँति आते-जाते सँवारा। अन्त में सम्पादक के लिए 'लीडर' में विज्ञापन निकाला गया और शुक्ल जी को उस आसन पर द्विवेदी जी के कहने पर बैठाया गया। द्विवेदी जी का विश्वास था कि वे ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं कि, जब हिन्दी प्रौढ़ावस्था पर आ गई है, उसकी लगाम 'सरस्वती' के माध्यम से सँभाल सकते हैं। शुक्ल जी उस गद्दी पर विराजमान तो हो गए, पर हिन्दी-जगत् में हड़कम्प मचा! किन्तु इण्डियन प्रेस के मालिकों का उन पर अटूट विश्वास था। शुक्ल जी १० से ५ बजे तक अपनी कुर्सी पर बैठे काम पर डटे हुए लिखते रहते। 'सरस्वती' की अपनी रीति और नीति थी। शुक्ल जी अनुशासन के प्रति सतर्क रहते थे।

उस समय हिन्दी के तीन अखाड़े थे—नागरी प्रचारिणी सभा, सम्मेलन और 'सरस्वती' पत्रिका! पहले दो अखाड़े तो बड़ी उठा-पटकी करते और उनकी गूँज पत्रों तक में छप जाती थी। वे पहलवान 'सरस्वती' पर भी छींटाकशी करते और उन्हें मुँह-तोड़ उत्तर दिया जाता किन्तु 'सरस्वती' कभी विवाद-ग्रस्त नहीं हुई। स्वामियों ने शुक्ल जी को पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी। कुछ साहित्यकारों का दबाव मालिकों पर पड़ता, तो वे दो-टूक उत्तर देते कि वे सम्पादक के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

उस काल में सुधा, माधुरी, गंगा, वीणा, चाँद, विशाल आदि भारत आधुनिक सज्जावाले मासिक आए किन्तु 'सरस्वती' वही पुरानी वागमती-रूप में निकलती रही। साहित्य-जगत् में उसका अपना विशेष स्थान रहा। सम्पादक शुक्ल जी का सामाजिक सम्पर्क मात्र कुर्सी तक रहा। वहीं वे उसके सम्बन्ध में वार्ता करते थे। सभा-समाजों में जाने का समय नहीं था। अपना अध्ययन करते और सम्पादन-कार्य के बाद रात्रि में देवी-पूजा में मग्न हो सोते थे। समय के बड़े पाबन्द थे।

रचनाओं को स्वीकृत करने की उनकी अपनी एक कसौटी थी। ये नई पीढ़ी को प्रोत्साहन देकर आगे लाने का उत्तरदायित्व निरन्तर निभाते रहे। उन लेखकों पर उनकी दृष्टि रहती थी, जो राष्ट्रीय आन्दोलन में आगे आए हैं। उनका यह मत था कि स्वस्थ समालोचना की एक सही कसौटी अपनाई जाय, जिससे लेखक को प्रेरणात्मक उत्साह मिले।

मुझसे उन्होंने कई बार कहानी देने का आग्रह किया और मैंने एक कहानी उनको दी। वैसे घर पर अधिकतर 'चण्डी' पर बातें होती थीं। इण्डियन प्रेस में उनको चुपचाप काम करते पाता था। वे बहुत नीरस-से पहले लगे थे। मेरे चचेरे भाई उनके अनन्य भक्त थे। इनके साथ पहली बार घर पर भेंट की और उनका विराट् व्यक्तित्व पहचान कर एक श्रद्धा-मान उमड़ा, जो कि सदा बना रहा। वे बड़े उदार मिले।

शुक्ल जी हिन्दी के प्रसार के प्रति सदा सजग रहे। सन् १६४१ में हिन्दी की दुर्दशा पर उन्होंने लिखा कि पंजाब और सीमा-प्रान्त में हिन्दी के पतेवाले पत्र विस्तारित नहीं किए जाते हैं। इस प्रकार छोटी-छोटी बातें पकड़कर वे बताते कि हिन्दी की सभी दिशाओं के प्रति हमें चौकन्ना रहना है लेकिन हिन्दी के बुजुर्ग लेखक तो हिन्दी-मंच पर अपनी छवि बनाते हुए अपनी 'पहचान' के नशे में डूबे थे और उनको इस बात की कोई चिन्ता न थी कि हमारे लेखकों का न सामाजिक मान है, न आर्थिक सुरक्षा।

१६३०-३१ में लंदन में गोलमेज कान्फरेन्स के बाद जो देश का नया वैधानिक रूप गढ़ने का प्रयास हुआ—भारत राष्ट्र के विशाल जन-मत को ठुकराकर मात्र हिन्दू और मुसलमान जातियों की बात उठाकर अन्य जातियों का तिरस्कार हुआ—उसमें शुक्ल जी अपनी दृष्टि से स्पष्ट देख सके कि यह आगे एक मुस्लिम प्रदेश की भूमिका है। उस बिखराव से तिलमिलाकर एक दूरदर्शी के समान उन्होंने स्पष्ट लिखकर मत दिया कि इस विघटन को नेता बचाने का प्रयास करें किन्तु नेता तो बन्दरबाँट में लगे थे। अन्त में उनकी वाणी सही निकली, पाकिस्तान बन गया। राजनीति की यह उनकी कितनी सही समझ थी। साहित्यकार समाज-विकास की दूरी नाप लेता है, राज-नेता नहीं।

शुक्ल जी की जैसी सजगता हिन्दी साहित्यकारों में न तब थी और न आज है। वे तब भी देहात की बोलियों के जन-समाज से कटे थे और आज भी कहाँ जुड़

पाए हैं ! शुक्ल जी ने हिन्दी के भाष्यकार, प्रचारक, लेखक, सम्पादक—सभी भार तत्परता के साथ निभाए। वे अगस्त्य और शङ्कराचार्य की तरह मौन रहकर अपने काम में जुटे रहे। उन्होंने 'सरस्वती' को ऋग्वेद की वाग्दत्ता, वागेश्वरी मानकर उसका नित्य अपने कार्य-काल में पूजन किया, ऋषियों के समान तपस्या कर आधुनिक देव-भाषा हिन्दी को बनाने का सतत प्रयास किया। मूल रूप में वे एक साधक थे—'चण्डी' और 'सरस्वती'—दो देवियों की आराधना में लीन। उनके लेखों में एक लड़ाकू सम्पादक का तेवर होने पर भी हृदय में ममता का विशाल सागर उमड़ता हुआ मिलता है। वे 'मैं' पर विश्वास न कर 'हम'—एक समाज पर विश्वास करते थे। वह समाज 'सरस्वती' और 'चण्डी' दोनों का था और दोनों में वे ताल-मेल बैठाने में समर्थ रहे। यह उनके व्यक्तित्व की महानता है। वे दोनों की गरिमा के प्रति निष्ठावान् रहे।

पत्रकार की कुर्सी पर शुक्ल जी का मौन साधक-रूप सदा प्रकाशमान रहा। उससे उनके सहयोगियों को दिशा मिली। हिन्दी के प्रोफेसर विद्वानों ने उनके प्रति अन्याय किया। उनके योग-दान की चर्चा तक हिन्दी के इतिहास में नहीं मिलती है, जब कि शुक्ल जी के काल-खण्ड का पूरा ज्ञान पाए बिना हिन्दी के विकास की दिशा समझनी सम्भव ही नहीं है।

शुक्ल जी के शुद्ध देहाती संस्कार थे और बोलियों के प्रति उन्हें बड़ी ममता थी। श्री सन्तराम जी ने 'सरस्वती' में पंजाबी लोक-गीतों पर एक लेख भेजा। वह शुक्ल जी का मर्म छू बैठा और उन्होंने पं० रामनरेश त्रिपाठी से आग्रह किया कि लोक-गीत संग्रह कर उस पर लिखें। उनके इस आग्रह के पीछे उनकी अपनी बैसवाड़ी बोली की समझ थी। उनकी बात मान कर त्रिपाठी जी ने ग्राम्य लोक-गीतों पर अद्भुत कार्य किया किन्तु उस समय भाषा की सही समझ न होने के कारण शुक्ल जी के इस मार्ग-निर्देशन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। बोलियों के महत्त्व के प्रति हिन्दी के साहित्यकार उदासीन ही बने रहे। आज भी वही हाल है।

शुक्ल जी हिन्दी के महान् पक्ष-धर थे। उन्होंने उसे आधुनिक रूप देने में सारा जीवन न्योछावर कर दिया। उनकी पुण्य जन्म-शताब्दी में भाषा पर बहस होनी चाहिए। बोलियों के प्रति शुक्ल जी की ममता होने के कारण ही त्रिपाठी जी ने ग्राम-गीतों पर लिखने की परम्परा चलाई। स्वयं शुक्ल जी ने बैसवाड़े के कवियों पर बड़ी शोध की और भूले-बिसरे बैसवाड़ी काव्य के रचयिताओं का परिचय उनके काव्यांशों के साथ संगृहीत किया, जिसका कुछ अंश 'सम्मेलन-पत्रिका' में प्रकाशित भी हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बोलियाँ हिन्दी की चेरियाँ नहीं हैं, उसके पोषण में समर्थ उसकी माताएँ हैं। उनका हमें यथोचित सम्मान करना है।

शुक्ल जी अपने समय की सामाजिक, राष्ट्रीय और राजनैतिक नब्ज पकड़ने में प्रवीण थे। गांधी जी के प्रति आदर-भाव था किन्तु जब उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' की बात की, तो कड़ा रुख लिया। सम्मेलन ने गांधी जी का समर्थन किया, तो उसे और

टण्डन जी का भी प्रत्याख्यान किया। मैंने कभी शुक्ल जी को सम्मेलन में या टण्डन जी के दरबार में नहीं देखा और न टण्डन जी ने उन्हें सम्मेलन की स्थायी समिति की सदस्यता दी, जब कि वे एक श्रेष्ठ पत्रिका के सम्पादक थे। क्या टण्डन जी उनकी हिन्दी-सेवाओं का आकलन करने में असमर्थ रहे? आकलन कर पाते, तो उन्हें 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित करते और इससे सम्मेलन गौरवान्वित ही होता।

शुक्ल जी लौह क्षमतावाले दृढ़ व्यक्ति थे। आर्थिक स्थिति भली न रहने पर भी परिवार की रक्षा की। उनका विचित्र स्वभाव था—गर्मी-बरसात कभी छाता नहीं लगाया और सादी पोशाक धोती-कुरता ही सदा पहनते थे। अपना दुःख वे अपना मान, भगवान् का अनुग्रह लेकर झेल लेते थे। कभी किसी से अपनी व्यथा नहीं कही। स्वयं सब झेला। एक दिन दफ्तर में काम पर जुटे थे। ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने एक लिफाफा दिया। उन्होंने खोलकर पढ़ा। ठाकुर साहब के पूछने पर कहा, 'दफ्तर का काम निपटा लें। घर लौटते बात करेंगे।' उस पत्र में उनके पुत्र के मोक्ष प्राप्त करने की सूचना थी। उनका अदम्य साहस देखकर दङ्ग हो आता हूँ कि क्या कोई देव-पुरुष धरती पर जन्म ले बैठा होगा!

२० वीं शती के उषा-काल में राष्ट्रीय चेतना के साथ नागरी-प्रचारिणी सभा, 'सरस्वती' और सम्मेलन ने हिन्दी के नेतृत्व का भार लिया था। सभा स्वार्थों की लड़ाई में अपनी सजग सार्थकता खोकर हिन्दी-समाज से कटी, कुछ लोगों की संस्था मात्र आज रह गई है। सम्मेलन के दो-दो पहलवानों का दावा अदालत में पेश है कि कौन संस्था असली और कौन नकली है। 'सरस्वती' कभी की बन्द हो गई। शुक्ल जी के जाने के बाद वहाँ का सशक्त सम्पादक-मण्डल बिखर गया। श्री उमेशचन्द्र मिश्र ने कुछ दिन उसे सँभाला, आगे मलहम-पट्टी होती रही, किन्तु 'सरस्वती' को कोई निःस्वार्थ, निष्ठावान् सम्पादक ही चला सकता था, जो व्यापारियों की पत्रिकाओं के साथ जूझ सके। साथ ही, हिन्दी के विराट् पाठक-समाज को प्रभावित करने की क्षमता रखता हो।

द्विवेदी जी यह जानते थे कि समय की माँग है कि हिन्दी को नया स्वरूप दिया जाय। उन्होंने व्याकरण की कसौटी पर कस कर एक सरल, सुबोध भाषा का निर्माण किया, जिसने लोगों को लुभाया। शुक्ल जी ने अपने लट्ठ बैसवाड़ी संस्कारों के साथ उस भाषा का विकास किया, उसे व्रज-भाषा से मुक्ति दिलाई। उनका पाठक नगरीय नहीं था। वे बचपन में देख चुके थे कि उनके गाँव के ग्रामीण समाज के लोग अखबार पढ़ने में रुचि लेते हैं। वे चाहते थे कि उनकी भाषा ऐसी हो, जिसे नगरीय और देहाती दोनों पाठक पढ़कर समझ सकें। वे पहले सम्पादक थे, जो हिन्दी को ग्रामीण समाज के पाठक से जोड़ने में सफल रहे। भाषा का यह अभियान उनकी अपनी दूर-द्रष्टिता थी। यदि उस समय के महारथियों ने उनका विरोध न कर उनको सहयोग दिया होता, तो आज हिन्दी की यह दुर्दशा न होती।

शुक्ल जी एक धीरोदात्त योद्धा थे। मन उपनिषदों की वाणी से स्निग्ध था

और 'वाक्' बहुत सरस तथा आर्द्र थी। अहङ्कार ने कभी उन्हें छुआ नहीं किन्तु सम्पादक का गर्व और दर्प वे सदा अपनाए रहे। उनकी भाषा में उनके व्यक्तित्व की एक सही पहचान मिलती है। धीर-गम्भीर लम्बोत्तरी चेहरा, तोता-मुखी नासिका, सचेत कुछ ढूँढ़ती आँखों की दृष्टि और टोपी—लेकिन यह रूप सम्पादकाचार्य की कुर्सी का है। परिवार में साधक-भावनावाली माथे पर तीन उभरी रेखाएँ और जगदम्बा में खोए साधक। इन दो अलग-अलग व्यक्तित्वों के पूरक थे—एक पण्डित देवीदत्त शुक्ल।

'सरस्वती' के प्रत्येक अङ्क में हिन्दी की बात करते, टिप्पणी लिखते। दिग्गज महानुभावों के भटकाव पर लताड़ते कि भाषा को भ्रमों में न डालें। हिन्दी-भाषा राष्ट्र की धुरी है। वह भारतीय जन-मानस की राष्ट्रीयता की ध्वजा है। कार्यालय के समय काम में जुटे रहते। कौन आया, कौन गया—यह आवभगत एक प्याली चाय से उनके सहकारी करते। कुछ साहित्यकार रुष्ट होते और गप-शप करना चाहते, तो स्पष्ट दो-टूक बात कहते थे कि यह समय मालिक की नौकरी का है लेकिन कोई नया लेखक आता, तो उससे बात करते हुए लिखने को उकसाते। उसकी रचनाएँ छापने में वरीयता अपनाते। उनकी यह मान्यता थी कि नई पीढ़ी का संरक्षण ही नहीं करना है, उसकी भाषा को तराश और माँजकर हिन्दी को एक मजबूत लेखक देना है। यह उनकी वर्तमान और भविष्य की अद्‌भुत पकड़ थी। दिन भर वे श्रम के बाद रात्रि को माँ जगदम्बा की पूजा कर वरदान माँगते कि वे सन्मार्ग पर चलें।

समाज के राग-द्वेष में शुक्ल जी कभी लिप्त नहीं हुए। न पैसा अतिरिक्त कमाने की लिप्सा मन में जागी। आज उनकी पहचान करने तुला, तो भाव-विह्वल हो आया हूँ। एक साधक गुरु के समान उन्हें सदा माना। आज उनको विराट् पुरुष-रूप में सोचता हूँ, तो पाता हूँ कि उन्होंने हिन्दी-भाषा की सुदृढ़ नींव डाली थी। हिन्दी के विद्वानों, साहित्यकारों और प्रोफेसरों को उनका साहित्य पढ़कर आगे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'शुक्ल-युग' की चर्चा करनी है। इससे यह स्पष्ट होगा कि आज जो हिन्दी में गतिरोध आया है, उसके मूल कारण कुछ महारथियों के स्वार्थ थे। आज वे तत्त्व फल-फूल कर विष-वेल बन गए हैं। हिन्दी पर ग्रहण लगा है।

हिन्दी पर छाए धुन्ध को हटाने के लिए देव-पुरुष शुक्ल जी की हिन्दी के प्रति आस्था-निष्ठा का सङ्कल्प लेना होगा। शुक्ल जी की मान्यताएँ ही हिन्दी को शाप-मुक्त कर सकती हैं। हम उनके चमत्कारी प्रभाव से शिक्षा लें, उनके बताए पथ पर चलें। वे कर्म पर विश्वास करते थे। हिन्दी की राष्ट्रीय भावना के प्रति वे सदा समर्पित रहे। उनके प्रति सही श्रद्धाञ्जलि यही होगी कि हम उनके सङ्कल्प को पूरा करें।

●

नए-पुराने दोनों प्रकार के साहित्य में निष्णात शुक्ल जी

□ श्री त्रिलोचन शास्त्री

हिन्दी में मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का स्थान महत्वपूर्ण है। आरम्भ से लेकर १९६० तक यह पत्रिका पाठकों की प्रत्येक रुचि का ध्यान रखती थी। 'सरस्वती' की वह विशेषता, जिसे महावीरप्रसाद द्विवेदी ने झलकाया था, पं० देवीदत्त शुक्ल के काल में पूर्ण रूप से रूपायित हुई। शुक्ल जी नए और पुराने दोनों प्रकार के साहित्य में निष्णात थे। उनके अनेक लेख मैंने पढ़े हैं। हास्य और व्यंग्य का पुट देने में वे कुशल थे। उनकी हिन्दी आज के हिन्दी-लेखकों से तुलना करने पर अधिक स्वाभाविक और प्रवाह-पूर्ण थी। अफसोस की बात है कि हिन्दी में अच्छे लेखक अब कम मिलते हैं।

इन दिनों हिन्दी लिखनेवाले उपकार के भाव से हिन्दी में लिखा करते हैं। वे यह नहीं मानते कि लिखने से पहले हिन्दी भी पढ़ने और सीखने की चीज है। हिन्दी पर अंग्रेजी का प्रभाव इतना पड़ चुका है कि जो अंग्रेजी नहीं जानते, वे भी अंग्रेजी जाननेवाली फूहड़ वाक्य-रचना करते हैं। यह बात चारों ओर पाई जाती है।

हिन्दी को उसके सहज रूप में लिखने और रखने के लिए बहुत जरूरी है कि हिन्दी के पुराने लेखकों को ध्यान से पढ़ा जाय। देवीदत्त शुक्ल ऐसे ही लेखक हैं, जिनका बराबर अनुशीलन नए लेखक के लिए परम आवश्यक है। शुक्ल जी ने 'सरस्वती' द्वारा लेखकों को प्रशिक्षित भी किया है। उन्होंने 'चण्डी' नाम का एक मौलिक पत्र भी निकाला, जिसके पाठक जानते हैं कि शुक्ल जी शाक्त-तन्त्र को कितना गहराई से जानते थे। यह काम कर्तव्य मान कर वे अनेक वर्षों तक करते रहे।

प्राचीन कवियों का अध्ययन उन्होंने विशेष किया था। इसका पता उनकी समीक्षाओं से तो चलता ही है, निराला जी के एक लेख से भी पता चलता है, जो उन्होंने भौन कवि के विषय में लिखा है। निराला ने स्वीकार किया है कि 'भौन कवि के विषय में जानकारी मुझे देवीदत्त शुक्ल से मिली।' शुक्ल जी और निराला जी के अलावा भौन कवि के विषय में और किसी ने कोई नई जानकारी नहीं बढ़ाई।

शुक्ल जी प्राचीन विचारों को महत्व देते हुए भी आवश्यक नवीन विचारों के प्रतिकूल नहीं थे। साम्प्रदायिक भावों से तो वे सर्वथा अलिप्त थे, यह उनसे मिलनेवाले अच्छी तरह जानते हैं।

नई पीढ़ी के हिन्दी लेखकों को चाहिए कि वे ऐसे हिन्दी-लेखकों की पुस्तकों द्वारा हिन्दी का स्वाभाविक भाषा-प्रवाह सीखें और उसे विकसित करें।

●

मेरे पिता : पं० देवीदत्त शुक्ल

□ कु० श्यामसुन्दरी शुक्ला

मेरे पिताजी एक महान विद्वान् और देश-भक्त थे । हमेशा खादी का कुर्ता, घुटनों तक धोती तथा देशी टोपी लगाते थे । वे विदेशी चीजों का प्रयोग नहीं करते थे । गुड़ या देशी चीनी ही खाते थे । भाषा भी वे बहुत ही सरल गाँव की बोलते थे । जैसे पंखा को वे 'बेना' कहते थे । चमरौधा जूते गाँव से मँगाकर पहनते थे । विदेशी भाषा नहीं बोलते थे । ऐसे तो उन्हें सब भाषाओं का पूर्ण ज्ञान था । हमेशा वे मिट्टी का दीपक जला कर ही पढ़ते-लिखते थे । पेन से नहीं, होल्डर से लिखते थे । साहित्य के वे बड़े प्रेमी तथा ज्ञाता थे । हिन्दी-जगत् में उनका बड़ा नाम था ।

'बालसखा' के बाद जब वे 'सरस्वती' के सम्पादक हुए, तो आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी जी की खुशी का ठिकाना न रहा । वे पिताजी को बहुत मानते थे । भाई की तरह स्नेह करते थे । एक बार पिताजी उनके घर दौलतपुर गए । वहाँ देर हो गई । भोजन का समय हो गया । द्विवेदी जी ने कहा, 'भोजन तैयार है पर आप तो मेरे यहाँ भोजन नहीं करेंगे । २० बिस्वावाले बाला के सुकुल हो ! तब पिता जी ने कहा, 'नहीं नहीं, मैं भोजन करूँगा ।' तब द्विवेदी जी ने बड़े आदर के साथ भोजन कराया । यहाँ तक कि पंखा करने लगे । तब पिताजी ने कहा, 'अरे, आप यह क्या कर रहे हैं ! ऐसा न करिये ।' तब उन्होंने कहा, 'आज हमारे पुरखे तर गये । आपने मेरे यहाँ भोजन किया ।' पिताजी भी उन्हें बहुत मानते थे, गुरु के समान उनका आदर करते थे ।

जब घर लौटकर आए तो अपने बड़े भाई से कहा कि 'भइया, आज द्विवेदी जी ने मुझे भोजन करने के लिए कहा । मैं मना न कर सका, कर लिया ।' तब चाचाजी ने कहा 'बहुत अच्छा किया, कोई हर्ज नहीं । यदि कोई बड़े प्रेम से आग्रह करता है, तो उसे मान लेना चाहिए ।'

पिताजी चैत्र तथा आश्विन के नवरात्र ही में प्रयाग से अपने घर बक्सर जाते थे । जब तक नाव नहीं आती थी, तब तक श्री चण्डिका जी के ऊपर कविता (प्रार्थना) बनाते थे । जब नाव आती, तब गंगा पार करके पहले चण्डिका जी के दर्शन करने जाते और वही बनाई हुई कविता पढ़कर प्रार्थना करते । जैसे—

पामर अधम होऊँ चहे महानीच पापी,
किन्तु हूँ तुम्हारा दास इसका गुमान है ।
चण्डिका तुम्हारा नाम ले-ले जिया चाव भरे,
इसके सिवा न मुझे कुछ ज्ञान है ।
जननी तुम्हारा पा के सबल सहारा नित्य,
मौज से बिताया मैंने जीवन विधान है ।

पूज्य शुक्ल जी

सन् १९४२ में

आशा है भविष्य का भी दीन-दुःख-हारिणी हो।
दया का तुम्हारा तना खूब ही वितान है।

इसी तरह की बहुत सी प्रार्थनाएँ लिखी हैं, जो 'विनय सुधा' नामक पुस्तक में छपी हैं। वे माँ के बड़े भक्त थे। हमेशा वे चण्डिका जी का ही सिंदूर लगाते थे और काशी विश्वनाथ जी की भभूति (भस्म)।

जब संस्कृत से हिन्दी पद्य में 'दुर्गा-सप्तशती' का अनुवाद किया, तब पहले मुझे पढ़ने को दिया और पूछा, 'कुछ समझ में आता है?' मैंने कहा, 'हाँ, बहुत अच्छी है।' तब छपने को दिया।

वे माँ से कहते थे मेरे लिये कि 'ये मुझसे बोलती ही नहीं, नहीं तो इन्हें पण्डित बना दूँ।' मुझे बहुत शर्म लगती थी क्योंकि बचपन में कभी बोले ही नहीं। अपने बड़े भाई का बहुत अदब करते थे। हम लोग चार-पाँच भाई-बहन थे। अब तो तीन ही रह गए हैं। सबसे बड़ी बहन श्रीमती वागेश्वरी देवी मिश्र, जो पूज्य माता-पिताजी के ही पुण्य बल से अपने भरे-पूरे परिवार के साथ कानपुर में सुख से रहती हैं। उनके पति पं० दुर्गाशङ्कर मिश्र जी ने, दामाद होते हुए भी पूज्य पिताजी से मन्त्र-दीक्षा प्राप्त की, जो अपने में एक अनूठी बात है। दूसरी मैं, तो पूज्य पिताजी के ही आशीर्वाद से अपने एक-मात्र छोटे भाई पं० रमादत्त शुक्ल के सर्व-गुण-सम्पन्न परिवार के साथ सुख-पूर्वक जीवन-यापन कर रही हूँ। चार भतीजे और एक भतीजी हैं—श्री भद्रशील, श्रीमती प्रतिष्ठा मिश्र, श्री पुण्यशील, श्री ऋतशील और श्री व्रतशील। इनके ये नाम पूज्य पिताजी ने ही रखे थे और ये सभी यथा नाम तथा गुण हैं।

एक बार माँ ने पिताजी से खर्च माँगा। उन्होंने कहा, 'मेरे पास तो कुछ है नहीं। मैं तो अपने खर्च के लिये कुछ रुपये रखकर बाकी सब घर भेज देता हूँ। केवल किराया माँग कर लाया हूँ।' वे अपने पास रुपए नहीं रखते थे। पैसे से वे बहुत दूर रहते थे। उनके पास एक चन्द्रमौलि शुक्ल वकालत पढ़ने अपने गाँव के पास ही से आए थे। उनको अपने छोटे भाई के समान समझते थे। उन्हीं को अपने निजी खर्च के रुपए दे देते थे। वही सब सामान लाते थे। जब कहीं जाते, तो उन्हीं से खर्च माँगते थे।

माँ की बात उन्होंने द्विवेदी जी से कही कि 'घर में मुझसे खर्च माँगा जाता है। मैं तो सब पैसा घर भेज देता हूँ।' जब द्विवेदी जी घर आए, तो उन्होंने चाचाजी से कहा कि 'क्या आप मुन्नी (मेरी बड़ी बहन) की माँ को कुछ जेब-खर्च नहीं देते? कम-से-कम १०) अवश्य दिया करिए।' तब से चाचाजी ने ५) हर माह देना शुरू कर दिया था।

जब मेरी बड़ी बहन का ब्याह हो गया, तब पिताजी बीमार हो गये। पैर में गठिया जैसी शिकायत हो गई, जिससे वे चल-फिर नहीं सकते थे। तब उनके एक घनिष्ठ मित्र ने चाचाजी को पत्र लिखा कि रमा की माँ को जल्दी प्रयाग भेज दीजिए। किन्तु जब पिताजी को मालूम हुआ कि माँ को बुलाने के लिये पत्र लिखा गया है, तो उन्होंने तुरन्त एक तार दे दिया कि 'यहाँ किसी की जरूरत नहीं है।' वे अपने भाई को दुःखी

करना नहीं चाहते थे। किन्तु वह तार मिला नहीं और माँ प्रयाग के लिये चल पड़ीं। उस समय मैं १५ वर्ष और मेरा छोटा भाई ६ वर्ष का था। जब हम लोग प्रयाग आ गए, तो पिताजी ने माँ से कहा, 'तुम यहाँ क्यों आईं? इससे मेरे भाई समझेंगे कि अब मैं उनसे अलग हो गया। वे बहुत दु:खी होंगे।' माँ ने कहा, 'उनकी इच्छा नहीं थी कि मैं जाऊँ किन्तु बीमारी का हाल सुनकर मेरा जी नहीं लगा। मैं उनसे आज्ञा लेकर चली आई।' इससे पिताजी प्रसन्न नहीं थे क्योंकि वे अपने बड़े भाई को पिता के समान और भाभी को माँ के समान समझते थे। उनका बड़ा आदर करते थे। वे लोग जो कहते थे, वही करते थे। उन्हीं के बच्चों को मानते थे। हम लोगों से बोलते नहीं थे। अपने भाइयों के सामने बड़ा अदब करते थे। वे लोग भी पिताजी से राय लिये बिना कोई काम नहीं करते थे। आपस में बड़ा प्रेम था।

पिताजी का सबके साथ अच्छा व्यवहार रहता था। उन्हें सभी लोग मानते थे। वे सबके शुभचिन्तक थे। हमेशा दूसरों की भलाई किया करते थे।

जब उमेशचन्द्र मिश्र अपने गाँव से आए और पिताजी से नौकरी के विषय में कहा, तो उन्होंने अपने साथ 'सरस्वती' के सहायार्थ रख लिया। वे बड़े विद्वान् और वैद्य भी थे। एक बार हम सब लोगों को उन्होंने दूध तथा आम खाने का निमन्त्रण दिया। उन्होंने कई गाएँ पाल रखी थीं। पिताजी के साथ जब हम लोग उनके घर गए, तब उन्होंने बड़े आदर के साथ सबको दूध तथा आम खाने को दिए। उसके बाद अपने एक्के पर बैठा कर खुद एक्का चला कर घर पहुँचाया। मैंने माँ से धीरे से कहा कि 'देखो, भइया बड़े विद्वान् होकर खुद एक्का चला रहे हैं।' तो उन्होंने सुन लिया और हँसकर कहा, 'क्या कहा? अर्जुन का रथ कृष्ण भगवान् ने चलाया था। मैं भी बप्पा को पहुँचाने के लिये एक्का चला रहा हूँ।' वे पिताजी को तथा अम्मा को बहुत मानते थे।

ब्याह के बाद जब दूसरी बार पिताजी अपनी ससुराल गए, तो उन्हें खादी का कुर्ता, धोती और देशी जूते पहने देख कर घर के लोगों ने कहा, 'लड़का तो जैसे कोई पुरखा हो।' नाना ने उन्हें एक बहुत ही बारीक धोती, जो मुट्ठी में दबा लो और एक रेशमी बनियानी तथा अच्छे बूट जूते दिए और कहा, 'इनको पहनो।' किन्तु पिताजी ने नहीं पहना और न शरबत ही पिया क्योंकि वह विदेशी चीनी का था। उसके बाद वे फिर कभी ससुराल नहीं गए। अपने नियम के बड़े पक्के थे।

जब बनारस से पढ़कर घर आए, तो बाबा ने कहा, 'अब क्या पढ़ोगे? वकालत पढ़ लो।' पिताजी ने कहा, 'मैं झूठी गंगा नहीं उठाऊँगा!' उन्हें सरकारी नौकरी नहीं पसंद थी। सबके कहने पर रायपुर में कुछ दिन मास्टर रहे। बाबा जब बहुत बीमार हो गए, तो पिताजी को बुला लिया और कहा, 'तुम घर ही में रहो क्योंकि घर को देखनेवाला और कोई नहीं है।' बाबा के वे बहुत ही आज्ञाकारी थे। जो कहते थे, वही करते थे। जब बाबा नहीं रहे, तो पिताजी ५ वर्ष तक घर में रहे, खेती कराई, खूब अनाज पैदा हुआ। प्रतिदिन सुबह ११०८ पार्थिव पूजन तथा भगवती बालाजी की

पूजा करते थे । कभी-कभी सवेरे ही खेत पर चले जाते थे । घर में ८, १० नौकर थे । उन्हीं को काम दे कर फिर घर आकर पूजा करते थे । एक दिन माँ ने कहा, 'इस तरह घर में रहकर काम नहीं चलेगा । कई लड़कियाँ हैं, ब्याह कैसे होगा ? कहीं जाकर नौकरी करो ।' तब पिताजी ने कहा, 'मेरे पास तो पैसा है नहीं । मैं कैसे जाऊँ ?' तब माँ ने उन्हें खर्च के लिये कुछ रुपए दिए । तब वे इलाहाबाद गये और इण्डियन प्रेस में 'बाल-सखा' के सम्पादन का कार्य करने लगे । इसके बाद वे 'सरस्वती' के सम्पादक हुए ।

वे भगवती जी के बड़े भक्त थे । प्रतिदिन दो घंटे मुखाग्र पूजा तथा जप करते थे । कोई तस्वीर या मूर्ति रखकर नहीं । पितरों को प्रतिदिन पानी देते थे । उन्होंने मानस-पूजन, हिन्दुओं की पोथी, हिन्दी दुर्गा सप्तशती आदि लिखी हैं, जिनमें पूजा ही का वर्णन है । ऐसे तो बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं । जब उनकी आँखों का आपरेशन हुआ और रोशनी नहीं आई, तब वे लेटे-लेटे ही कर-माला जपा करते थे । प्रतिदिन भस्म और चण्डिका जी का सिंदूर लगाते थे । कभी खाली नहीं बैठते थे । माँ से कोई-न-कोई पुस्तक पढ़वाकर सुनते थे । कविता, दोहा या लेख लिखवाना होता, तो मुझे बुलाकर लिखवाते थे । हिन्दी कविता बनाया करते थे ।

एक बार मैंने मां से कहा, 'मैं भी देश की सेवा करूँगी । मेरा नाम लिखा दीजिए ।' माँ ने पिता जी से कहा, तो उन्होंने कहा, 'पहले घर की सेवा करें, फिर देश की सेवा करेंगी ।'

कुछ दिन बाद कहीं ब्याह ठीक किया । जब मुझे मालूम हुआ, तो रोने के सिवा और कोई उपाय ही न था । मैंने खाना भी नहीं खाया । माँ ने बहुत समझाया किन्तु मैंने माँ से साफ-साफ कह दिया कि 'सब कुछ करने को तैयार हूँ किन्तु इसके लिये नहीं । यदि आप अपने मन की करेंगी, तो मैं भी जो इच्छा होगी, करूँगी । क्योंकि ब्याह का नाम सुनते ही जैसे मेरे शरीर में कोई आग लगा रहा हो ।' ब्याह मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं था । मैं अपने ऊपर और अधिक कर्मों का भण्डार लादना नहीं चाहती थी । ऐसे ही मेरे पास इतना काम था कि मैं अपनी इच्छानुसार न पढ़ सकती थी, न व्रत-पूजा आदि ही कर सकती थी, जिससे मुझे बहुत प्रेम था और सब बेकार समझती थी । मन मार कर रह जाती थी ।

जब माँ ने मेरी बात पिता जी से कही, तो पिता जी ने कहा, 'ब्याह तो सुख के लिये किया जाता है, दुःख के लिये नहीं । अब ये जब जिस दिन कहेंगी, उसी समय इनका ब्याह करूँगा ।' यह बात सुनकर मेरी खुशी का ठिकाना न रहा, जैसे कोई बड़ी निधि मिल गई हो । क्योंकि मैं जानती थी कि पिता जी जो कहते हैं, वही करते हैं । वे हमेशा सत्य बोलते थे । बड़े महान् थे ।जो देन मुझे दी है, वह क्या कोई पिता दे सकेगा ! इसके लिये मैं उनसे कभी उऋण नहीं हूँ । उन्होंने मेरे लिये समाज की बहुत-सी अनुचित बातें सुनीं । जैसे कोई कहता कि 'शुक्ल जी के पास पैसा नहीं है, इसी से ब्याह नहीं किया ।' किन्तु ऐसी बात नहीं थी । यह बात सत्य है कि वे पैसा अपने पास नहीं रखते

थे। पर जब उन्हें जरूरत होती थी, तब पैसा उनके पास आ जाता था। उनका कोई काम रुकता नहीं था। माँ भगवती की उन पर बड़ी कृपा थी। वे सिद्ध पुरुष थे।

लोगों के कहने पर उन्होंने मेरा नाम नार्मल स्कूल में लिखा दिया। मैंने भी सोचा, 'ठीक है। अपना भार किसी के ऊपर नहीं डालना चाहिये।' जब मैं नार्मल ट्रेनिङ्ग (बी० टी० सी०) कर चुकी, तो उसी स्कूल में मुझे एक सहायक अध्यापिका की खाली जगह काम करने को मिल गई। फिर मैंने हाई स्कूल की प्राइवेट परीक्षा दी। किसी तरह पिता जी के आशीर्वाद से पास हो गई क्योंकि घर का काम, स्कूल और परीक्षा की तैयारी करना कठिन था। घर में दो-तीन मेहमान बने ही रहते थे। रात को अस्पताल में भाभी के पास रहना पड़ता था। जब बच्चा १२ दिन का हो जाता था, तब माँ पूजा करने के बाद पिता जी की गोद में दे देती थीं, तब पिता जी कहते थे, 'लो, इसका नाम भद्रशील हो।' इसी प्रकार दूसरे लड़के का 'पुण्यशील', तीसरे का 'ऋतशील', चौथे को 'व्रतशील', पाँचवें का 'पंचशील' रखा। इसके लिये कहा था कि यह गलत नाम रख दिया, फिर वह नहीं रहा। और लड़की का नाम 'प्रतिष्ठा' रखा। उनके आशीर्वाद से पाँचों बच्चे अपनी सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुये। तीन भाई, एक बहन का ब्याह हो गया। सबसे छोटे भाई का अभी नहीं हुआ, जो लखनऊ पर्यटन विभाग में अफसर है। उसी ने मुझसे यह लेख लिखने के लिये कहा है। मुझे तो लेख लिखना आता नहीं, जो समझ में आया, लिख दिया।

मेरे पिता जी बहुत ही सादगी से रहते थे। यहाँ तक कि उनके कुर्ते फट जाते थे, तो उसमें पैबन्द लगवाकर और धोती सिलवा कर पहनते थे। जब कहीं बाहर जाते थे, तो धोती गन्दी और कुर्ता साफ रहता था। यह कहो कि धोती साफ पहन लो, तो कहते थे कि 'क्या मुझे किसी को दिखाना है!' उनके पैरों में वायु-विकार से दर्द होता था, इसलिये माँ उनके प्रतिदिन सुबह-शाम तेल लगाती थीं। आंख का आपरेशन हुआ था किन्तु रोशनी नहीं आई थी; इसलिये माँ ही उन्हें नहलाती थीं। वे बनारस से भस्म मँगाते थे, वही लगाते थे। माँ चण्डिका जी के सिंदूर की बिन्दी लगा देती थीं। एक तरह से माँ उनकी प्रतिदिन पूजा करतीं और बहुत सेवा करती थीं। पिता जी प्रतिदिन सब पितरों को पानी देते थे और कर-माला तो दिन भर जपा करते थे।

पवित्रता पर बहुत ध्यान देते थे। कपड़े उतार कर चौके में भुने चने खाते थे। यदि खाना बनाते समय कोई बात करता, तो नाराज होते थे। कहते थे कि 'आधा थूक तो खाने पर गिरता है। भोजन सब अशुद्ध हो जाता है।' पूजा करते समय यदि कोई बात करता था, तो कानों में उँगली लगा लेते थे।

उनके पास दो-चार आदमी बैठे ही रहते थे। जब रसाल जी आते थे, तब भाँग-ठंढाई बनती। पिता जी तो प्रतिदिन एक चने के बराबर भाँग, ठंडाई, बेल का शरबत या भुने आम का शरबत पीते थे। रसाल जी अपनी निजी रचना पिता जी को सुनाते थे। निराला जी, सुमित्रानन्दन पन्त आदि कवि उनके पास प्रायः आया करते थे।

ठीक समय पर प्रेस जाते थे और ठीक समय से वापस आते थे। अपने साथ एक

थैली में कटी हुई सुपाड़ी, जिसमें कत्था, लौंग, इलायची आदि मिली रहती थी, ले जाते थे। जो लोग उनसे मिलने आते थे, सबको वही खिलाते थे। उनकी सुपाड़ी मशहूर थी। अधिकतर पैदल ही सब जगह जाते थे।

मीठी चीज, खीर आदि बहुत कम पसन्द करते थे। सब्जी के वे प्रेमी थे। जाड़े में बथुआ और गर्मी में चौराई का शाक विशेष रूप से ग्रहण करते थे। दाल बहुत कम लेते थे और घी तो नाम मात्र ही लेते थे। किसी से वे कभी नाराज नहीं होते थे और यदि कभी किसी बात पर किसी से रुष्ट होते थे, तो उससे बोलना बन्द कर देते थे। किसी की निन्दा न तो करते थे और न किसी को अपने सामने किसी की बुराई करने देते थे। माँ को जब पत्र लिखते, तो प्रारम्भ में उन्हें 'देवी' लिख कर सम्बोधन करते और नीचे अन्त में अपना शेष नाम 'दत्त' लिखा करते। वे वास्तव में साक्षात् शिव-स्वरूप ही थे। स्त्रियों को कभी पैर नहीं छूने देते थे। उन्हें देखते ही हाथ जोड़ते थे। मेरे छोटे भाई (रमादत्त) का नाम नहीं लेते थे, उसे 'महापुरुष' कहते थे। जब कहीं वह खेलने जाता, तो माँ से कहते कि 'ये महा-पुरुष तुम्हारे हाथ नहीं लगेंगे। इनको घर में रखो।'

एक बार डा० कैलासनाथ काटजू घर आए। रात के ८-९ बजे होंगे। सीढ़ी पर अँधेरा था, अन्दर लालटेन जल रही थी। पिताजी को दिखाई नहीं देता था। आहट सुनकर उन्होंने पूछा, 'कौन है?' तब उन्होंने कहा, 'मैं कैलासनाथ काटजू हूँ। आपसे मिलने आया हूँ।' पिताजी ने कहा — अरे, आप मुझे बुलवा लेते। यहाँ कहाँ कष्ट करने आए!' फिर बात क्या हुई, मुझे सुनाई नहीं दिया क्योंकि वे फिर बहुत धीमे स्वर में बातें करने लगे थे। श्रीमान् काटजू जी के बड़े सुपुत्र पं० शिवनाथ काटजू तो अपनी धर्मपत्नी के साथ, जिन्हें हम भाभी जी कहते हैं, प्रायः पिताजी के पास आया करते थे और धर्म-चर्चा किया करते थे, परन्तु डाक्टर काटजू जी को मैंने एक ही दो बार घर आते देखा किन्तु जब आये, तब प्रायः घण्टे भर सत्सङ्ग कर वापस गए।

जीवन के अन्तिम दिनों की बात है। मेरी माँ पिताजी के पैरों में तेल लगा रही थीं। पिताजी बोले, 'तुमने मेरी बड़ी सेवा की।' तब माँ ने कहा, 'सेवा का फल भी तो मिलना चाहिए।' पिताजी ने पूछा—'क्या फल?'

'यही कि मैं तुम्हारे सामने न रहूँ।'

यह सुनकर पिताजी हँसने लगे और कहा—'यह कैसे हो सकता है! तुम न रहोगी, तो मेरी क्या दशा होगी, यह नहीं सोचा। मैं तो तुम्हारे अंतिम संस्कार की भी व्यवस्था नहीं कर पाऊँगा और लाचार दुःखी पड़ा रह जाऊँगा, जब कि मेरे न रहने पर तुम मेरा अन्तिम कर्म भी ठीक से करा सकोगी और ऐसा करके तुम कितना पुण्य पाओगी, उसे सोचा भी नहीं जा सकता। फिर स्थूल शरीर न सही, सूक्ष्म रूप से तो मैं सदा तुम्हारे पास ही रहूँगा।'

पूज्य पिताजी की बात ठीक ही थी और वैसा ही हुआ। माँ ने उनका अंतिम संस्कार ही नहीं, वार्षिक श्राद्ध भी ठीक से कराया और जब तक जीवित रहीं, तब तक वे पिताजी को अहर्निश अपने पास ही अनुभव करती रहीं।

पूज्य पिताजी की गाथा अपार है। कहाँ तक लिखूं। यही कुछ लिखकर उन्हें श्रद्धा से नमन करती हूँ। ●

श्री गुरु-महिमा

□ श्रीमती अन्नपूर्णा काटजू

एक दिन मैं अपने गुरुदेव पूज्य शुक्ल जी के आश्रम गई। उनका निवास-स्थान मुझे आश्रम-सा ही प्रतीत होता है। मेरी गुरु-बहिन सुन्दरीजी ने मुझसे आग्रह किया कि मैं भी अपने गुरुदेव के सम्बन्ध में कुछ लिखूं। बड़े असमञ्जस में पड़ गई। लिखने का अभ्यास नहीं। फिर अपने गुरुदेव के बारे में, जिनकी सूझ-बूझ, पवित्र चरित्र व करनी इतनी निर्मल और विशाल है कि लेखनी चलती नहीं। किस ओर से आरम्भ करूँ और किस छोर पर अन्त करूँ, बुद्धि काम नहीं देती। गुरु तो साक्षात् ब्रह्म हैं। जिनके बारे में शारदा, शेष की बोली भी बन्द हो जाती हो और गणेश जी की लेखनी रुक जाती हो, उस पर-ब्रह्म गुरुदेव के बारे में मैं तुच्छ जीव क्या लिख सकती हूँ! यदि कुछ प्रयास भी करूँ, तो सूर्य को दीपक दिखाने सरीखा होगा।

तुलसीदास जी महाकवि, महा-योगी, महा-ज्ञानी तपस्वी होते हुए भी अपने इष्ट-देव राम की कथा लिखने में सङ्कोच करते हैं। अक्षर से लेकर समस्त महात्माओं, सन्तों, सज्जनों से लेकर खलों, दुष्टजनों से भी प्रार्थना करते हैं कि मुझे इस पवित्र कथा को वर्णन करने की शक्ति दो। मैं किससे प्रार्थना करूँ, किससे विनय करूँ? ऐसे परब्रह्म सन्त के विषय में क्या लिखूं? 'सन्त की महिमा भगवन्त न जानें', फिर मैं मूढ़ अज्ञानी क्या लिखूं, कैसे लिखूं? विवेक तो है ही नहीं, बुद्धि ने भी साथ छोड़ दिया है। पर लिखना अवश्य है। बहिन का आग्रह है। टाला नहीं जा सकता।

जिस प्रकार बच्चे की अटपटी, बेढंगी बातों पर माँ-बाप, सज्जन-वृन्द ध्यान नहीं देते हैं, उसी प्रकार मुझे आशा नहीं, पूर्ण विश्वास है कि पाठक-गण स्वयं महापंडित, महा-विद्वान् होते हुए भी मेरी इस अल्प बुद्धि से लिखी हुई कृति की त्रुटियों पर ध्यान न देंगे और क्षमा करेंगे।

जब कभी भी मन में कुछ संशय हुआ, तुरन्त गुरुदेव का द्वार खट-खटाया और शङ्का का समाधान हुआ। सोचती थी कि गुरुदेव के शरीर छोड़ने पर कौन शङ्का-समाधान करेगा? पर यह मेरी भूल थी। गुरु कहीं जाते नहीं। प्रत्यक्ष में नहीं, तो परोक्ष में वह अपने शिष्यों की, अपने भक्तों की बराबर देख-भाल करते रहते हैं। पवित्र कर्म करने की प्रेरणा देते रहते हैं। शरीर छूट जाने पर भी गुरु का सम्बन्ध जाता नहीं। कष्ट आने पर, दुःख पड़ने पर गुरु के स्मरण मात्र से वह सहायार्थ तुरन्त आ जाते हैं। स्वयं कष्ट अथवा दुःख के निवारणार्थ उचित प्रबन्ध करते या किसी के द्वारा करवाते हैं।

मेरे गुरुदेव इतने महान् ज्ञानी, योगी, चरित्रवान् व साधक थे कि क्या लिखूं। विशेषता यह थी कि गुप्त रहते थे। 'सरस्वती'-जैसी उच्चकोटि की पत्रिका के सम्पादक होते हुए भी बड़े मृदु-भाषी, अहङ्कार-रहित थे। इतने ज्ञानी होते हुए भी किसी मामूली

सज्जन से आध्यात्मिक चर्चा या किसी भी विषय पर वाद-विवाद नहीं करते थे। उसकी त्रुटि होते हुए भी उससे उनको यही कहते सुना कि 'आप ठीक कह रहे हैं।'

चाहते, तो विपुल धन सञ्चय कर सकते थे। परन्तु परिश्रम से, आवश्यकता के अनुसार कमाया हुआ पैसा ही उनको रुचिकर था। 'सरस्वती' की एक प्रति भी बिना मूल्य लिए हुए किसी को नहीं देते थे। सोचते थे कि जिसका मैं काम करता हूँ, उसकी हानि न हो। साधारण खाने व साधारण पहनावे में विश्वास करते थे। कटरे के अपने निवास-स्थान पर बस एक खपरैल की मढैया ही उनके बैठने, उठने, सोने, पूजा करने का स्थान था। एक बार मेरे गुरु-भाई रमादत्त जी ने उनसे प्रार्थना की कि 'गर्मी अधिक है, आज्ञा करें, तो खस की टट्टी—पंखे की व्यवस्था कर दूँ।' उस पर उत्तर दिया कि 'यदि तुम टट्टी-पंखा लगाओगे, तो मैं यहाँ से चला जाऊँगा।'

गुरुदेव तो आध्यात्मिक अग्नि में तपे हुए स्वर्ण-जैसे थे। अन्दर से बिलकुल अहङ्कार-रहित, निर्लेप, निर्द्वन्द्व, निर्विकार।

एक बार घर में अकेले ही थे। खाना स्वयं अपने हाथ से बनाते थे। दफ्तर जाने का समय हो रहा था। खाना थाली में परोस कर खाने बैठने ही वाले थे कि एक ब्राह्मण देवता आ गए। खाने का निवेदन किया और थाली उस अतिथि के सम्मुख सहर्ष रख दी। उन्हें तृप्त करके स्वयं थोड़ी-सी चीनी मुँह में डाल, पानी पीकर दफ्तर चले गए। शाम को लौटने पर फिर भोजन बना कर खाया। ऐसे उदार मेरे गुरु थे।

शक्ति-उपासना में तो वह अद्वितीय थे। पहले आन्तरिक उपासना को गुप्त रखा जाता था। परन्तु उन्होंने ही पहले पहल इसका प्रचार करके इस उपासना को आगे बढ़ाया। जो कार्य बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् पण्डित न कर सके (आन्तरिक शक्ति-उपासना को जग-जीवन में उतारना), वह कार्य मेरे गुरुदेव ने सरलता से सम्पन्न किया।

वह गृहस्थ थे। गृहस्थ माने जो गिरि को सदैव अपनी भुजाओं पर उठाए रहे। कृष्ण ने, हनुमान ने, रावण ने कभी एक बार पर्वत उठाया होगा परन्तु गृहस्थ तो सदैव पर्वत उठाए चलता है। गृहस्थी में ऊँच-नीच, उतार-चढ़ाव आता ही रहता है परन्तु वह इन परिस्थितियों से कभी भी विचलित नहीं हुए। ब्रह्मचारी, योगी, संन्यासी और त्यागी यदि वैभव, मान-मर्यादा की अनदेखी करे, तो कोई विशेष बात नहीं। जब कोई वस्तु उनके पास है ही नहीं, तो लोभ कैसा? परन्तु गृहस्थी का भार सँभालते हुए जो लक्ष्मी को मानता न देकर सरस्वती का उपासक हो, वही महान् है।

एक बार मेरे पतिदेव पं० शिवनाथ काटजू, मेरी छोटी पुत्री दामिनी व मैं गंगोत्री गए। वहाँ से गङ्गा-जल लाए। हमने गुरु महाराज के चरणों में एक बोतल जल अर्पण किया। आप जानते हैं कि वह इस पर क्या बोले ?

'यह जल नहीं, अमृत है—अमृत!' यह भावना थी उनकी गंगोत्री के जल के प्रति।

एक बार गुरुदेव ने मेरे पति से कहा, 'वर्षों हो गए भारत को स्वतन्त्र हुए। फिर भी कैसी विडम्बना है कि असली अक्षयवट की कोई खोज नहीं करता है। जन-

साधारण से झूठे बनावटी लकड़ी के कुन्दे को पुजवाया जाता है।' आज्ञा दी कि 'तुम पता लगाओ।' गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके निकल पड़े उनके पट्ट-शिष्य शिवनाथ काटजू। गुरु को स्मरण करते हुए बीहड़ जंगल में, घास-पत्तों को चीरते हुए, साँप, बिच्छू, कीड़े-मकोड़े से निडर, घुस ही तो गए किले में अक्षय-वट का पता लगाने ! गुरुदेव के बताए हुए चिह्नों से अन्त में खोज कर ही डाली। प्रथम एक डाली तोड़ कर श्री चरणों में रख दी और गुरु का आशीर्वाद पाया। इससे अधिक शिष्य को और क्या चाहिए ! हमारे गुरुदेव के पास जो कुछ आध्यात्मिक निधि थी, सब हम पर उड़ेल दी। सच है, सच्चा गुरु, गुरु बनाता है चेला नहीं। अपने ही तद्-रूप कर देता है। यही उन्होंने किया। हम कितना उसका लाभ उठाएँ, यह हमारी क्षमता पर निर्भर है। परन्तु उन्होंने अपनी ओर से कोई चीज हमसे छिपा कर नहीं रखी।

एक बार कृष्ण-जन्माष्टमी के त्योहार पर हमने उन्हें निमन्त्रण दिया। तख्त पर भगवान् का झूला था। चबूतरे पर बैठने के लिए कुर्सियाँ पड़ी थीं। उन्होंने यह कह कर कि 'भगवान् से ऊँचे स्थान को मैं ग्रहण नहीं कर सकता हूँ' नीचे बैठने लगे। इस पर हम लोगों ने चबूतरे पर आसन बिछा कर उन्हें बिठाया। ऐसी भावना थी मेरे गुरु की।

ग्रीष्म-काल की छुट्टी के पश्चात् जब कभी मैं बाहर से आती थी, तो गुरुदेव के लिए कुछ-न-कुछ भेंट अवश्य लाती थी। हरसिल में हाथ के कते, हाथ के बुने विशेष प्रकार के गर्म कम्बल मिल रहे थे। एक महाराज के लिए भी लाई। गुरु-दर्शन की लालसा, फिर कम्बल भेंट करने की अभिलाषा के कारण स्मरण ही नहीं रहा कि सनीचर को नहीं ले जाना चाहिए था। हम स्त्रियों का इन बातों पर अधिक ध्यान आकर्षित होता है। मेरी गुरु-माता को तनिक इस बात का आभास हुआ। परन्तु गुरु महाराज इन मानताओं से बहुत ऊपर थे। झट उसी समय अपने तख्त पर बिछाया और आशीर्वाद दिया।

गुरु, इष्ट और मन्त्र एक ही हैं। चाहे गुरु का ध्यान कीजिए, चाहे इष्ट का स्मरण कीजिए या चाहे मन्त्र जपिए। इन सबका तत्त्व एक ही है। रास्ते चाहे अलग-अलग हों परन्तु लक्ष्य एक ही है। अभिसारिका दो प्रकार की होती है। पहली :— शुद्ध-बुद्धि, निर्मल-हृदय व चरित्रवान व्यक्ति अपने इष्ट का आह्वान करता है और इष्ट स्वयं उसके सामने आ जाता है। दूसरी :— दुर्बुद्धि, मलिन-मन व चरित्र-हीन इष्ट को बुलाता है परन्तु इष्ट, इष्ट होना स्वीकार नहीं करता। सुग्गे की तरह मन्त्र को बिना समझे, बिना श्रद्धा के जपने से कोई लाभ नहीं। मेरा स्वयं का अनुभव है कि जब-जब कष्ट या दुःख के समय मैंने अपने गुरु का स्मरण किया है, उन्होंने तुरन्त मेरे भार को सँभाला है।

एक बार हम दोनों गोआ गए थे। वापसी पर हवाई जहाज का टिकट नहीं मिल रहा था। उस दिन इनको बम्बई पहुँचना अनिवार्य था। बुद्धि काम नहीं कर रही थी कि क्या किया जाय ? हमारे नाम वेटिङ्ग लिस्ट पर थे। यह दफ्तर में टिकट का

पता लगाने गए हुए थे । मैं सामान के पास कुर्सी पर बैठी थी । एकदम गुरुदेव का स्मरण हो आया । सोचा, इस समय बस, वही पार लगा सकते हैं । झट गुरु का ध्यान करके मन्त्र जपने लगी । यह दौड़ते हुए आए कि दो टिकट मिल गए हैं । जहाज़ के पास शीघ्र ही पहुँचना है । कदाचित् हम ही दोनों अन्तिम व्यक्ति होंगे, जो जहाज पर चढ़े । गुरु के आशीर्वाद वरद हस्त सदैव हमारे सिर पर हैं । ऐसे ही कई बार मैंने अनुभव किया है कि जब कभी भी कष्ट या दुःख-रूपी राक्षस सामने आया नहीं कि गुरु रक्षणार्थ पहुँच कर अपनी ढाल सामने कर देते हैं ।

देवता विमुख हो जाए, तो गुरु रक्षा करता है । इसके विपरीत यदि गुरु विमुख हों, तो देवता भी बचा नहीं सकता है । कहाँ तक लिखा जाए, गुरु की महिमा अपरम्पार है । सन्त लोग कह गए हैं—

"गुरु गोविन्द दोनों खड़े,
काके लागूँ पायँ ?
बलिहारी गुरु आपकी,
जो गोविन्द दियो बताय ॥"

वृद्धावस्था में उनकी दृष्टि जाती रही थी । कभी इस बात पर भगवती को उलाहना नहीं दिया । सब अवस्था में प्रसन्न-चित्त रहते थे व हरि-इच्छा समझते थे । बैठे-बैठे अपने गुरु व भगवती माँ के भजन बना-बना कर गाया करते थे । ऐसे महान् गुरु के शिष्य होने का हम दोनों को गौरव प्राप्त है ।

कहाँ तक अपने गुरु महाराज के गुणों को लिखूँ ? लिखने बैठूँ तो एक पोथी नहीं, पोथा तैयार हो जाये । जो कुछ मेरी अल्प बुद्धि में आया और इस तुच्छ लेखनी से बन पड़ा, लिख दिया । जो त्रुटियाँ हैं, कमी है, वह मेरी है । जो कुछ अच्छाइयाँ हैं, वह मेरे गुरुदेव का आशीर्वाद है ।

इस लेख का श्रेय मेरी गुरु-बहिन महा-योगिनी सुन्दरी जी को है । उनके ही कहने से—उनकी ही प्रेरणा से मैं कुछ अपने प्रातःस्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव के सम्बन्ध में लिख सकी ।

पूज्य गुरुदेव के चरणों में समर्पित ।

●

'....यह 'कुल-धर्म' सनातन है । इसमें भेद-भाव को स्थान नहीं है । भेद-भाव होने से धर्म की हानि होती है । जगदम्बा से मेरी प्रार्थना है कि तुम सब में यह भाव दृढ़ करे ।....'

—'धर्म-मार्ग पर', अन्तिम आदेश, पृष्ठ २४५

कौलाचार्य शुक्ल जी महाराज और मेरी आत्म-कथा

□ न्यायमूर्ति पण्डित शिवनाथ काटजू

मेरा प्रथम विवाह जनवरी १६३५ में लाहोर के विख्यात डाक्टर बालकृष्ण कौल की पौत्री गिरिजा जी से हुआ था। २५ दिसम्बर, १६३५ को मेरी कन्या विलास का जन्म हुआ। उसके बाद से ही गिरिजा जी रोग-ग्रसित हो गईं। उन्हीं दिनों १६३६ के नवम्बर-दिसम्बर में देश में चुनाव-प्रचार तेजी से चला, जिसमें कांग्रेस ने भाग लिया। उत्तर प्रदेश की विधान-सभा के चुनाव में मेरे स्वर्गीय पिता डा० कैलासनाथ काटजू इलाहाबाद जिले के द्वाबा क्षेत्र से प्रत्याशी थे। उन्हें हाइकोर्ट के काम से समय नहीं मिलता था। उन्होंने मुझे चुनाव-कार्य में अपना एजेण्ट बनाया, जिसके फलस्वरूप मुझे नित्य ही, प्रयाग से बाहर रहना पड़ता था।

उन दिनों प्रयाग से एक दैनिक समाचार-पत्र "विजय" निकला करता था। उसके सम्पादक पं० केशव मिश्र थे। मैं अपने चुनाव-प्रचार के समाचार 'विजय' में प्रकाशित करवाया करता था। केशव मिश्र आयु में मेरे बराबर ही थे और मेरी उनसे मैत्री हो गई। हम दोनों का मिलना सप्ताह में तीन-चार बार अवश्य ही होता था। बातों-बातों में मैंने केशव जी से काश्मीरी ब्राह्मणों की शक्ति-उपासना की चर्चा की। केशव जी पं० देवीदत्त जी शुक्ल महाराज से मिला करते थे। उन दिनों शुक्ल जी 'सरस्वती' के सम्पादक थे। केशव जी ने शुक्ल जी से मेरी चर्चा की और जब मैंने शुक्ल जी महाराज के दर्शन की उत्सुकता प्रकट की, तो वे ही मुझे प्रथम बार शुक्ल जी के कटरा निवास-स्थान ले गए और तभी से मैं उनके सम्पर्क में आया। मैंने शुक्ल जी महाराज से बराबर मिलना आरम्भ किया, जो उनके जीवन-काल तक बराबर चलता रहा।

गिरिजा जी का स्वर्गवास लाहौर में २८ मार्च १६३८ को हुआ। उनके निधन ने मेरी स्थिति दयनीय कर दी। मैं शुक्ल जी महाराज से बराबर मिलता रहता था। वे भी हमारे घर आया करते थे और मेरी माता जी उनसे बहुत उत्सुकता से मिलती थीं। जो मेरे भाग्य में था, वही हुआ और मई १६३६ में अन्नपूर्णा जी ने मेरे जीवन में पदार्पण किया। उसके तीन साल के बाद महाराज ने हम दोनों को अपनी शरण में पूर्ण-रूपेण ले लिया। इस आत्म-कथा को मैंने अपने "देवता" शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है। "देवता" मेरी पुस्तक "खोए फूल" में प्रकाशित हुआ था। आज मैं उसी "देवता" को पुनः अपने इस लेख के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ—

देवता

[१]

'मेरे देवता!'

मैं मानव हूँ, देवता नहीं। मुझे 'देवता' मत कहो।'

'मैं कहूँगी, मैं तुम्हें इसी रूप में देखती हूँ।'

'तुम्हारे कहने से क्या मैं देवता बन जाऊँगा ?'

'आज नहीं, तो कल अवश्य बनोगे। यह ध्रुव सत्य है।'

'क्या मुझे वर-दान दे रही हो ?'

'यही समझ लो।'

वह दिन है और आज का दिन है और इसके बीच में वर्षों का बीता हुआ एक युग। परन्तु उस वर-दान ने मेरा कभी भी साथ नहीं छोड़ा। यदि पृथ्वी पर देवत्व की खोज का लक्षण यही है कि काँटों पर ही सदा पग रहें और हृदय में एक विलक्षण-सी ज्वाला सदैव प्रज्वलित रहे, तो निस्सन्देह ही मैं इसी जीवन में देवत्व की ओर बढ़ता रहा हूँ। लक्ष्य के निकट कितना पहुँचा हूँ, यह दूसरी बात है।

१९३७ में ही मैं आचार्य के सम्पर्क में आ गया था, परन्तु उस काल में मेरा जीवन अग्नि-शिखाओं के बीच में होकर जी रहा था। १९३५ में वह मेरी सहधर्मिणी बन कर आई थी। वह नव-यौवना थी। अपने परिवार में बड़े प्रेम से पली थी। वह बहुत उमङ्ग और आकांक्षाएँ लिए हुए मेरे पास आई थी। उसके हृदय में मेरे लिए अगाध प्रेम था। मैंने भी उसको अपने हृदय में बसा लिया। वह नव-विकसित कुमुदिनी थी। एक वर्ष वसन्त बना हुआ बीत गया। उसके पश्चात् ही हम दोनों का जीवन धधकते हुए ज्वालामुखी की ओर बढ़ने लगा। वह मुरझाने लगी। देखते-देखते कुम्हला गई। बहुत चिकित्सा हुई, परन्तु सब निष्फल रही। मैं उसे लेकर हिमाचल के उपचार-गृहों में घूमा। सब चेष्टाएँ अपने स्थान पर ही रह गईं, उसका स्वास्थ्य गिरता ही गया। उसने बड़े साहस से रोग का सामना किया, परन्तु कभी-कभी वह अपनी परिस्थिति देखकर हताश हो जाती थी। उसका शरीर सूख गया था, परन्तु जब वह मेरी ओर देखती थी, तो मुझे उसके नेत्रों में वही मद दिखता था, जिसकी झलक मुझे उससे प्रथम मिलन पर मिली थी। वह जीवन का रसास्वादन करना चाहती थी। उसके हृदय में उमंगें भरी हुई थीं। मैं अन्त तक यही आस लिए था कि सम्भवतः वह फिर नीरोग हो जाए, परन्तु भाग्य में यह नहीं लिखा था। २८ मार्च, १९३८ को लाहौर में उसके जीवन का दीपक बुझ गया। जिसको नव-वधू के रूप में मैं हाथ पकड़ कर अपने घर लाया था, उसी की अस्थियों को लेकर मैं पुनः प्रयाग आया और उनको गङ्गा की गोद में प्रविष्ट कर दिया।

[२]

मैं आचार्य से लाहौर से लौटने के पश्चात् मिलता रहा। उन्होंने मुझे सान्त्वना और शान्ति देने की चेष्टा की। मुझे धैर्य दिया। परन्तु उनके भाव में करुणा थी, मोह नहीं। वे मुझे दुःखी देखकर विचलित नहीं हुए। मेरी दारुण स्थिति को ऐसे देखा, जैसे

कोई शान्त मुद्रा से बैठकर संसार के चल-चित्रों को देखता हो। कभी-कभी तो वे ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे कैलास-शिखर पर चन्द्र-शेखर अनङ्गहर बैठे हुए अपने अर्द्ध-विकसित नेत्रों से त्रिभुवन के अट्टहास को देख रहे हों। उनकी वह कठोरता मेरे लिए असहनीय हो जाती थी, परन्तु उन्हें तो अग्नियों की धूम-लेखाएँ भाग्य की रेखाएँ बनकर दिखती थीं। मुझे उनका दृष्टि-कोण कुछ समझ में आने लगा।

मैं आसक्त था, वे निर्द्वन्द्व। मैं मोह-ग्रसित था, वे जितेन्द्रिय। मैं दुःख-सुख के बन्धनों में बँधा था, वे इन पाशों को काट चुके थे। मैं अन्धकार में पड़ा था, उनकी दृष्टि सूर्य की रश्मियाँ बनकर तिमिर को ध्वस्त कर चुकी थीं।

एक दिन उन्होंने मन्द मुस्कान के साथ कहा—'आयुष्मान् ! तुमने अपने भविष्य के सम्बन्ध में क्या निश्चय किया है ?'

मैं उनका अभिप्राय नहीं समझा। मैंने बिना समझे ही कहा—'अब मेरे भविष्य में क्या रह गया है, जिसकी चिन्ता करूँ ?'

'नहीं, ऐसा विचार न करो। तुमसे बड़ी आशाएँ हैं। अभी तुम्हें जीवन में बहुत कुछ करना है। उसके लिए तुम्हें अपने आपको योग्य बनाना है। तुम्हें आत्म-उत्थान के मार्ग पर अग्रसर होना है। उसमें अब अधिक विलंब नहीं है।'

'आचार्य ! मैं क्या करूँ ? मुझे नैराश्य की भावना घेरे हुए है।'

'नहीं, नहीं। ऐसा मत सोचो। तुम्हारे जीवन में शीघ्र ही नवीन ज्योति आएगी।'

'कैसे ?'

'तुम्हें फिर गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करना पड़ेगा।'

'यह अब मुझसे नहीं होगा। जिस अग्नि-ताप से मैं अभी निकला हूँ, उसकी वेदना मुझे जीवन भर दग्ध करती रहेगी।'

'आयुष्मान्, तुम बलिष्ठ संस्कारों से जकड़े हुए हो। उनसे कैसे विमुख हो सकते हो ? उन्होंने तुम्हें बलात् आकृष्ट किया है और भविष्य में भी करेंगे। तुम्हारा वह दाम्पत्य-जीवन, जो कुछ समय पूर्व समाप्त हुआ है, वह भी संस्कारों का फल था। तुम चाहते हुए भी उससे कभी दूर नहीं रह सकते थे। उसके वियोग ने तुम्हें दारुण वेदना दी। इसे भी तुम्हें भोगना था परन्तु इस ताप ने कुछ अंश में तुम्हें कुन्दन बनाया है। अभी तो तुम्हें दुर्गम मार्गों पर लम्बी यात्रायें करनी हैं। उसके लिये तुम्हें अपने आपको समर्थ और बलवान बनाना पड़ेगा। तुम्हारी भावी जीवन-संगिनी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। अब आगे के पथ पर तुम उसके बिना नहीं चल सकते। उसका और तुम्हारा संयोग अब अधिक समय तक नहीं टल सकता।'

आचार्य के इन शब्दों ने मुझे कम्पित कर दिया। जिस प्रसङ्ग से मैं दूररहना चाहता था, उन्होंने उसी को इतनी स्पष्टता और दृढ़ता से कहा। मैं चुप होकर उनकी ओर देखने लगा। वे फिर बोले—'तुम्हें जिस मार्ग पर अब शीघ्र ही चलना है, उसमें एकाङ्गी रहकर बढ़ना भयावह ही नहीं, हानिकर है और इसके अतिरिक्त तुम्हारे संस्कार ही यह संकेत कर रहे हैं कि तुम्हारी भावी सहचरी का तुम्हारे निकट आने का समय

आ गया है। वह शक्ति-रूपा है। वही तुम्हारे आनेवाले क्रिया-कलाप में तुम्हें सहयोग देगी और तुम्हें निरन्तर आगे बढ़ाएगी।'

'क्या मैं अकेला उस मार्ग पर नहीं चल सकता ?'

'तुम शक्ति-उपासना में शीघ्र ही अग्रसर होगे। इस साधन-मार्ग में शक्ति का संयोग आवश्यक है और स्वकीया शक्ति ही श्रेष्ठ है। शक्ति का संसर्ग तुम्हारे मार्ग को सरस और सरल बना देगा और समस्त भयावह बाधाओं से तुम्हारी रक्षा करेगा। इस पथ पर एकाङ्गी यात्रा भी हो सकती है, परन्तु वह सबके लिये नहीं है। तुम तो गृहस्थ-जीवन के अधिकारी हो और तुम्हारे संस्कार भी इसी का संकेत कर रहे हैं।'

'यदि इस उपासना-मार्ग में स्त्री का संसर्ग आवश्यक है, तो मैं इससे दूर रहूँगा। इस जीवन में पुनः प्रवेश करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है।'

'आयुष्मान्, तुम अपने आनेवाले जीवन से विमुख नहीं हो सकते। यदि ऐसा सोचते हो, तो यह तुम्हारी अनधिकार चेष्टा होगी। जब महामाया ज्ञानियों के चित्त को भी बलात् खींचकर मोहित कर देती है, तो तुम तो अभी अबोध हो। तुम अपने प्रबल संस्कारों के आकर्षण के आगे कब तक अपने हठ पर टिके रह सकते हो ?'

'मुझे इस प्रकार के आकर्षण का अभी कोई संकेत नहीं मिला है।'

'तुम्हें स्वयं इसका अनुभव होगा। इसका समय दूर नहीं है। गृहस्थ जीवन में पुनः प्रवेश करने के पश्चात् ही तुम अपने भविष्य के क्रिया-कलाप में प्रवेश करने के अधिकारी बनोगे।'

'उसमें मुझे क्या करना होगा और मैं कहाँ पहुँचूंगा ?'

'तुम्हें क्या करना होगा, यह तो तुम्हें समय पर ज्ञात होगा, परन्तु देवता बनना पड़ेगा।'

'देवता'—इस शब्द ने मुझे भयभीत कर दिया। जिस अग्नि-परीक्षा से मैं निकला था, वह क्या कम थी और यदि भविष्य में भी यह उपाधि मेरे साथ आलिङ्गित रही, तो और कितनी यातनाएँ मेरे सम्मुख आएँगी, यह विचार करके ही मैं अधीर हो गया।

आचार्य ने प्रसन्न मुद्रा में कहा—'तुम्हें स्वयं देवता बनकर उपास्य देव की आराधना करनी है। यही श्रेष्ठ क्रम है।'

'मुझे 'देवता' का शब्द ही व्याकुल कर देता है।'

'क्यों ?'

मैंने आचार्य को थोड़े शब्दों में इस शब्द की पृष्ठभूमि बताई। वे सुनकर हँसे और बोले 'उसने तुम्हें 'देवता' कहा है। तुम निश्चय ही इसी जीवन में देवत्व प्राप्त करोगे। तुम्हें देवी ने वरदान दिया है। वह निष्फल कैसे रह सकता है ?'

'देवत्व की प्राप्ति के लिये मुझे क्या करना पड़ेगा ?'

'आयुष्मान् ! बहुत काल तक तुम्हें जीवन में ठोकरें खानी पड़ेंगी और अनेक यातनाएँ सहनी पड़ेंगी, परन्तु अन्त में तुम्हें लक्ष्य की प्राप्ति होगी।'

'जीवन में देवता कैसे होते हैं ?'

'कुछ तो वे देवता हैं, जिन्हें पृथ्वी पर आना पड़ता है। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो मानव होते हुए भी अपनी चेष्टाओं से देवत्व प्राप्त करते हैं, परन्तु इन सभी का जीवन-मार्ग काँटों से परिपूर्ण रहता है।'

'मानव किस प्रकार से देवत्व प्राप्त करते हैं ?'

'आयुष्मान् ! वे योग-बल से दैव शक्ति पर प्राबल्य प्राप्त करते हैं और स्वयं देवताओं की तरह विश्व-संचालन के कार्य के अधिकारी हो जाते हैं।'

मैं चकित भाव से आचार्य की ओर देखता रहा।

[३]

वही हुआ, जो आचार्य ने कहा था। भीषण सूर्य-ताप के पश्चात् चन्द्रमा की सुख-मय ज्योत्स्ना को लिए हुए उसने मेरे विक्षिप्त जीवन में पदार्पण किया। वह गहरे नीर की तरह प्रशान्त है। उसकी गम्भीर मुद्रा ऐसी है, जैसे कोलाहल-पूर्ण जगत् में रहते हुए भी वह उससे पृथक् है। उसके नयनों में संसार की पीड़ा के ताप को दूर करने की सामर्थ्य है। वह हर प्रकार से मेरे क्रिया-कलापों में सहयोग ही नहीं, उन्हें आगे बढ़ाने की क्षमता रखती है। उसने कभी भी मेरे कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में किसी कौतूहल का प्रदर्शन या आश्चर्य नहीं प्रकट किया। सर्वदा यही विदित होता था, जैसे वह स्वयं भी जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से उसी मार्ग पर चलने की अधिकारी है, जिसकी खोज में मैं वर्षों से भटक रहा था।

× × ×

एक दिन मैं आचार्य के पास गया। वे मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'आयुष्मान्, मैं तेरी प्रतीक्षा कर रहा था।'

'मैं भी आपसे मिलने के लिये व्याकुल था, आचार्य ! सांसारिक दृष्टि से मुझे बहुत कुछ प्राप्त है। परन्तु हृदय में एक विचित्र ज्वाला है, जो सर्वदा धधकती ही रहती है और मुझे चैन नहीं लेने देती।'

'तुम्हारा क्या लक्ष्य है ?'

'जीवन की साधारणता से ऊपर उठना। वह कैसे होगा, यह मैं नहीं जानता।'

'तुझे जीवन का मोह है ?'

'कुछ अंश में है ही।'

'तुम्हें घृणा और लज्जा का भाव है ?'

'हाँ—आचार्य !'

'तुम दुःख में दुखी और सुख से सुखी होते हो ?'

'यह भी बहुत अंश में सत्य है।'

'स्त्री तुम्हें आकर्षित करती है ?'

'मैं नहीं कहूँगा कि बिल्कुल नहीं करती।'

'तुम्हें धन की कामना है ?'

'उसकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी वह मुझे मोहित नहीं कर सकता।'

'आयुष्मान्, तुम सत्यवादी हो। महा-माया तुमसे प्रसन्न है, तुम कौल-मार्ग के अधिकारी हो। आज ही निशा में तुम दोनों का संस्कार होगा।'

बहुत काल भटकने के पश्चात् यह दिन आ ही गया।

[४]

पूजन-गृह बन्दनवार और पुष्पों की मालाओं से सुसज्जित था। धूप और गुग्गुल की धूम्र-शिखाएँ उसमें व्याप्त थीं। आचार्य चक्रेश्वर थे। उनके वाम में उनकी शक्ति थी। सामने एक रजत थाली में यन्त्र स्थापित था। उनके दक्षिण भाग में मैं और मेरी सहचरी, आगे दो अभिषिक्त वेद-पाठी ब्राह्मण थे। हम सभी चक्राकार-रूप में बैठे थे। पहले वेद-पाठ हुआ। उसके पश्चात् आचार्य ने अर्चन आरम्भ किया। अपने सम्मुख पात्र स्थापित किए। घट पूर्ण किया और उसका शोधन किया। यन्त्र के केन्द्र में भुवन-मोहिनी का आवाहन किया। उनके साथ-साथ उनके भैरव और देव-मण्डल का फिर आवरण-पूजन आरम्भ हुआ। गुग्गुल, चन्दन, केसर और धूप के जलने से उत्पन्न हुआ धूम्र समस्त पूजन-गृह में आच्छादित था। उसने मस्तिष्क में प्रविष्ट होकर मन और बुद्धि की गति में उल्लास उत्पन्न किया।

आचार्य अर्चन में तल्लीन थे। उनकी छवि मनोहर थी। यह प्रतीत होता था, जैसे सदाशिव स्वयं शैल-सुता को अपने सम्मुख बिठा कर उन्हें विस्मय से देखते हुए उनकी आराधना कर रहे हों। यन्त्र जाग्रत प्रतीत होने लगा। शनैः शनैः यह आभास होने लगा कि जगज्जननी अपने भैरव-सहित और योगिनियों और देव-मण्डल से घिरी हुई सामने प्रदीप्तमान हैं।

मैंने अपने वाम भाग की ओर दृष्टि डाली। मेरी सहचरी के नेत्र बन्द थे। उसके मुख पर एक विलक्षण आभा थी। फिर उसने अर्द्ध-स्फुटित नेत्रों से मेरी ओर दृष्टिपात किया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मुझे पृथ्वी से आकाश की ओर उठा रही हो।

आचार्य ने आवरण-पूजन समाप्त किया। नैवेद्य दिया, पञ्च-बलि की और फिर जगदम्बा की आरती के लिए सबको खड़े होने का आदेश किया। मधुर स्वरों में श्लोकों का उच्चारण किया। उसके समाप्त होने पर हम दोनों को सम्बोधन किया—

'आयुष्मान्, अब तुम अपनी सह-धर्मिणी के साथ भुवन-मोहिनी की आराधना के अधिकारी बनो। यह बहुत ही दुर्लभ है और जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के सुफल से ही प्राप्त होती है। तुम दोनों इसके अधिकारी हो। वह तुम्हें संसार के बन्धनों से मुक्त कराएगी। यदि तुमने इसका यथा-विधि पालन किया, तो तुम्हें ओज, शौर्य और बल प्राप्त होगा। यह भोग और मोक्ष-प्रदायिनी है। दोनों ही साथ-साथ मिलेंगे।'

फिर आचार्य ने पहिले मुझे और मेरे पश्चात् मेरी सह-धर्मिणी को त्रैलोक्य-मोहिनी की आराधना में दीक्षित किया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे शरीर से अग्नि

संचारित हो गया, नाड़ियों में रक्त-प्रवाह की तीव्रता में वृद्धि हो गई, हृदय की शून्यता में किसी विलक्षण शक्ति का प्रवेश हो गया।

आचार्य ने पात्र-वन्दना आरम्भ की। इसके साथ-साथ महा-विद्याओं के ध्यान भी उच्चारण करते जाते थे। जिस समय उन्होंने अपनी मधुर वाणी में शक्ति-पात्र की वन्दना स-स्वर उच्चारण की, तो ऐसा लगा जैसे स्वयं जगन्मोहिनी यन्त्र से उठकर उन्हें कौतूहल-पूर्ण दृष्टि से देख रही हो :—

सर्वानन्द - करं सदा - शिव - पदं सर्वार्थ-सम्पत्-करम्।
साम्राज्यार्थ-करं समस्त-सुखदं चाज्ञान-विध्वंसनम्॥
आयुः-कीर्ति-यशो-विवर्द्धन-करं संसार-मोह-च्छिदम्।
पात्रं लक्ष - गुणात्मकं च नवमं प्रौढ़-प्रतापं भजे॥

फिर सदा-शिव के ध्यान ने तो मानो कैलास-शिखर पर ही पहुँचा दिया :—

देवं नाग-निबद्ध-सुन्दर-जटां हस्तैः कृपाणाभये।
बिभ्राणं त्रिशिखं वरं त्रि-नयनं सस्मेर-पञ्चाननं॥
सु-श्वेतं सरसीरुहोपरि - गतं चर्माम्बराडम्बरम्।
शम्भोः पात्रमहं ददामि सुधया चैकादशं पूरितं॥

वन्दना समाप्त हो गई। आचार्य कुछ क्षणों के लिए ध्यान-मग्न हो गए। वेद-पाठी भी नेत्रों को बन्द किए अन्तर्मुखी बने हुए थे। मैंने अपने वाम की ओर अपनी सहचरी पर दृष्टि डाली। उसकी छटा विलक्षण थी। वह मेरी ओर अधखुले नेत्रों से देखने लगी। उसका भाव प्रेम-रस और करुणा से परिपूर्ण था। उसके मुख पर मन्द मुस्कान थी। वह बोली नहीं, परन्तु ऐसा लगा, जैसे संकेत कर रही है कि अब जो भी विघ्न तेरे सामने आएँ, उनसे निर्भय होकर आगे बढ़। मैं तेरे साथ हूँ और मैं ही सदैव तेरी रक्षा करूँगी। मैं भी उसकी ओर देखता रहा।

आचार्य ने अपने चक्षुओं को खोला। फिर बोले—'आयुष्मान्! आज मेरी अभिलाषा की पूर्ति हुई। पाँच वर्ष पूर्व जब मैं तुमसे प्रथम बार मिला, तभी मुझको इसका आभास हो गया था कि तुम इस मार्ग पर चलने के अधिकारी हो। यह विद्या प्राचीन मर्यादा के अनुसार कानों-कान ही चलती है। मुझे भी इसको आगे बढ़ाना था। इन पाँच वर्षों में मैंने तुम्हें इसका पात्र बनाया। आज तुम दोनों को मैंने अपना सब कुछ दे दिया। मैंने स्वयं बहुत कुछ सोचा था। और कुछ किया भी—जो कार्य अपूर्ण रह गये हैं, उनकी पूर्ति तुम्हारे ही द्वारा होगी। तुम्हें देवता बनकर ही, देवता की आराधना करनी है। इसके लिए तुम्हें चेष्टाएँ करनी पड़ेंगी। तुम्हारे सामने अनेक विघ्न और बाधाएँ आएँगी, परन्तु तुम्हारी शक्ति तुम्हारे साथ है। वह सदैव ही तुम्हारी रक्षा करेगी। अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि तुम सांसारिक बन्धनों से विरक्त हो जाओ और यह मार्ग भी निवृत्ति का ही है परन्तु मैं नहीं चाहूँगा कि तुम वर्षों तक उस स्थिति में पहुँचो। सम्भवतः तुम्हारे द्वारा बहुत कार्य होंगे और उसके लिए यह आवश्यक ही है कि तुम

विरक्त भाव रखते हुए भी संसार के प्रपंचों से दूर न रहो। अम्बिका को मैंने तुम्हारे हृदय में स्थापित कर दिया है। वे ही अब भविष्य में तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेंगी। मेरे आशीर्वाद तो तुम दोनों के साथ सर्वदा रहेंगे ही।'

इतना कह कर आचार्य चुप हो गए। 'देवता' का शब्द सुनकर मैं विचार-सागर में पड़ गया, परन्तु अब वह उतना भयावह प्रतीत नहीं हुआ, जितना पहिले लगता था।

आचार्य ने शान्ति-स्तोत्र पढ़ कर पूजन का विसर्जन किया। फिर भी 'देवता' का शब्द मेरे कानों में गूंज रहा था।

× × ×

उस निशा को भी वर्षों हो गए, जिसमें आचार्य ने मुझे महा-शक्ति की गोपनीय साधना में प्रवेश कराया था। इस बीते काल में बहुत कुछ सामने आया और बहुत कुछ झेला। यह अवश्य है कि मैं मार्ग पर निरन्तर बढ़ता रहा हूँ, चाहे वह कितना ही दुर्गम और कांटों से भरा रहा हो। अब भी देवत्व की खोज है। उससे कितनी दूर हूँ, यह नहीं कह सकता।

•

'....शाक्तधर्म के सम्बन्ध में गृहस्थ और संन्यासी साधु किस तरह गुप्त रीति से लोगों में उपासना का भाव जाग्रत करते आ रहे हैं, यह बहुत कम लोग जानते हैं। एक संन्यासी ने कुल-धर्म का प्रचार किस प्रकार किया, और धर्म-परायण गृहस्थों का सहयोग उसे किस प्रकार मिलता गया—इसी बात का परिचय 'धर्ममार्ग पर' में रोचक ढंग से दिया गया है। इस कथा से पाठकों को यह ज्ञात होगा कि कितनी निःस्पृहता और निष्ठा के साथ शाक्त-साधना के मर्मज्ञ महानुभाव अपने कर्तव्य का पालन करने में लगे रहे हैं।...'

'धर्म-मार्ग पर', परिचय, पृष्ठ १

पूज्य गुरुदेव : श्री शुक्ल जी

□ श्री महेशचन्द्र गर्ग

सन् १९३९ की बात है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के प्राङ्गण में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। मैं इलाहाबाद से उसे देखने गया था। वहीं मेरे पार्श्व में एक सज्जन बैठे थे—खादी की धोती, जो मुश्किल से घुटनों तक पहुँचती थी; खादी का ढीला-ढाला पुरानी तर्ज का कलीदार कुरता, सिर पर दुपल्लू टोपी, छोटा-सा डण्डा, छाता और पान-सुरती का बटुआ। माथे पर रोली का नाद-विन्द्वात्मक तिलक, पान की सुरखी से रञ्जित अधर, हृष्ट-पुष्ट शरीर और मुख-मण्डल पर सहज सारल्य की दिव्य आभा! उस व्यक्तित्व ने मुझे आकृष्ट किया, पर मैं न जानता था कि वे कौन हैं। इतने में ही मञ्च पर बैठे हुए कुछ व्यक्तियों ने पुकारा—शुक्ल जी! शुक्ल जी! यहाँ आइए। मञ्च पर आइए!

शुक्ल जी ने सङ्कोच से कई बार मना किया और चाहा कि वे वहीं बैठे रहें, किंतु लोग न माने और दो-तीन व्यक्तियों ने स्वयं आकर उन्हें अनुरोधपूर्वक ले जाकर मञ्च पर बिठा दिया।

मैं चकित था कि प्रकट में इतना सीधा और देहाती-जैसा दीखनेवाला यह कौन विशिष्ट व्यक्ति है, जिसे हिन्दी के गण्य-मान्य विद्वान् जानते ही नहीं, इतना आदर भी देते हैं। मैंने पास बैठे हुए एक सज्जन से पूछा—महाशय जी, क्या आप जानते हैं, ये कौन हैं?

उन्होंने कहा—अरे, आप इनको नहीं जानते? ये हिन्दी की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक **पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल** हैं।

सन् १९४० में मैं काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के खोज-विभाग में साहित्यान्वेषक के पद पर नियुक्त हुआ और उसी सिलसिले में इलाहाबाद जिले में हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज के लिए आया। यह कार्य श्री शुक्ल जी की ही देख-रेख में करना था। अतः उनके निकटतर होने का अवसर मुझे अनायास ही प्राप्त हो गया, जिसका फल मेरे लिए ही नहीं वरन् परलोक के लिए भी परम हितकर हुआ।

एक बार मैं उनके पास इण्डियन प्रेस में बैठा था। शुक्ल जी बोले— बड़ी प्यास लगी है।

मैंने कहा—महाराज, मैं आपके लिए जल लाता हूँ।

उन्होंने कहा—मैं तुम्हारे हाथ का जल नहीं पिऊँगा।

मैं आश्चर्य से बोला—क्यों महाराज? मैं कोई चमार-पासी तो नहीं हूँ, अग्रवाल हूँ।

वे बोले—इससे क्या हुआ! आप दीक्षित तो नहीं हैं और मैं अदीक्षित अग्रवाल तो क्या, ब्राह्मण के हाथ का भी पानी नहीं पी सकता।

मैं अवाक् रह गया। उस समय नहीं जानता था कि 'दीक्षा' किसे कहते हैं। पर अवश्य ही वह शब्द बीज-रूप से मेरे कान में पड़ा और धीरे-धीरे कुछ ही वर्षों में विशाल वट-वृक्ष बन गया। प्रायः दस वर्ष के बाद उन्हीं पूजनीय शुक्ल जी ने मुझे अपने श्रीचरणों में स्थान दिया और सब कुछ देकर मुझे कृतार्थ कर दिया। इस जीवन में तो क्या, अनेक जीवन में भी मैं उनके ऋण से उऋण नहीं हो सकता।

पत्रात्मक संस्मरण

रायगढ़ (म० प्र०)
१७-१०-८६

मान्यवर,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में पुस्तक-प्रणयन की योजना बना रहे हैं। मैं सफलता की शुभ कामना करता हूँ।

आपका
मुकुटधर पाण्डेय

× × × ×

पटना, १५-१२-८६

सादरं प्रणतयः।

आदरणीय शुक्ल जी, आपका परिपत्र प्राप्त हुआ। पत्रकार-वरेण्य पं० देवीदत्त जी शुक्ल का नाम साहित्य-जगत् के अंगुलि-गण्य साहित्यकारों में पांक्तेय है। आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के बाद 'सरस्वती' के पोत-ध्वज-वाहकों में, निश्चय ही, शुक्ल जी का अग्रणी स्थान है।

साहित्य के ऐसे शलाका-पुरुषों के लिए स्मृति-ग्रन्थ, या फिर जीवित रहने पर अभिनन्दन-ग्रन्थ निकालने की परम्परा तो रही ही है, किन्तु उनकी ग्रन्थावली या रचनावली निकालने की परिपाटी का अनुसरण बहुत कम ही लोग कर पाते हैं। मैं चाहता हूँ, आप पुण्य-श्लोक शुक्ल जी की रचनावली या ग्रन्थावली निकालें, ताकि उनकी ज्ञात-अज्ञात-विस्मृत रचनाओं को पुनरुज्जीवन मिले। उनकी रचनाएँ या सम्पादकीय टिप्पणियाँ आज भी प्रासंगिक हैं।

ससद्भाव
श्रीरंजन सूरिदेव

× × × ×

नई दिल्ली
१५ दिसम्बर, १९८६

प्रिय श्री,

यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री देवीदत्त शुक्ल के ऊपर 'श्रद्धांजलि-ग्रन्थ' निकल रहा है। मेरा स्वास्थ्य बहुत खराब है। इसलिए उनके ऊपर कुछ लिखना मेरे लिए संभव न हो सकेगा। कृपया क्षमा करें। उनको मेरी श्रद्धांजलि।

भवदीय
हरिवंशराय बच्चन

वाराणसी

प्रिय शुक्ल जी, १७-१२-१९८६

आपका पत्र मिला। स्व० पं० देवीदत्त शुक्ल जी के अवदान से मैं भली-भाँति परिचित हूँ और आप उनकी पुण्य-स्मृति में एक ग्रन्थ तैयार कर रहे हैं, यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। इस सत्प्रयत्न के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ।

आपका

विद्यानिवास मिश्र

× × × ×

प्रिय शुक्ल जी, वाराणसी

सप्रेम नमस्कार। २९-१२-८६

यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आप अपने पूज्य पिताजी के संबंध में संस्मरणों तथा लेखों को प्रकाशित कर रहे हैं। आज की पीढ़ी के 'सुपुत्र' अपने पूर्वजों तथा पिता की कीर्ति को भूलते तथा भुलाते जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में यह आपका पवित्र साहित्यिक यज्ञ अत्यन्त प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है।

पं० देवीदत्त जी शुक्ल के अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात्, मेरा सुझाव यह है कि यदि आप 'सरस्वती' में लिखे गये उनके सम्पादकीय लेखों को भी प्रकाशित कर लें, अत्यन्त समीचीन होगा। शुक्ल जी ने अपने दीर्घ-कालीन सम्पादन के युग में सैंकड़ों सम्पादकीय लेख 'सरस्वती' में लिखे होंगे। उन लेखों का प्रकाशन अत्यन्त उपयोगी तथा स्पृहणीय होगा।

आपका

कृष्णदेव उपाध्याय

× × × ×

नई दिल्ली

प्रिय शुक्ल जी, ३१ दिसम्बर १९८६

आपके हस्ताक्षर का "विशेष निवेदन" परिपत्र मिला, जिसमें आपने स्वर्गीय पं० देवीदत्त शुक्ल के सम्मानार्थ एक स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित करने की बात लिखी है। विचार सर्वथा श्रेयस्कर है। मुझे आपके प्रस्ताव की जानकारी से बड़ी प्रसन्नता हुई है। अतः मैं आपके निश्चय का स्वागत करता हूँ और उसकी सम्पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।

शुभाकांक्षी

उमाशंकर दीक्षित

× × × ×

सागर

आदरणीय पं० शुक्ल जी, ५ जनवरी, १९८७

आपके पूज्य पिताजी के विषय में सबसे पहले सन् १९७३ में मुझे अपने अभिन्न मित्र स्वामी अगेहानन्द भारती से ज्ञात हुआ था। उसके उपरांत, संभवतः सन् १९७५ में माननीय न्यायमूर्ति पंडित शिवनाथ जी काटजू के संपर्क में आने पर

पता चला कि आपके पितृश्री ही तो उनके दीक्षा-गुरु रहे। इस बीच जो थोड़ा-बहुत तांत्रिक परंपरा के विषय में अध्ययन किया, उसमें प्रायः उनका पुण्य स्मरण एवं सादर उल्लेख पढ़ने को मिलता रहा।

भवदीय
समरेन्द्र सराफ

× × × ×

नई दिल्ली
१० जनवरी, १९८७

प्रिय शुक्ल जी,

आपका पत्र मिला। श्रद्धेय पं० देवीदत्त जी शुक्ल का नाम बरसों 'सरस्वती' के संपादक के रूप में बचपन से ही देखता आ रहा था और जब तक पत्रिका रही, उनसे एक दूर का और मौन आदर-संबंध बना रहा। आप उनके प्रति श्रद्धा-सुमन के रूप में एक स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं, यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई। बार-बार मन में यह भाव उठ रहा है कि 'सरस्वती' जैसे पत्रिकाएँ और उन जैसे सम्पादक अब क्यों नहीं मिलते!

विनीत
भाई महावीर

× × × ×

नई दिल्ली
१६-१-८७

प्रियवर,

पं० देवीदत्त शुक्ल की साहित्य एवं पत्रकारिता को दी गई सेवाओं से सभी भली-भाँति परिचित हैं। उस समय जब साहित्य की विविध गतिविधियाँ इतनी व्यापक नहीं थीं, शुक्ल जी ने उन्हें गरिमा-मय बनाया। उनका स्मृति-ग्रंथ निकले और उनके अनुरूप समृद्धता से निकले।

आपका
अक्षयकुमार जैन

× × × ×

कानपुर
३०-१-१९८७

प्रिय श्री शुक्ल जी,

मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि आप स्व० पं० देवीदत्त शुक्ल के स्मृति-ग्रंथ-प्रकाशन की योजना कर रहे हैं। स्व० शुक्ल जी हिन्दी के उन इने-गिने संपादकों की कोटि में आते हैं, जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश हिन्दी-पत्र-संपादन हेतु समर्पित तो किया परन्तु इस समर्पण के पीछे कोई व्यावसायिक दृष्टि नहीं रखी। अपनी इस लम्बी पत्र-सम्पादन-साधना को प्रति-पल वे अपने दृढ़-गंभीर-निष्पक्ष एवं बीतरागी व्यक्तित्व से उत्तरोत्तर सशक्त बनाते रहे।

बहुत समय पहले की बात है, मैं उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद् की पाठ्य-क्रम समिति की बैठक में सम्मिलित होने इलाहाबाद गया था। वहाँ पंडित देवीप्रसाद शुक्ल (भगवन) के आवास—हिन्दू बोर्डिंग हाउस—पर ही मेरी स्व० शुक्ल जी से भेंट हुई थी। इस अल्प-कालिक भेंट में एक चरित्रवान्, भारतीय संस्कृति के प्रति

आस्थावान्, हिन्दी-भाषा के दृढ़ पक्ष-धर और स्पष्ट-वादी पत्रकार-संपादक की जो झलक मैंने उनमें पाई थी, उससे मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उनसे बात कर मुझे यह विश्वास हो गया था कि शुक्ल जी के व्यक्तित्व में वह आकर्षण है कि इंडियन प्रेस का कोई अधिकारी अथवा कर्मचारी उनसे असन्तुष्ट नहीं रह सकता। स्वभाव में मृदु और व्यक्तित्व में गंभीर स्व० शुक्ल जी मैं अपनी कटु-तम आलोचना को भी अत्यन्त सहज भाव से स्वीकार करने का अद्‌भुत गुण था। उनके मन में हिन्दी-पत्रकारिता को उन्नत शिखर तक पहुँचाने की उत्कट लालसा थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे महारथी की कृपा और छाया स्व० शुक्ल जी पर रही। इंडियन प्रेस के प्रबंधक इनके उदात्त गुणों के कारण इनसे सदैव ही प्रसन्न और सन्तुष्ट रहे।

भवदीय

अयोध्यानाथ शर्मा

× × × ×

प्रिय रमादत्त जी,

भोपाल

सप्रेम नमस्कार।

१०-२-८७

... पूज्य देवीदत्त जी शुक्ल ने महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के सम्पादन-काल और उसके बाद भी 'सरस्वती' का जिस योग्यता और युग-प्रवृत्तियों के अनुरूप सम्पादन किया था, यह साहित्य-प्रेमियों से छिपा नहीं है। उन्होंने वह युग भी देखा, जब कविता ब्रज की बोली बोलती थी, उन्होंने वह युग भी देखा, जब 'सरस्वती' के माध्यम से कविता खड़ी बोली बोलने लगी थी। शुक्ल जी वाद-ग्रस्त नहीं थे, वे कृति का गुण (मेरिट) के आधार पर 'सरस्वती' में स्वागत करते थे। उन्होंने तन्त्र-मन्त्र का वैज्ञानिक आधार खोजा। यदि उनके सम्पादन-काल की 'सरस्वती' की टिप्पणियों का संग्रह कर प्रकाशित किया जाय, तो हिन्दी-साहित्य के इतिहास के वे पृष्ठ प्रकाश में आएँगे—वे हिन्दी-सेवी उजागर होंगे, जिन्हें भूलने में ही सुख पाती है जग की काली स्याही!

आपका

विनयमोहन शर्मा

× × × ×

जबलपुर

श्री शुक्ल जी,

२७-२-८७

....स्व० शुक्ल जी से मेरा व्यक्तिगत संबंध तो विशेष नहीं रहा, कई बार 'सरस्वती-कार्यालय' ही में मिला!....मैंने एक पत्रकार और साहित्यकार के नाते उन्हें समझने की बराबर कोशिश की। पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने केवल 'सरस्वती' में ही नहीं, जो कुछ लिखा, उसमें स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की परम्पराओं को बराबर कायम रखा। द्विवेदी जी की भाँति वे भी भाषा की शुद्धता पर विशेष ध्यान देते थे, जबकि आजकल के पत्रकार भाषा की शुद्धता अनिवार्य नहीं मानते। शुक्ल जी ने अपनी लेखनी से केवल पत्रकारिता का ही गौरव नहीं बढ़ाया

वरन् अन्य विषयों पर भी बहुत कुछ लिखा और आज के पत्रकारों एवं साहित्यकारों के लिए आदर्श छोड़ गए हैं। उनका अध्ययन व्यापक और साधना-रत था। सादा जीवन उनका लक्ष्य था।

भवदीय
कालिकाप्रसाद दीक्षित
('कुसुमाकर')

× × × ×

प्रिय श्री शुक्ल,

नई दिल्ली २३-३-१९८७

....हिन्दी साहित्य की जो सेवा पं० देवीदत्त जी ने की है, उसे कौन भूल सकता है ? 'सरस्वती' का २७ वर्षों तक सम्पादन करना कोई कम चुनौती का कार्य नहीं था। साहित्य-प्रेम की उनकी ललक को कौन याद न रखेगा ? प्रज्ञा-चक्षु होने पर बोल-बोलकर ग्रन्थ लिखवाना कोई सरल कार्य नहीं है। उन्होंने न केवल स्वयं हिन्दी-साहित्य की सेवा की बल्कि नए-नए साहित्यकारों को निखारा, बनाया और जनता के सामने लाए। स्व० पं० देवीदत्त शुक्ल जैसे साहित्य-तपस्वी बिरले ही मिलेंगे।

आपका
हेमवतीनन्दन बहुगुणा

× × × ×

नई दिल्ली
२९-४-८७

'सरस्वती' पत्रिका ने हिन्दी-भाषा और साहित्य के सारस्वत अनुष्ठान में ऐतिहासिक भूमिका निबाही है और स्व० पं० देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' की परम्परा को निबाहने में सर्वाधिक योगदान दिया है। जब-जब मैं प्रयाग जाता, तब-तब शुक्ल जी के दर्शन अवश्य करता था। बड़े आत्मीय भाव से मिलते थे। साहित्य-मना तो थे ही, हिन्दी हित-संवर्धन में भी सतत प्रयत्नशील रहते थे। उनकी शताब्दी पर मेरी शत-शत प्रणामांजलि।

—गोपालप्रसाद व्यास

× × × ×

नयी दिल्ली
६-५-८७

प्रिय शुक्ल जी,

...मैं पं० देवीदत्त शुक्ल जी को 'सरस्वती' पत्रिका के ऐतिहासिक सम्पादक के रूप में जानता हूँ, जिन्होंने अपने नेत्र की ज्योति और सब कुछ हिन्दी माँ की सेवा में समर्पित कर दिया। ऐसे महापुरुष का स्मरण कर हम हिन्दी साहित्य को मान दे रहे हैं।

—रत्नाकर पाण्डेय

× × × ×

लखनऊ
८ अप्रैल, १९८७

प्रिय शुक्ल जी,

हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वतंत्रता-पूर्व का युग क्रांतिकारी और बहु-आयामी रहा है। इस शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक हिन्दी गद्य के विकास के

लिये विशेष महत्त्व के हैं। साहित्यकार और सम्पादक के रूप में स्व० देवीदत्त जी शुक्ल का हिन्दी को योग-दान सदैव स्मरणीय रहेगा।

आपका
भवानीशंकर शुक्ल

× × × ×

सीतामऊ (मालवा)
४ मई, १९८७

वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में जब मैंने प्रथम बार हिन्दी में लेख लिखना प्रारंभ किया, तब प्रारंभ से ही मेरी यही इच्छा रही कि मेरे लेख 'सरस्वती' में छपें, क्योंकि तब 'सरस्वती' हिन्दी की सर्व-श्रेठ पत्रिका मानी जाती थी। अतएव जब मैंने प्रथम बार 'सरस्वती' से संपर्क साधा, तब सुविख्यात साहित्यकार स्वर्गीय श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी उसके सम्पादक थे परन्तु अपनी अस्वस्थता के कारण सन् १९३० में वे प्रयाग से चले गए और तब 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य पं० श्री देवीदत्त शुक्ल ने संभाला। तदनन्तर मेरे लेखक-जीवन के उन प्रारंभिक वर्षों में वे मुझे निरन्तर प्रेरित करते रहे और मेरे लेखों को 'सरस्वती' में प्रकाशित करते रहे। इस प्रकार अपने लेखक-जीवन के प्रारंभिक दशकों में मेरी सहायता कर मुझे आगे बढ़ाने में उन्होंने जो विशिष्ट भूमिका अदा की थी, उसके लिए आज भी मैं उनका बहुत आभारी हूँ।

— रघुवीर सिंह

× × × ×

अहमदाबाद
५ मई, १९८७

स्नेही श्री रमादत्त शुक्ल जी,

'सरस्वती' जैसी एक महिमावती मासिक-पत्रिका के भूतपूर्व सम्पादक स्व० पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल का स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित होगा, यह जानकर संतोष हुआ कि हम अपने पूर्वजों का कुछ ऋण अदा कर रहे हैं। हम 'सरस्वती' के प्रभावशाली सम्पादकों से प्रेरणा लेकर साहित्य के वायु-मण्डल को इतना शुद्ध और प्राणवन्त रखने में लगे रहें कि साहित्य-संस्कार का उत्तम रूप से संवर्धन और विकास होता रहे और नई-नई प्रतिभा का उदय हो।

आपका
उमाशंकर जोशी

× × × ×

नई गढ़ी
१९-५-८७

प्रिय महोदय,

स्व० पं० देवीदत्त शुक्ल एक अत्यन्त सहृदय एवं स्नेह-सिक्त व्यक्ति थे। वे हमारे पिता स्व० ठाकुर गोपालशरण सिंह के घनिष्ठ मित्र थे। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, शुक्ल जी से अधिक घनिष्ठ मित्र पिताजी का कोई नहीं था। एक शुक्ल जी ही थे, जो हमारे पिता को आधा नाम लेकर सम्बोधन करते थे—'का हो! गोपालशरण! अच्छी तरह तो हो?'

एक बार मैं बरसात में उदर-विकार से अत्यन्त पीड़ित घर में, प्रयाग में पड़ा था। पतली टट्टियाँ बराबर आती रहीं। शुक्ल जी मेरे भाग्य से मेरे घर आए और मेरी दशा को देखते ही पिताजी से कहा—'का हो गोपालशरण ! ई, बेटवा की क्या दशा कर दी है !' पिताजी ने रोग का विवरण दिया व कहा कि प्रयाग के सभी बड़े एलोपैथी के डाक्टर ठीक नहीं कर पाये। शुक्ल जी तुरन्त उठ खड़े हुए और कहा—'गोपालशरण ! तोहरे थौरो सहूर नहीं है। एलोपैथ इस बीमारी को कैसे ठीक कर सकते हैं ? मोटर निकाला, हम दवाई देव।' वे मोटर से गए—तीन पुड़िया दवा की लाकर दिया, सरसों जैसी छोटी गोलियाँ थीं। तीन दिन में ही मैं स्वस्थ हो गया। ....मेरी कविता उन्होंने सुनी, बड़े प्रसन्न हुए। एक कविता को लेकर 'सरस्वती' के अंक में पृष्ठांक पर सचित्र प्रकाशित किया। —सोमेश्वर सिंह

× × × ×

जबलपुर

प्रिय रमादत्त जी, २०-५-८७

....द्विवेदी-युग से ही मैं 'सरस्वती' पत्रिका से संबंधित रहा। मुझे द्विवेदी जी का स्नेह प्राप्त रहा। उनके बाद पं० देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया। मैं कई बार उनसे मिला करता था, तब 'सरस्वती' एवं हिन्दी साहित्य पर चर्चा होती थी। आँखों की ज्योति कम हो जाने पर भी शुक्ल जी बराबर अपने कार्य में निरत रहते थे। साहित्य और सम्पादन-कला में उन्होंने दक्षता प्राप्त कर ली थी। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों में साहित्य की नई दिशा के दर्शन होते थे। उस समय का युग खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने का था। द्विवेदी जी के समान उन्होंने भी खड़ी बोली की कविताओं को 'सरस्वती' में देकर प्रोत्साहित किया। द्विवेदी जी की परम्परा में शुक्ल जी का स्थान अमर रहेगा। आपका

व्योहार राजेन्द्र सिंह

× × × ×

लखनऊ

प्रियवर, २०-५-८७

'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक पं० देवीदत्त जी शुक्ल हिन्दी के एक सच्ची लगन के कर्मठ और मूक साहित्य-सेवी थे। अंत में उन्होंने अपनी आँखें भी इस सेवा में चढ़ा दीं।...उन्होंने मेरी कुछ रचनाएँ 'सरस्वती' में छाप दी थीं। उसी पत्र-व्यवहार में मेरा उनकी सज्जनता से परिचय हुआ था। अब अपने सर्वांगीण विकास में द्रुतपग से अग्रसर होती हुई राष्ट्र-भाषा के आरंभिक दिनों में जिन साहित्य-साधकों ने बिना किसी प्रतिष्ठा और पुरस्कार के प्रलोभ के, उसके विकास और प्रचार में अपना जीवन समर्पित किया है, उनकी स्मृति पूजनीय है। मैं भी उनकी तपस्याओं को श्रद्धा के फूल चढ़ाता हूँ। —गोविन्दवल्लभ पंत

× × × ×

कलकत्ता

प्रिय रमादत्त जी, २४-५-८७

स्व० पं० देवीदत्त जी शुक्ल मेरे पिताजी के मित्रों में थे ।'सरस्वती' के सम्पादन के द्वारा उन्होंने हिन्दी की विशिष्ट सेवा की है । उनकी पावन स्मृति को मैं सश्रद्ध नमन करता हूँ ।

शुभेच्छु

विष्णुकान्त शास्त्री

× × × ×

दतिया (म० प्र०)

आदरणीय शुक्ल जी, २६-६-८६

श्री पीताम्बरा पीठ के अधिष्ठाता पूज्यपाद स्वामी जी महाराज पं० देवीदत्त जी शुक्ल को बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखते थे । पूज्यपाद श्री शुक्ल जी को तन्त्र-विद्या के अद्वितीय विद्वान् मानते थे ! सन् १९५५ में जब मैं प्रयाग जा रहा था, तो गुरु जी ने आज्ञा दी थी कि आदरणीय शुक्ल जी से जरूर मिलते आना । आज्ञानुसार मैंने शुक्ल जी का दर्शन किया । जब मैंने अपना परिचय दिया, पीताम्बरा-पीठ से आया हूँ—यह बतलाया, तो आदरणीय शुक्ल जी बहुत प्रसन्न हुए ।

उन्होंने पूछा कि 'तुम्हें किस देवता के मन्त्र की दीक्षा मिली है ?' मैंने कहा—'भगवती पीताम्बरा का मन्त्र मुझे गुरु जी ने दिया है । उसी का जप करता हूँ ।' उनका दूसरा प्रश्न था कि 'तुम कारण लेते हो कि नहीं ?' मैंने कहा कि 'कारण तो मैं नहीं लेता ।' इस पर वे कड़क कर बोले कि 'सूखी माला रगड़ने से क्या फायदा ? खूब पिओ । खूब मन्त्र जपो, तब भगवती की कृपा प्राप्त कर सकोगे ।'

मैंने कहा कि 'पण्डित जी, मेरा काम तो सब हो जाता है और माई कृपा करती हैं ।' उन्होंने उत्तर दिया—'तुम्हारा काम गुरु की कृपा से होता है । तुम्हारे जप करने से नहीं । तुम विधान-सभा के सदस्य भी गुरु-कृपा से चुने गये हो । तुम्हारी माला के रगड़ने से कुछ नहीं होता ।'

मैं जब तक बैठा रहा; वे शाक्त-साधना पर अपना उपदेश देते रहे । उनके व्यक्तित्व में अद्भुत आकर्षण था और वाणी में प्रभाव था । भारतवर्ष के माने हुए साहित्यकार थे । उनके निधन का समाचार सुनकर गुरु जी ने कहा था कि 'आज पृथिवी से बहुत बड़ा शाक्त उठ गया है ।' वीत-राग संन्यासी होते हुए भी उनके निधन का समाचार सुनकर पूज्य-पाद विचलित हो उठे थे ।

भवदीय

सूर्यदेव शर्मा